कबीर-ग्रंथावली की भाषा

ज्ञान भारती प्रकाशन

कबीर-ग्रंथावली की भाषा

Kabir - Granthawli kee Basha

डा० विन्दुमाधव मिश्र

Dr. Vindumadhav Mishra

Gyan Bharti Prakash Delhi

ज्ञान भारती प्रकाशन

दिल्ली-७

निवेदन

भाषा के क्षेत्र में वैसे तो सदैव कुछ न कुछ नया घटता रहता है किन्तु दो स्थितियों के बीच संक्रान्ति काल का विशेष महत्त्व है। पुरानी और मध्यकालीन काव्य-भाषा के संदर्भ में कबीर इसी संक्रान्ति की सूचना देते हैं। इस दृष्टि से कबीर की भाषा के अध्ययन का महत्त्व निर्विवाद है किन्तु इसी हद तक मध्य-कालीन साहित्य में कबीर की भाषा सर्वाधिक विवाद का भी विषय रही है। साहित्य के अध्येता इस से परिचित हैं कि बड़े और छोटे कितने ही लेखकों ने इस संबंध में अलग मत स्थिर किये हैं और मान्य एक भी नहीं हो सका है। प्रस्तुत पुस्तक इस दिशा में एक लघु प्रयास जिसमें मध्यकालीन काव्य-भाषा की सापेक्षता में कबीर की भाषा का अध्ययन किया गया है।

वास्तव में हुआ यह है कि अब तक विद्धानों ने अपनी रुचि और पूर्व-ग्रहों के अनुसार कबीर की भाषा का सीमित परीक्षण किया है। कहीं तो महज़ प्रशंसात्मक अभिव्यक्ति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं मिलता कि कबीर का भाषा पर 'ज़बरदस्त अधिकार' था या ये 'वाणी के डिक्टेटर' थे। कुछ विद्धानों ने उपलब्ध पाठ की यथातथ्य भाषा की व्यर्थता सिद्ध किये बिना इसे नकार का मूल बोली या कथ्य रूप का अनुमान कर लिया है। इस मूलाधार बोली की खोज आगे दो-एक शोध कार्यों में भी हुई है। यह मौलिक भ्रान्ति है कि कवि अपनी रचना मातृभाषा में ही करता है। लोक और साहित्य भाषा की दो स्वतन्त्र सरणियाँ हैं। शैली, शब्द-समूह और वाक्यगठन के अतिरिक्त इनमें व्यापकता का भी पर्याप्त अन्तर है। लोकप्रवाह विशेषतः क्षेत्रीय होता है जबकि काव्यप्रवाह प्रायः सार्वदेशिक। इस दृष्टि से आचार्य शुक्ल और चाटुर्ज्या के मत विशेष सतर्कता पूर्वक स्थिर किये गये हैं जो वस्तु-स्थित का परिज्ञान कराने में आख़ीर तक सहायक होते हैं।

कबीर की भाषा काव्यप्रवाह की एक विशिष्ट धारा है, इस हाईपोथीसिस से यह अध्ययन शुरू होता है। इसमें तुलनात्मक-ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण किया गया है। पाठाश्रित भाषा उच्चरित रूप के अभाव में विवरणात्मक

अध्ययन का विषय नहीं बन सकती। विशेष रूप से उसकी ध्वनिसंघटना पदरचना का अध्ययन भी तुलना और विकास निरपेक्ष ढंग का होने पर प्रयोजनीयता से रिक्त होगा। इस अध्ययन में नागरी प्रचारिणी सभा, काशी में सुरक्षित सं १५६१ के बहुचर्चित हस्तलेख को आधार स्वीकार किया गया है जिसका प्रकाशित रूप डा० श्यामसुंदर दास द्वारा सम्पादित कबीर-ग्रंथावली है। इस पाठ को ग्रहण करने के कारण भूमिका में विस्तार से दिये गये हैं।

मूलत: यह प्रबन्ध सन् १९६४ में उपाधि के लिये स्वीकृत हुआ था। तब से आगे तीन अन्य कार्य हुए हैं—दो शोध और एक स्वतंत्र। आधार पाठ और पद्धति दोनों में अन्तर होने के कारण इस पुस्तक के प्रकाशन से पूर्ववर्ती होते हुए भी इनकी परीक्षा अनपेक्षित होगी। हाँ, इनके निष्कर्षों पर अवश्य ध्यान दिया जा सकता है। इनमें एक सज्जन कबीर की भाषा की बहुवैभाषिकता की चर्चा के बाद ठहर गये हैं जबकि अन्य दो बन्धुओं ने आगे बढ़कर 'मूलाधार-बोली' खोजना चाहा है। बहुवैभाषिकता महत्त्वपूर्ण तथ्य है किन्तु ऐतिहासिक तुलनात्मक भाषाशास्त्र का क्षेत्र उसके कारण और युगीन संदर्भशीलता तक जाता है जिसे ढूँढ़ने का प्रयास इस पुस्तक में मिलेगा।

मूल प्रबंध दो भागों में है। पहला भाग यह पुस्तक है, दूसरा कबीर-ग्रन्थावली में प्रयुक्त शब्दों का व्युत्पत्ति कोश। इसमें लगभग पाँच हज़ार मूल शब्दों (रूट वोकेबुल्स) की व्युत्पत्ति, अर्थ, पदरचनात्मक रूप दिये गये हैं। सुविधा मिलने पर यह प्रकाशित होगा। फिलहाल पहला भाग पाठकों के सम्मुख है जिसके लिए ज्ञान भारती प्रकाशन धन्यवादार्ह है।

प्रबंध का निर्देशन डा० भोलाशंकर व्यास ने किया है। उनके प्रति मेरी प्रणति है जो उनके अनुग्रह का मूल्य क़तई नहीं बन सकती। न केवल उन के पाण्डित्य का मुझे अवलम्ब मिला, उनकी सहृदयता और स्नेह भी मेरा सम्बल रहा है।

श्यामलाल कालेज
दिल्ली-३२

विन्दुमाधव मिश्र

विषय सूची

भूमिका

१. कबीर की भाषा का महत्त्व

मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में कबीर की भाषा सर्वाधिक विवाद का विषय रही है। कालक्रम में कबीर की रचनाएँ पहली हैं जिनमें मध्यकालीन हिन्दी के प्रारम्भिक रूप का परिचय मिलना शुरू हो जाता है। डा० चाटुर्ज्या ने लिखा है कि मध्यकालीन वैष्णव भक्ति आन्दोलन ने प्राय: सभी न०भा०आ० भाषाओं को इतना प्रभावित किया है कि वे उत्तराधिकार से प्राप्त—संस्कृत > प्राकृत > अपभ्रंश > पुरानी न०भा०आ० वाली ध्वन्यात्मक संघटना और शब्दावली का पूरा पूरा परिचय नहीं दे पातीं अपितु भक्ति संबंधी नवीन विषय के प्रवर्त्तन से साहित्य में नए भावों और संवेदनाओं की अभिव्यक्ति के लिए संस्कृत से बड़े परिमाण में तत्सम और अर्धतत्सम शब्दावली के ग्रहण से भाषा के ढाँचे में आमूल परिवर्तन दिखाई देता है। एक दूसरा उपादान जो इस परिवर्तन में सहायक हुआ, विदेशी शब्द हैं। १२ वीं शती के आस-पास से मध्यदेश में मुसलमानों का राज्य स्थापित होने के साथ फ़ारसी-अरबी शब्दावली और साहित्यिक मान्यताओं का प्रभाव न०भा०आ० भाषाओं और उनके साहित्य पर पड़ना शुरू हो गया था। ये दोनों प्रकार के प्रभाव केवल साहित्य तक सीमित न रहे बल्कि जन-जीवन में भी भीतर तक पैंठे मिलते हैं जिनके कारण आज दिन बोल-चाल की भाषा तत्सम, अर्धतत्सम तथा विदेशी शब्दों से समृद्ध मिलती है। भाषा और साहित्य दोनों में ही आमूल परिवर्तन के चिह्न १५वीं शती में विद्यापति के समय से स्पष्ट रूप से मिलने लगते हैं लेकिन इनका सम्यक् संकेत कबीर की रचनाओं में ही सबसे पहले मिलता है। इस दृष्टि से कबीर की रचनाएँ भाषा और साहित्य के पुराने तथा नए दोनों रूपान्तरों का परिचय देती है। प्राचीन काल से साहित्यिक भाषा की जो परम्परा पश्चिमी प्राकृत—अपभ्रंश—पुरानी हिन्दी की चली आती थी जिसमें जैन चरित तथा पुराण काव्य, वज्रयानी सिद्धों तथा नाथयोगियों की रचनाएँ और प्राकृत पैंगलम् जैसे संग्रह ग्रंथ मिलते हैं, वह कबीर की रचनाओं में अपने

विकसित रूप में पूरी तरह सुरक्षित है साथ ही यहाँ नवागत संस्कृत की तत्सम और अर्धतत्सम शब्दावली तथा उसके फलस्वरूप ध्वनि संघटना में परिवर्तन के चिह्न भी मिलते हैं। इसी तरह नए और पुराने विषयों का संगम भी वज्रयानी तथा नाथयोगी विचारों और साधनापद्धति तथा वैष्णव भक्ति में देखा जा सकता है। विदेशी शब्दावली का पर्याप्त प्रभाव भी मिलता है जो कबीर से पूर्व केवल स्फुट रूप में प्राप्त है। इस प्रकार कबीर की रचनाएँ भाषा, साहित्य तथा बृहत्तर सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में संक्रान्ति का परिचय देती हैं।

कबीर की रचनाएँ भाषा संबंधी एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रस्तुत करती हैं। मध्यकालीन हिन्दी में अवधी, ब्रज आदि विभाषाओं का जो साहित्यक रूप उभर कर आया, वह कबीर के समय तक स्पष्ट न हो सका था। कबीर की भाषा का मूल ढाँचा शौरसेनी प्रसूत मध्यदेशीय भाषा का है जो ब्रज, पूर्वी राजस्थानी, खड़ीबोली और अवधी की सामूहिक विशेषताओं का परिचय देता है और इनमें कोई स्पष्ट भेदक रेखा नहीं खींची जा सकती। यह एक ओर भोजपुरी और दूसरी ओर पश्चिमी राजस्थानी तथा अपवाद रूप में गुजराती और पंजाबी के तत्त्वों से संवलित है। भाषागत विभिन्न तत्त्वों की स्थिति इसका संकेत है कि कबीर के समय तक साहित्यिक व्यवहार की भाषा में क्षेत्रीय भेद नहीं उत्पन्न हो सका था। आगे ज्यों-ज्यों हिन्दी की बोलियों-विभाषाओं का स्वरूप गठित होता रहा, वे साहित्यिक व्यवहार में प्रयुक्त होती रहीं। कबीर की भाषा का आगे चल कर द्विधा विकास होता है : तत्सम, अर्धतत्सम तथा क्षेत्रीय प्रवृत्ति सगुणोपासक भक्त कवियों की रचनाओं में आई और साहित्य भाषा की परम्परागत प्रवृति योग साधनापरक विशिष्टताओं से युक्त होकर सन्त कवियों में मिलती है। वैसे समय पाकर सन्तों की बानियाँ भी क्षेत्रीय और अर्धतत्सम प्रवृत्तियों का परिचय देने लगीं, जो अलग बात है।

२. कबीर का रचना काल

कबीर की भाषा का ऐतिहासिक अध्ययन करने में उनके रचना-काल का ज्ञान विशेष सहायक होगा। कबीर की जन्म-मृत्यु की तिथियाँ भले ही विवाद का विषय रही हों, उनके समय के बारे में मतान्तर प्रायः नहीं है। सं०

१४५० वि० से १५५० वि०तक सौ वर्ष का समय कबीर का समय अनुमानित किया जा सकता है। अब तक जिन विद्वानों ने कबीर पर लिखी आलोचनात्मक पुस्तकों में उनकी जिन जन्म-मृत्यु की तिथियों पर अन्तस्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य के आधार पर विचार किया है वे सभी सं० १४५० से १५५० के भीतर हैं अथवा कुछ इधर या उधर पड़ती हैं।[1] हमारा उद्देश्य इन तिथियों का पुनर्परीक्षण करना नहीं है बल्कि मोटे तौर पर कबीर का समय निश्चित कर लेना है जिससे यह पता लगाया जा सके कि कालक्रम में कग्रं० की भाषा विकास के जिस चरण का रूप प्रस्तुत करती है वह कबीर के अनुमानित रचना-काल की सापेक्षता में है या नहीं और यदि अन्तर है तो उसके सम्भाकारण क्या हैं?

यदि कबीर ने तीस वर्ष की आयु से रचना प्रारम्भ की और दीर्घायु होते हुए पचास वर्षों तक अनवरत रचना में लगे रहे तो प्रायः १४७५ वि० से १५२५ वि० तक का समय उनका रचना-काल अनुमानित किया जा सकता है।

---

१. (क) जन्म-तिथि

१. डा० श्यामसुन्दर दास—जेठ सुदी १५ सं० १४५६ वि०, क०ग्रं०, प्रस्तावना, पृ० १८

२. डा० रामकुमार वर्मा—जेठ सुदी १५ सं० १४५५ वि०, कबीर का रहस्यवाद, पृ० १७६

३. पं० परशुराम चतुर्वेदी—सं० १४२५ वि० उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० ७३३

४. डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल—सं० १४२७ वि०हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय, पृ० ५५

५. आचार्य क्षितिमोहन सेन—सं० १४५५ वि०, मिडिवल मिस्टसिज्म, पृ० ८८

६. डा० मोहन सिंह—सं० १४१७ वि०, और १४५५ के बीच (सम्भवतः १४३७), कबीर हिज़ बायोग्राफी, पृ० ४०

(शेष अगले पृष्ठ पर)

३. पाठ-निर्णय

कबीर की भाषा का अध्ययन करने के संकल्प के साथ कबीर के प्रामाणिक पाठ की समस्या जो प्रारम्भ (अगस्त, १९५९) में उठी थीं, वह दो बार पुन: उत्पन्न हुई जब प्रबन्ध लेखन अवधि में अक्तूबर, ६१ में डा० पारसनाथ तिवारी और प्रबन्ध स्वीकृत हो जाने के प्राय: पांच वर्ष बाद फरवरी, ६९ में डा० माता प्रसाद गुप्त के संपादित संस्करण आए। प्रारम्भ में पूर्ववर्ती लेखकों की पाठ विषयक सूचनाओं के अनुसार विभिन्न स्रोतों स प्राप्त कबीर की रचनाओं का विवेचन—विश्लेषण करके प्रस्तुत अध्ययन का आधार नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के संस्करण को वनाया गया। उक्त दोनों सम्पादनों की सूचनाओं के प्रकाश में पाठसमस्या पर नए सिरे से विचार करने पर मुझे

---

७. डा० रामप्रसाद त्रिपाठी—सं० १४१७ वि० और १४५१ के बीच, हिन्दुस्तानी भाग २ अंक २ पृष्ठ २०८-१५

(ख) मृत्यु-तिथि

१. डा० श्यामसुन्दर दास—सं० १५७५ वि०, कग्रं०, प्रस्तावना, पृ० २
२. डा० राम कुमार वर्मा—सं० १५५१ वि०, हिं०सा०आ०इ०, पृ० ३५४.
३. पं० परशुराम चतुर्वेदी—सं० १५०५ वि०,उ०भा०सं० प० पृ०, ७३३.
४. डा० बड़थ्वाल—सं०,१५०५ वि०, हिं० का० नि० सं०, पृ०, ५५.
५. आचार्य क्षिति मोहन सेन—सं० १५०५ वि०, मिडिवल मिस्टिसिज्म, पृ० ८८.
६. पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय—१५५२ वि०, कबीर वचनावली, भूमिका, पृ० ३१.
७. पं० चंद्रबली पांडेय—सं० १५५२ वि०, ना०प्र० पत्रिका, भा० १४ पृ० ५३९-४०.
८. मिश्रबंधु—सं० १५५२ वि०, उंभा०सं०प०, पृ० ११६ पर उद्घृत
९. डा० मोहन सिंह—सं० १४७७ से १५०६ के बीच, कबीर हिज़ बायोग्राफी, पृ० ४०-४१.
१०. डा० रामप्रसाद त्रिपाठी—सोलहवीं शताब्दी का पूर्बाद्ध, हिन्दुस्तानी, भाग २ अंक २ पृ० २०४-१५।

मिला है कि प्रारम्भ में किया गया पाठ संबंधी निश्चय आश्चर्यजनक रूप से अपरिवर्तित रहा है, उसके आधार भले ही बदलते गए हैं। यहाँ उक्त तीनों स्थितियों ('५६,' ६१ और '६६) के विवेचन का निष्कर्ष प्रस्तुत किया जा रहा है। प्रारम्भ में पाठ विषयक संग्रह किए गए विस्तृत ब्योरे उक्त दो सम्पादनों की सूचनाओं के संदर्भ में अनावश्यक हो जाने के कारण छोड़ दिए गए हैं।

विभिन्न स्रोतों से प्राप्त कबीर की रचनाओं की पाठ संबंधी उपलब्ध सामग्री पर विचार करने से तीन संस्करण अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित लगे और ये ही कबीर की रचनाओं के लिए विद्वानों के मध्य स्वीकृत रहे हैं : नाप्र० संस्करण, सन्त कबीर और विचारदास शास्त्री का बीजक। इनमें बीजक को पंथीय मान्यता प्राप्त होने और उसके सम्पादन में किसी निश्चित पद्धति की सूचना न दिए जाने की स्थिति में, इन तीन में सबसे पहले छाँट देना पड़ा। सन्त कबीर के सम्पादक डा० रामकुमार वर्मा हैं। किन्तु यह सही अर्थ में सम्पादन न होकर गुरुग्रन्थ साहब के पाठ का सीधा ग्रहण है जो काफी पहले बाबा किशन दास ने भी किया था। ग्रन्थसाहब का संग्रहकाल सं० १६६१ वि० है। यद्यपि पंथीय मान्यता और पाठ शुद्धि के धार्मिक महत्त्व से इसका पाठ आगे विकृत नहीं हुआ है, यह मान लेने का आधार पर्याप्त पुष्ट है फिर भी इसके कबीर की मृत्यु के पश्चात् सम्भवतः सौ वर्षों तक विकृत हो चुकने का अवकाश तो है ही। नाप्र० संस्करण का सम्पादन दो हस्तलेखों—'क' सं० १५६१ (?) और 'ख' सं० १८८१ के आधार पर किया गया है और इसमें अबतक सम्पादन की सर्वाधिक व्यवस्थित पद्धति ग्रहण की गई है। वास्तव में यह पहला ढंग का प्रयास है। फिर इसके पंथ में स्वीकृत न होने के कारण कम से से कम विकृत होने की सम्भावना है और इसमें बानियों का विभाजन अंगों, रागों और रमैनियों के रूपाकार के अनुरूप बड़े सटीक ढंग से हुआ है। और भी, इसके आदर्श हस्तलेख—'क' पर लिपिकाल सं० १५६१ पड़ा होने से, परीक्षण का विषय रहते हुए भी, यह प्राचीन पाठ के रूप में विचारणीय बन चुका है। कबीर साहित्य की समीक्षा में इसी पाठ का, प्रकाशन समय (सन् १९२८) से लेकर सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। विभिन्न विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रमों में भी यह स्वीकृत रहा है। अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित सम्पादन और

सर्वाधिक व्यापक स्वीकृति दो ऐसे कारण हैं जिनके आधार पर कबीर की रचनाओं के शताधिक पाठों के अगम समुद्र से उबर पाने के लिए पाठ की सीमा निश्चित करने के उद्देश्य से नाप्र० संस्करण का पाठ ग्रहण किया गया है। कबीर साहित्य की समीक्षा के संदर्भ में 'क' प्रति की पुष्पिका का प्रसंग अर्से से चली आती चर्चा बन चुका है। विद्वान इसकी तिथि सं० १५६१ से सहमति और असहमति दोनों ही व्यक्त करते रहे हैं, कुछ ने मध्य मार्ग भी अपनाया है, किन्तु इस पाठ पर निर्भर होने से कोई भी नहीं कतराया। स्पष्ट ही इस पाठ की स्थिति अर्ध प्रामाणिक है।

प्रामाणिक पाठ के अभाव में कवि विशेष की भाषा के अध्ययन में सर्वाधिक प्रचलित और मान्य पाठ का ग्रहण प्रस्तुत कार्य से पूर्व भी किया जा चुका है। पृथ्वीराज रासो, सूरदास और तुलसीदास के लिए यही मार्ग अपनाया गया है।[1] यह अवश्य है कि पृथ्वीराज रासो के अतिरिक्त सूर और तुलसी के वैज्ञानिक रीति से संपादित पाठों के न होते हुए भी इनके उपलब्ध पाठों पर किसी ने कभी कोई बड़ा प्रश्न चिह्न नहीं लगाया है। इस दृष्टि से नाप्र० संस्करण की स्थिति 'रासो' के पाठ के समान है।

अतएव, उपर्युक्त सभी बातों पर विचार करके तथा तुलनात्मक दृष्टि से उपयुक्त पाने पर प्रस्तुत अध्ययन 'कबीर ग्रन्थावली के आधार पर करना निश्चित किया गया।

× × ×

प्रस्तुत प्रबंध लेखन की अवधि में ही अक्टूबर ६१ में कबीर के पाठ-शोध पर डा० पारसनाथ तिवारी का प्रबंध प्रकाशित हुआ। पाठालोचन की जटिल प्रक्रिया से गुजर कर निर्धारित किए गए इसके पाठ ने निस्संदेह आकृष्ट किया तथा कबीर के पाठ की समस्या का समाधान प्रतीत हुआ। किन्तु कुछ विचारणीय बातें भी सामने आईं :

१. इस सम्पादन में सभा संस्करण की 'क' प्रति का उपयोग नहीं किया गया है।

---

१. द्रष्टव्य—नामवर सिह : पृथ्वीराज रासो की भाषा; प्रेमनारायण टण्डन : सूर की भाषा तथा देवकीनंदन श्रीवास्तव : गोस्वामी तुलसी दास की भाषा।

२ 'क' प्रति की पुष्पिका, जिसमें स० १५६१ की तिथि दी हुई है जो पिछले तीस वर्षों से विद्वानों के लिए परीक्षण का विषय बनी रही है, पर चलताऊ ढंग से टिप्पणी कर दी गई है कि इस पर विद्वानों के द्वारा संदेह व्यक्त किया गया है और अनुमानतः यह संवत् शक संवत् है जो वि० १६९६ के लगभग पड़ता है।[1]

३. इस सम्पादन में प्रयुक्त आधार प्रतियों में प्राचीनतम हस्तलेख—दा० ४ सं०१७१५ वि० (साके १५८०) में लिपिबद्ध[2] भी उन्हीं के अनुमान से 'क' प्रति से १९ वर्ष परवर्ती है।

४. दा० ४ की पुष्पिका, उनके अनुसार, मूल लेखक की लिखी ज्ञात नहीं होती किन्तु इसका लिपिकाल-शाके १५८० असम्भव नहीं है।[3]

५. राजस्थानी परम्परा की दादू पंथी स्रोत से प्राप्त जिन प्रतियों को इस अध्ययन में स्थान दिया गया है, 'क' प्रति भी उन्हीं के समान 'पंचवाणी संग्रह' का अंश स्वीकार की गई है जो अकेली प्राप्त हुई है अन्य दा० प्रतियों की भाँति दूसरे संतों की बानियों के साथ नहीं। इसका दा० की पाँच चुनी हुई प्रतियों से मिलान करने पर स्थूल-क्रम, संख्या और भाषागत पर्याप्त साम्य सिद्ध होता है।[4]

दा० परम्परा कबीर की बानियों के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है जिसे आनुपातिक रूप से इस संपादन की आधार प्रतियों में अधिकतम (पाँच) प्रतिनिधित्व प्राप्त है।

६. पाठालोचन विधि में असाधारण संशोधनों के अन्तर्गत यह स्वीकार किया गया है कि आधार प्रतियों के विभिन्न समुच्चयों में जहाँ सभी प्रतियाँ पश्चिमी आ गई हैं, कुछ क्रियापद विशेषतया सामान्य भविष्यत् काल के रूप राजस्थानी के आ गए हैं। कबीर की भाषा में राजस्थानी क्रियाओं की स्थिति खटकती है। इसलिए प्रतियों का साक्ष्य न रहने पर भी इन सभी

---

१. पारसनाथ तिवारी : कबीर ग्रंथावली, भूमिका, पृ० १२.

२. वही, ६०.

३. वही, ६०.

४. वही, ५५-६०.

क्रियाओं को कबीर की भाषा की प्रकृति के अनुसार प्राय :—ई अथवा —है प्रत्ययान्त रूप दिए गए हैं। उदाहरणतया—४।१९।२ पर 'होसी' और' कहसी' के लिए क्रमशः 'होइजु' और 'कहिहै'।[१]

उपर्युक्त बातों पर ध्यान देने से डा० तिवारी के निर्धारित पाठ की वर्तमानता में भी नाप्र० 'क' प्रति का महत्त्व अक्षुण्ण रहता है। हमारा आशय उक्त सम्पादन का महत्त्व कम करने अथवा उसकी वैज्ञानिकता पर प्रश्नचिह्न लगाने का नहीं है। किन्तु कबीर की भाषा का अध्ययन करने के लिए एक निश्चित पाठ ग्रहण कर लेने के बाद अन्य पाठ उपलब्ध होने पर भी हमारे स्वीकृत पाठ का महत्त्व किस आधार पर बना रहता है, इस संबंध में विनम्रता पूर्वक यह कहा जा सकता है :

१. नाप्र० 'क' प्रति की पुष्पिका पर केवल विद्वानों ने अनुमान लगाए हैं, कभी उसका वैज्ञानिक परीक्षण नहीं किया गया और डा० तिवारी ने भी इन अनुमानों में एक संख्या ही बढ़ाई है।

२. सम्यक् परीक्षण के बिना इससे अधिक पुरानी कोई अन्य प्रति न मिलने की स्थिति में 'क' प्रति की प्राचीनता और उक्त सम्पादन में इसकी ग्राह्यता को नज़रन्दाज़ कर दिया जाना चिन्त्य है।

३. दा० ४ हस्तलेख भी सम्पादक के ही अनुमान से 'क' प्रति से १९ वर्ष परवर्ती है जिसकी पुष्पिका मूल लेखक की न लिखी होकर भी दी हुई तिथि सं० १७१५ वि० असम्भव नहीं मानी जाती। जब कि ठीक यही स्थिति रहने पर 'क' प्रति को अधिक प्राचीन होते हुए भी अस्वीकार्य समझा गया है।

४. उक्त सम्पादन में दा० परम्परा को अधिकतम महत्त्व दिया गया है। 'क' प्रति स्थूल पाठ और भाषा की प्रकृति को लेकर इसी परम्परा की प्रति सिद्ध होती है। ऐसी स्थिति में ऐतिहासिक महत्त्व प्राप्त कर चुकी 'क' प्रति को विस्तृत पाठ-शोध की आधार प्रतियों में प्रमुखता न दिया जाना विचारणीय है।

---

१. तिवारी : कग्रं०, भू० पृ० २८१.

५. असाधारण संशोधन के अन्तर्गत, जिन स्वीकृत समुच्चयों में प्रतियाँ राजस्थानी प्रभावित हैं, यदि उनका पाठ ग्रहण करना पड़ा है तो उस पाठ का कबीर की भाषा की प्रकृति के अनुसार पूर्वी रूपान्तर कर दिया गया हैं। किन्तु जिन समुच्चयों की प्रतियाँ केवल पश्चिमी न होकर इतर प्रदेशों की भी हैं, उनके ग्रहीत पाठ को राजस्थानी होते हुए भी वैसा ही रहने दिया गया है। सिद्धान्ततः यह अन्तर्विरोध है। कोष्ठकों के संशोधन जिनमें अधिक ध्यान सामान्य भविष्यत्—सी प्रत्ययान्त रूपों पर केन्द्रित है, के अतिरिक्त पूरे पाठ में राज० रूप भरे पड़े हैं।[1] और भी कि इस कार्य से संपादक के कबीर की भाषा को पूर्वी मानने के पूर्वग्रह का आभास मिलता है।[2]

इन शंकाओं का सम्यक् समाधान डा० तिवारी के सम्पादन से नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में राज० दा० परम्परा के सर्वाधिक प्राचीन, महत्त्वपूर्ण अधिकृत और सुव्यवस्थित होने तथा इसीसे संबद्ध नाप्र० 'क' प्रति के सर्वाधिक प्राचीन होने और मध्यकालीन साहित्य में अपना विशिष्ट संदर्भ निर्मित कर लेने के कारण इसकी ग्रहणीयता का आधार बना रहता हैं।

× × ×

इधर फरवरी ६९ में डा० माताप्रसाद गुप्त ने 'कबीर—ग्रंथावली' के ही नाम से कबीर की रचनाओं का एक नवीनतम सम्पादित पाठ प्रकाशित कराया है। डा० तिवारी का पाठ-शोध डा० गुप्त के ही निर्देशन में हुआ था। पाठालोचन के क्षेत्र में डा० गुप्त का ज्ञान और उनकी निर्भ्रान्त पद्धति समादरणीय

---

१. देखिए : मीरां ४।१४।२ तृ० कर्त्ता० बहु०, रूखां-२।५४।३ अधि० बहु०, अक्खिरां-१।७।२ करण बहु०, परंत-१।६।२, सुमिरंता—३।५।१ वर्तं०कृ०, दोन्यूं—१।६।२, संख्यावाचक, डूंगर—२३।११।१, अपूठा—२६।२३।२ विशिष्ट राज०रूप।

२. सम्पादक का यह आग्रह, इसी पाठ पर आधृत तीन भाषा विषयक अध्ययनों के निष्कर्षों से मेल नहीं खाता। ये हैं : माताबदल जायसवाल : कबीर की भाषा; भगवत् प्रसाद दुबे : कबीर काव्य का भाषाशास्त्रीय अध्ययन और महेन्द्रकुमार : कबीर की भाषा।

है । इसलिए अपने निर्देशन में किए गए पाठ-शोध के बाद उन्हें दुबारा जो इसकी आवश्यकता अनुभव हुई है वह पाठ को अधिक पूर्णता और वास्तविकता के निकट लाने में अवश्य सफल हुई होगी । डा० गुप्त के पाठ विषयक तथ्य और निष्कर्ष निम्नलिखित हैं :[1]

१. दा० पाठ की स्वतन्त्र स्थिति—डा० तिवारी का निर्धारित पाठ ग्यारह विभिन्न पाठों के २५ संकीर्ण-सम्बन्ध-समुच्चयों पर आधृत है, जिनमें दस पुर्नविचार की अपेक्षा रखते हैं। जब तक इनके समर्थन में दृढ़तर साक्ष्य नहीं मिलते, इन्हें संदिग्ध मानकर छोड़े जाने की स्थिति में गु० (गुरुग्रन्थ) पाठ स्वतन्त्र प्रमाणित होता है । इसी प्रकार दा० पाठ भी केवल नि० (निरन्जन पंथी) तथा सं० (सर्वंगी) पाठों से संकीर्ण सम्बन्ध से सम्बद्ध है । किन्तु स० पाठ सं० १६६० या बाद का ठहरता है जबकि दा० पाठ इससे निश्चय ही पुराना है और नि० निरन्जनी सम्प्रदाय के बनने के बाद का है । इसलिए दा० भी गु० की तरह स्वतंत्र सिद्ध होता है । गुण० (-गुणगंज नामा) भी स्वतन्त्र पाठ है किन्तु यह केवल ४०० साखियों का संकलन मात्र है ।

२. दा० पाठ की प्राचीनता—दा० परम्परा की प्राचीनतम प्रति डा० तिवारी को सं० १७१५ की प्राप्त है तथा दूसरी सं० १७६२ की है जो क० मा० मुंशी विद्यापीठ, आगरा में है । दादू की वाणी ठीक-ठीक उसी क्रम से अंगों में विभाजित है जिस क्रम से कबीर की वाणी इस पाठ में है और दादू की मृत्यु सं० १६६० में हुई इसलिए कबीर का यह पाठ सं० १६२५-३० के आस पास का हो सकता है ।

३ दा० गु० की तुलना में अधिक स्वीकार्य और व्यवस्थित—दा० के समान गु० पाठ भी स्वतन्त्र है किन्तु दोनों के समान पाठों तथा समान रूप से संगत और स्वीकार्य पाठों को छोड़ देने पर स्वीकार्य पाठों का परिमाण दा० में गु० की तुलना में काफ़ी अधिक है तथा दा० व्यवस्थित है और गु० की अपेक्षा संकलन की दृष्टि से अधिक पूर्ण है ।

इन तथ्यों और निष्कर्षों से यह सहज ही प्रमाणित हो जाता है कि दा०

---

१. माताप्रसादगुप्त कबीर ग्रंथावली, भूमिका पृ० २४-३१.

राज० परम्परा कबीर की बनियों के लिए सर्वाधिक विश्वस्त है। इस परम्परा का सर्वाधिक प्राचीन पाठ प्रस्तुत करने के उद्देश्य से डा० गुप्त ने सं० १७६२ वाली बनबारीदास की परम्परा की प्रति को आधार बनाया है। डा० गुप्त का पाठ नाप्र०'क' प्रति का पूरा पाठ देता है केवल 'क' से एक साखी अधिक है और १६ पद कम हैं तथा रमैणियाँ अक्षरशः एक है।[1]

डा० गुप्त ने यह भी स्वीकार किया है कि 'क' प्रति उनके पाठ के किंचित् ही बाद की स्थिति का पाठ देती है।[2] हालाँकि उन्होंने दा० परम्परा के विभिन्न पाठों के आकार भेद से जिन पांच वर्गों का निर्देश किया है उनमें अपनी प्रति-सं० १७६२ वाली और डा० तिवारी की प्रति-सं० १७१५ वाली को एक ही वर्ग 'अ' में रखा है जब कि 'क' प्रति को 'आ' वर्ग की माना है जिनकी अन्य प्रतियां सं० १८३१ और सं० १८६६ वाली प्राप्त हुई हैं।[3] इन 'अ' तथा 'आ' वर्गों में साखियां समान हैं, पद 'आ' में १६ अधिक हैं। इस भेद का आधार यही १६ पद हैं। किन्तु एक अन्य महत्त्वपूर्ण अन्तर की ओर डॉ० गुप्त का ध्यान नहीं जा सका है। 'अ' वर्ग की प्रतियों में 'ग्रंथाबाँवनी' रमैंणी नहीं मिलती जो बाद की प्रतियों में मिलती है। डा० गुप्त के पाठ और 'क' प्रति दोनों में यह नहीं है जबकि डा० तिवारी की १७१५ वाली प्रति में है।[4] इसलिए नाप्र० 'क' प्रति को दा परम्परा के 'अ' वर्ग में सम्मिलित न किए जाने का जो आधार १६ पदों के अधिक होने से बनता है वह 'ग्रंथबावनी' के न पाए जाने से समाप्त हो जाता है। १६ पदों का आधिक्य केवल संख्यागत अंतर है जबकि 'ग्रंथाबावनी' या ककहरा एक विशिष्ट काव्य

---

१. वास्तव में साखी अधिक नहीं है। डा० गुप्त ने नाप्र० नवें संस्करण से तुलना की है जबकि 'क' हस्तलेख और तद्नुसार पहले संस्करण —१६२८ में यह साखी यथा स्थान मिलती है। दे० डा० गुप्त : कग्रं, प्रस्तावना और परि० ३.

२. वही, प्रस्तावना, पृ० २।

३. वही, भूमिका, पृ० २६।

४. उक्त प्रति डा० तिवारी की दा० ४ है जो दा० ३ से अभिन्न है जिसमें ग्रंथाबावनी सम्मिलित है। दे० तिवारी : भूमिका, पृ० ६०

रूप है।[१] डा० तिवारी की प्रति में 'ग्रन्थबावनी' होने से वह निश्चय ही परवर्ती सिद्ध होती हैं क्योंकि डा० गुप्त के प्राचीन पाठ में यह नहीं मिलती, भले ही उसकी पुष्पिका १७१५ की तिथि देती हो। और फिर वह दूसरे हाथ की लिखी भी बताई जाती है। इस प्रकार, वास्तव में, दा० परम्परा की प्राप्त समस्त प्रतियों में डा० गुप्त की प्रति और नाप्र० 'क' प्रति ही सर्वाधिक विश्वसनीय ठहरती हैं।

उपलब्ध समस्त दा० प्रतियों में वि० (मुंशी विद्यापीठ वाली) और 'क' में अधिकतम साम्य भी है। यह दो प्रकार से स्पष्ट होता है : 'क' और अन्य दा० प्रतियों के मिलान से तथा 'क' और 'वि' के मिलान से। अपनी संग्रहीत दा० प्रतियों में से चुनी हुई पाँच प्रतियों का 'क' से मिलान करके डा० तिवारी ने पाया है कि :

डा० १ में 'क' का एक अंग—१५; ३ फुटकल साखियाँ, १८ पद नहीं मिलते और एक साखी अधिक मिलती है; दा० २ में 'क' की १९ साखियाँ नहीं मिलतीं, 'ख' की ८० साखियाँ मिल जाती हैं तथा १६ निजी साखियां हैं; दा० ३ में 'क' के दो अंग-१८-१९ और ७१ पद नहीं मिलते; 'ख' की 'ग्रन्थाबावनी' इसमें हैं; दा० ४ दा० ३ से अभिन्न है; दा० ५ में 'क' के आठ अंगों के नाम नहीं मिलते, एक अंग नया मिलता है, १७१ साखियाँ और २ पद नहीं है किन्तु २२ पद अधिक हैं।[२]

दूसरी ओर 'क' और 'वि' में डा० गुप्त के अनुसार 'वि' की एक साखी १३/१९ 'क' में नहीं है, 'क' के १९ पद 'वि' में नहीं मिलते, रमैणियां अक्षरशः एक हैं। साखी १३।१९ हस्मलेख और पहले संस्करण में है। अतः अन्तर केवल १९ पदों का ठहरता है।

सम्यक् परीक्षण करने के बाद वि० पाठ डा० गुप्त ने स्वीकार किया है। इस स्वीकृत पाठ से 'क' पाठ-क्रम, संख्या आदि की दृष्टि से सर्वाधिक मेल खाता है। अतएव, दा० परम्परा की समस्त प्रतिनिधि प्रतियों में 'क' और 'वि०' का निकटतम सम्बन्ध स्थापित होता है। जिसे डा० गुप्त भी

---

१. देखिए—जायसी कृत 'अखरावट'। विशेष विवरण के लिए-शिवप्रसाद सिंह : सूरपूर्व ब्रज भाषा, पृ० ३३९-४०।

२. पारसनाथ तिवारी: कग्रं०, भूमिका, ५६-६०

स्वीकार करते है। यह साम्य स्थूल ही नहीं भाषागत भी है। डा० गुप्त के अनुसार उनके पाठ में 'क' पाठ अपने प्राचीनतम रूप में उपलब्ध है। अपने पाठ वि० की प्राचीनता की कोई कसौटी, 'क' की तुलना में, वे नहीं देते। यह दोनों की भाषा के मिलान का विषय है। जहां तक मुझे ध्यान देने से स्पष्ट हो सका है 'क' पाठ 'वि०' की अपेक्षा अधिक संगत, प्राचीन और अपेक्षाकृत पश्चिमी प्रकृति के अनुकूल है। कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं :

१. 'ण्' के लिए 'न्' का प्रयोग— संस्कृत 'न्' ध्वनि प्राकृत काल में 'ण्' होगई जो न०भा०आ० में फिर 'न्' बन गई है किन्तु प्राचीन प्रयोगों और राज०, पंजाबी आदि में सुरक्षित रही है। 'क' में प्रयुक्त 'ण्' ध्वनि तत्तत् स्थानों में 'वि' में 'न्' रूप में मिलती है—आसण—'क' २।१५।२ (वि० आसन); ल्हसण—'क' २०।६।१ (वि० ल्हसन)।

२. प्राणध्वनि 'ह' प्राकृतकाल में सुरक्षित रही किन्तु न० भा० आ० की पश्चिमी भाषाओं में इसका लोप मिलने लगा जबकि पूर्वी भाषाओं में यह प्राप्त होती है। जिन स्थानों पर 'क' में इसका लोप है वि० में सुरक्षित मिलती हैं—पालवै—'क' ४।६।२ सं० पल्लव से ना०धा० (वि० पलहै) तुल० जायसी-'पलुहै काया'।

३. विकारी बहुबचन में 'क' की —ऊँ विभक्ति के स्थान पर वि०में—ओं मिलती है—नैनूं-'क' ११।४।२ (वि० नैनौं)। 'न्' की परवर्ती 'ओ' ध्वनि राज० में अनिवार्य रूप से 'ऊ' हो जाती है—(काका-काको, नाना-नानूं)। इसी तरह विकारी एक० में'क'—औ के स्थान पर वि०—ऐ मिलती है—संदेसौ 'क' ३।६।१ (वि० संदेसै)। ये विभक्तिगत प्रयोग 'क' में क्रमशः राज० और व्रज के तथा वि० में ब्रज और अवधी-की प्रकृति का संकेत देते हैं।

४. 'क' की तुलना में 'वि०' में पाठ कहीं कही अशुद्ध मिलता है—अद्भुत 'क' ८।३।१ (वि० अदबुद)। स्वरमध्यग स्पर्श अल्पप्राण व्यंजन ध्वनि तद्भव शब्दों में लुप्त है या श्रुति रूप में मिलती है अथवा संधि संकोच हो गया है। 'त्' का 'द्' रूपान्तर निश्चित ही अशुद्धि है। इसी तरह सं० विष्णु से व्युत्पन्न बीठुला—'क' गो० ४ तथा ५ वि० में मीठुला मिलता है जो किसी भी तरह व्युत्पन्न नहीं होता, अशुद्धि जनित है। सं०

√भ्रम् (भजने) से बना क्रियापद भ्रमड़ेंगे 'क' ८।५।१ वि० में भ्रबड़ेंगे मिलता है। इसकी व्युत्पत्ति भी ठीक नहीं बैठती ।

५. 'क' गौ० ३१।१४ पर 'गोपत पाठ है जो वि० में गोपि मिलता है। पद योग बिषयक है। डा० गुप्त ने 'गोपि' का अर्थ गोपियाँ किया हैं जो विषयान्तर उपस्थित करता है। वास्तव में अर्थ गुप्त है—कबीर तालिव तोरा जहां गोपत (वि० गोपि) हरी गुरु मेरा।

ये और ऐसे ही अन्य उदाहरण प्राप्त होने में अत्यन्त सावधानी और परिश्रम की अपेक्षा रखते हैं। इसका कारण है कि दोनों पाठ आश्चर्यजनक रूप से यकसाँ है। क्रम की दृष्टि से भी पदों में जो १९ का अन्तर हैं वह क्रम कहीं नही बिगड़ता केवल 'क' में जहाँ अधिक है वहाँ से एक संख्या मात्र बढ़ जाती है। साखियां और रमैणी तो क्रम में एक सी हैं ही।

इस प्रकार कबीर पाठ की प्रामाणिकता घूम फिर कर पुनः 'क' प्रति पर पहुँचती है।। वि० प्रति की तिथि सं०१७६२ है जो दा० पाठ-परम्परा के निर्धारण समय (सं० १६२५-३०) के १३०-३५ वर्ष बाद की है। इस स्थिति में जबकि 'क' प्रति जा न केवल वि० की निकटतम है बल्कि अपेक्षाकृत अविक संगत प्राचीन और पश्चिमी प्रकृति के अनुकूल पाठ देती है जो ऊपर की तुलना से स्पष्ट है, को वि० से परवर्ती मानने का कोई आधार नहीं बनता।

यदि डॉ० तिवारी का ही अनुमान माना जाए तो भो 'क' प्रति अबतक उपलब्ध सभी प्रतियों में प्राचीन ठहरती है, क्योंकि पुष्पिकाओं में शक संवत् बराबर मिलते हैं। वैसे इस अनुमान पर ठहर जाने की कोई आवश्यकता नहीं है।

अतएव, जब तक पाठ के विषय में अंतिम बात न कही जा सके, और अन्तिम बात कहना प्रायः असम्भव है, तब तक 'क' प्रति की प्राचीनतम स्थिति अक्षुण्ण बनी रहती है।

४. कबीर-ग्रंथावली की भाषा

क. अध्ययन का सारांश

नागरी प्रचारिणीं सभा, काशी द्वारा प्रकाशित कबीर—ग्रंथावली के आधारभूत हस्तलेख—कबीर जी की बांणी (सं० १५६१ में लिपिबद्ध?) जिसे

कग्रं के सम्पादक डा० श्यामसुन्दर दास ने 'क' प्रति कहा है की ८०६ साखियों ४०३ पदों और ७ रमैनियों के आधार पर निर्मित शब्द कोश से चयन करके भाषा सम्बन्धी जिन ध्वनि, पद और शब्द समूह गत तत्त्वों का ऐतिहासिक अध्ययन अगले तीन अध्यायों में किया गया है उसके अनुसार कग्रं बहुवैभाषिक तत्त्वों से संवलित रचना सिद्ध होती है जिसका मूल ढाँचा ब्रज, पूर्वी राजस्थानी, खड़ी बोली और अवधी के तत्त्वों से निमित है तथा जिसमें फुटकल रूप में पश्चिमी राजस्थानी और भोजपुरी तथा अपवाद रूप में गुजराती और पंजाबी के तत्त्व पाए जाते हैं

इसके साथ ही यह हस्तलेख मध्यकालीन हिन्दी के हस्तलेखों के अनुरूप होते हुए भी कुछ ऐसी विशिष्टताओं का परिचय देता है जो केवल नाथपंथी रचनाओं के हस्तलेखों में ही प्राप्त होती हैं।

इस बहुवैभाषिकता का आधार निम्नलिखित तथ्य हैं—

(अ) लिपि शैली

१. अर्धविवृत दीर्घ अग्र तथा पश्च स्वर ध्वनियों के लिपि चिह्नों—ऐ तथा औ से विवृत और संयुक्त स्वर मूलक दोनों उच्चारणों का संकेत मिलता है जो हिन्दी के संदर्भ में क्रमशः पश्चिमी और पूर्वी विभाषाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं।

२. ऋ लिपि चिह्न रि उच्चारण के लिए प्रयुक्त है। छंद की लय से यह स्वर भक्ति जनित 'इर' भी सिद्ध होता है। यह स्थिति शब्दों की अर्धतत्सम प्रकृति की परिचायक है।

३. ज्ञ् (ग्यँ अथवा ज्यँ) के लिए ग्य लिपि संकेत शब्दों की अ० तत्० प्रकृति एवं हस्तलेख के संस्कृत से अप्रभावित रहने की सूचना देता है।

४. इ स्वर ध्वनि के लिए य चिह्न का प्रयोग कबीर से पूर्व केवल नाथपंथी हस्तलेखों में मिलता है। इ का य् उच्चारण सम्प्रदाय एवं काव्यगत विशिष्ट शैली का संकेत है।

५. ख् ध्वनि के लिए ष चिह्न का प्रयोग मध्यकालीन हस्तलेखों की प्रकृति के अनुरूप है किन्तु पदादि में ष चिह्न का प्रयोग इसके नाथपरम्परा से प्रभावित होने का संकेत है।

६. अनुस्वार के अनुगुंजक और अनुनासिक की समीपवर्ती स्वर ध्वनि को सानुनासिक बनाने वाले प्रयोग केवल नाथपंथी हस्तलेखों में मिलते हैं।

७. र् ध्वनि का लिपीकरण र, रेफ (ˆ) और संयोगी र (्र) तीन प्रकार का मिलता है। रेफ तथा संयोगी र (्र) से पूर्ण अक्षर का उच्चारण अपेक्षित है अथवा अधूरे का यह छंद की लय से ही स्पष्ट होता है। लिपिगत ये प्रयोग गोरखबानी और नाथसिद्धों की बानियाँ में मिलते हैं। र् के लिपीकरण जितनी व्यापक अनियमितता अन्यत्र नहीं पाई जाती।

८. ड़ लिपि चिह्न के अनुनासिक ध्वनि के बाद आने के प्रयोग मिलते हैं जो हिन्दी की पूर्वी विभाषाओं की प्रमुख विशेषता है। ड़ का लिपीकरण ङ रूप में है। मभाआ की स्वरमध्यग मूर्धन्य ध्वनियाँ ड, ढ नभाआ में ड़, ढ़ हो गई हैं किन्तु लिपि में ये ड, ढ ही लिखी जाती रहीं। इनके लिए ड़, ढ़ चिह्न बहुत बाद में चले हैं। किन्तु ङ चिह्न का प्रयोग १७वीं शती के हस्तलेखों में सार्वत्रिक रूप से हुआ है।

९. द्वित्व व्यंजनों की वर्तनी इकहरे व्यंजन चिह्न वाली मिलती है। महा० द्वित्व व्यंजनों की संस्कृत प्रभावित अल्प०+महा० वाली वर्तनी का एक भी प्रयोग न मिलना हस्तलेख के संस्कृत से अप्रभावित रहने की सूचना देता है।

१०. य और व के नीचे बिन्दु लगाए गए हैं। इन बिन्दुओं का प्रयोग मध्यकालीन हस्तलेखों में ऐसे स्थान पर हुआ है जहां य, व जो ज और ब के भी संकेत चिह्न हैं, से श्रुतिगत और तत्सम उच्चारण की अपेक्षा होती है। 'क' हस्तलेख में य, व के साथ ही ज, ब चिह्नों की उपस्थिति य, व के नीचे बिन्दुओं के लगाऐ जाने के औचित्य को समाप्त कर देती है। यह स्मरणीय है कि 'क' प्रति की प्रामाणिकता पर संदेह किए जाने के आधारों में प्रमुख यही बिन्दु रहे हैं जो इसकी पुष्पिका में य, व के नीचे नहीं मिलते।

(आ) ध्वनि विचार

१. प्राभाआ ऋ ध्वनि के मभाआ की स्थिति से गुज़रे हुए अ (घर< गृह), इ (घिण<घृणा), उ (मुवा<मृतक), रि (क्रम=क्रिम) वाले तद्भव विकास तो मिलते ही हैं, स्वरभक्ति जनित अ० तत् विकास इर (किरषी<कृषि) भी बड़े पैमाने पर प्राप्त होता है। स्वरभक्ति की प्रक्रिया अर्धतत् शब्दों की प्रमुख विशेषता है।

२. पदान्त दीर्घ स्वर ह्रस्व हो गये हैं। यह स्वाभाविक विकास प्रक्रिया है। किन्तु कग्र में अन्त्य स्वरों का अस्तित्व माना जाए या नहीं इसका हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है। छंदोबद्ध भाषा में शब्द स्वरान्त हो लिखे जाते हैं और उन्हें मात्रापूर्ति के लिए अजन्त ही मानना होगा। किन्तु अन्त्य इ तथा उ का अ में परिवर्तन (छंदोबद्धता की आड़ हटाकर देखने पर) कथ्य भाषा में अन्त्य स्वरों के लोप हो जाने के अनुमान की पुष्टि करता है।

—इ,—उ का —अ में परिवर्तन दक्षिणी हिन्दी, खड़ी० और पंजाबी की विशेषता है।

३. स्वरों का मात्रात्मक परिवर्तन पदादि और पदमध्य दोनों स्थितियों में पाया जाता है। ये परिवर्तन ह्रस्वीकरण और दीर्घीकरण दोनों दिशाओं में मिलते हैं। दीर्घ से ह्रस्व परिवर्तन प्राय: शब्द में किसी पदग्रामिक तत्त्व के योग से अथवा दो शब्दों को समस्त रूप देने से बलाघात के स्थान परिवर्तन के कारण हुए हैं। इसी तरह ह्रस्व से दीर्घ परिबर्तन व्यंजन द्वित्व के सरलीकरण से क्षतिपूर्ति के लिए तथा बलाघात जनित हैं।

बलाघात जनित स्वरों का मात्रात्मक परिवर्तन नभाआ की प्रमुख ध्वन्यात्मक विशेषता है।

४. स्वरों के गुणात्मक परिवर्तन में अ<इ, अ<उ वाली कोटि हिन्दी की पश्चिमी विभाषा तथा इ<अ, उ<अ वाली कोटि पूर्वी विभाषा की ध्वन्यात्मक विशेषता की मोटे तौर पर परिचायक है।

५. स्वरमध्यग स्पर्श अल्पप्राण व्यन्जन ध्वनियों का लोप होने पर प्राकृत

काल में इनके स्थान पर उद्वृत्त स्वर आ गये । अपभ्रंश काल में तत्तत् स्थानों पर **य**, व तथा कहीं कहीं ह श्रुतियां मिलने लगीं तथा संयुक्त स्वर मूलक उच्चारण भी चल पड़ा । इसी समय से उद्वृत्त स्वरों में संधि-संकोच भी दिखाई देने लगता है। कग्रं की भाषा में श्रुति, संधि तथा संयुक्त स्वर मूलक उच्चारण के साथ स्वर विवृतियाँ-भी अच्छी सख्या में प्राप्त होती हैं । इन विवृतियों में कुछ तो प्राकृत कालीन उद्वृत्त स्वरों का संरक्षण हैं और कुछ नई निर्मिति हैं जो अप० कालीन य, व श्रुतियों का संप्रसारण होकर स्वर के रूप में मिलती हैं ।

उपर्युक्त चार स्थितियों में विवृतियों का संरक्षण भाषा के पुराने रूप की, संधि प्रक्रिया विशेषतः विवृत ऐ=अ+इ, औ=अ+उ पश्चिमी हिन्दी की तथा संयुक्त स्वर मूलक उच्चारण पूर्वी हिन्दी की विशेषता है । य श्रुति सार्वत्रिक है। व की प्रयोगवृत्ति अनुपातिक दृष्टि से पूर्वी विभाषा में अधिक है। ह श्रुति नितान्त पूर्वी प्रवृत्ति है ।

६. कग्रं में अनुनासिकता का विकास अपने स्वाभाविक क्रम में मिलता है— अकारण अनुनासिकता, व्यंजन द्वित्व के सरलीकरण में क्षति-पूरक अनुस्वार, नासिक्य+व्यंजन सरलीकृत होने पर पूर्ववर्ती स्वर का सानुनासिक दीर्घीकरण, शब्द में बलाघात के स्थान परिवर्तन से अनुस्वार का अनुनासिक और अनुनासिक स्वरों का निरनुनासिक होना ।

इन स्थितियों के अतिरिक्त यहाँ अनुनासिक व्यंजन ण्, न्, म् के अनुगुंजक उच्चारण लिपि में इन वर्णों पर अनुस्वार का प्रयोग करके दिखाये गये हैं (आसमांन, करुणां) तथा अनुनासिक की समीपवर्ती स्वर ध्वनि को भी सानुनासिक बनाया गया है (कन्यां, गुलांम) । ये प्रयोए सन्तों की विशिष्ट शैली के परिचायक हैं ।

इसी प्रकार अनुनासिकत्व का स्थान परिवर्तन या उसके दो स्वरों पर परस्पर बंट जाने की प्रवृत्ति भी पाई जाती है जो सर्वप्रथम नभाभा काल में ही मिलती है (कंवारी, गंवार, धूंवा) ।

७ कग्रं के तद्भव शब्दों में प्रभाग्रा की स्पर्श ग्रल्पप्राण व्यंजन ध्वनियाँ लुप्त होकर मभाग्रा की स्थिति से गुजरती हुई स्वर विवृति, श्रुति समावेश, संघिज दीर्घ स्वर तथा संयुक्त स्वर के रूप में मिलती हैं (दे० १.१९)। इसी तरह महाप्राण व्यंजन ध्वनियां भी मभाग्रा ग्रवस्था से होकर ह् रूप में मिलती है (दे० १.२२ इ)। लेकिन यहाँ तत्सम ग्रौर ग्र० तत्० शब्दों में स्वर मध्यग स्पर्श ग्रल्पप्राण ग्रौर महाप्राण व्यंजन ध्वनियों संरक्षण भी प्राप्त होता है। यह स्थिति कग्रं में ग्राद्यन्त बड़े पैमाने पर मिलती हैं जो भाषा में नवीन तत्त्व (तत्, ग्र० तत्०) के समावेश का संकेत करती है। यह प्रवृत्ति ग्रवहट्ट ग्रथवा पुरानी हिन्दी की रचनाग्रों में बढ़नी प्रारम्भ हो जाती है ग्रौर मध्यकालीन वैष्णव भक्ति परक रचनाग्रों में ग्रपने पूर्ण वैभव पर मिलती है। इस दृष्टि से कग्रं की भाषा पुरानी ग्रौर मध्यकालीन हिन्दी का मध्यवर्ती रूप प्रस्तुत करती है।

८. कग्रं में ण् ग्रौर न् ध्वनियों के प्रयोग विशेष महत्त्व के हैं। प्राभाग्रा ग्रनुनासिक व्यंजन ङ् ग्रौर ञ् संस्कृत में ही केवल संयुक्त रूप में मिलते हैं। शेष ण्, न्, म् में से ण् ग्रौर म् मभाग्रा में सुरक्षित चले ग्राये हैं जबकि न् का ण् में परिवर्तन हो गया है। कग्रं में स्वर-मध्यग ण् ध्वनि प्राभाग्रा ण् > मभाग्रा ण् तथा प्राभाग्रा न् > मभाग्रा ण् इन दो स्रोतों से विकसित मिलती है किन्तु प्राभाग्रा ण् > माभाग्रा ण् > न् तथा प्राभाग्रा न् > मभाग्रा ण् > न् के रूप में विकसित न् ध्वनि का प्रयोग ग्रनुपातिक दृष्टि से ग्रधिक है। साखियों में ण् तथा पद ग्रौर रमैनियों में न् वाले प्रयोग ग्रधिक हैं। वैसे एक ही स्थान पर भी न् तथा ण् वैकल्पिक रूप से प्राप्त होती हैं।

ण् का प्रयोग नभाआ की पश्चिमी विभाषाग्रों की प्रकृति है जब कि न् पूर्वी विभाषाग्रों में ग्रधिक प्रयुक्त है। वैसे प्राकृत के वैयाकरणों ने ही णत्व विधान को कृत्रिम प्रवृत्ति माना है जिसके ग्राधार पर ग्राधुनिक विद्वानों ने नकार को ही कथ्य प्राकृत की सहज विशेषता स्वीकार किया है (दे० ३.३)। इस तथ्य के प्रकाश में यह कहा जा सकता है कि न् वाले प्रयोग कग्रं की भाषा के सहज रूप के परि-

चायक हैं जब कि ण् वाले प्रयोग अधिकांश में शैलीगत दृष्टि से किए गए प्रतीत होते हैं।

९. प्राभाआ की संयुक्त व्यंजन ध्वनियाँ ष्ण्, स्न्, ह्न् मभाआ में में ण्ह् हो गईं तथा ष्म् और ह्म् का परिवर्तन म्ह् में हुआ।

नाभाआ में ण्ह् का न्ह् रूप तथा म्ह् संयुक्त व्यंजन ध्वनि न रहकर न् और म् के महाप्राण रूपों में मिलती हैं (दे० १.२३)। ण्ह् ध्वनि का कग्रं में एक भी प्रयोग नहीं मिलता जो राजस्थानी आदि पश्चिमी भाषाओं की प्रमुख ध्वन्यात्मक विशेषता है।

१०. प्रभाआ य् ध्वनि पदादि स्थिति में मभाआ और नभाआ में नियत रूप से ज् मिलती है किन्तु पदमध्य में इसका संरक्षण हुआ है। केवल जहाँ इसके पहले र् ध्वनि आती है यह पदमध्य मे भी ज् हो गई है। यह प्रक्रिया केवल अर्धतत्सम शब्दों में मिलती है (कारज, सूरज)।

११. पार्श्विक ध्वनि ल् का महाप्राण रूप ल्ह् मिलता है जो या तो मभाआ के देशी शब्दों के संयुक्त व्यंजन ल्ह् से आया है या प्राभाआ ल्य् > मभाआ ल्ल् > ल्ह् के क्रम से विकसित हुआ है (कोल्हू < देशी० कोल्हुअ, काल्हि < कल्य-)। महाप्राण ल् (ल्ह्) पूर्वी हिन्दी की प्रमुख ध्वन्यात्मक विशेषता है।

१२. प्राभाआ ष् ध्वनि का तद्भव शब्दों में स् विकास पाया जाता है। लेकिन अर्धतत्सम शब्दों में इसका उच्चारण ख् मिलता है। यह प्रवृत्ति मध्यकालीन हिन्दी की खास विशेषता है। ष् का ख् उच्चारण वैदिक काल में ही चलता था। नभाआ के शब्द समूह में अर्धतत्सम तत्त्व के आगमन का यह एक प्रबल प्रमाण है।

१३. प्राण ध्वनि ह् मभाआ तथा नभाआ में पदादि स्थिति में सुरक्षित रही है। स्वरमध्यग स्थिति में यह प्राभाआ ह् के अतिरिक्त स्, ष्, श् तथा स्पर्श महाप्राण व्यंजनों से भी विकसित हुई है। यह विकास प्रक्रिया प्रायः सभी नाभाआ भाषाओं में पाई जाती है। किन्तु ह् के श्रुति एवं पुरश्रुतिगत प्रयोग हिन्दी के संदर्भ में नितान्त पूर्वी प्रकृति के परिचायक हैं (चहुं < चउ < चतुर्, छाँह < छाया, हसि = असि <

<√ग्रस् हुलराएं <उद्+<√लल्)। वैसे ये प्रयोग थोड़े ही प्राप्त होते हैं।

१४. प्रभाग्रा के संयुक्त व्यंजन मभाआ में या तो एक दूसरे में समीकृत होकर द्वित्व बन गए हैं या उनके बीच स्वर का ग्रागम हो गया है। नभाआ के तद्भव शब्दों की प्रकृति इन समीकृत द्वित्व व्यंजनों का इकहरे व्यंजन के रूप में सरलीकरण कर लेने की है। कग्र में मभाग्रा के द्वित्व व्यंजनों का सरलीकरण वाला निर्वाह सर्वाधिक मिलता है (दे० १.३२ ग्र तथा ग्रा)। यह भाषा के सहज विकास का संकेत है। किन्तु यहाँ मभाग्रा के द्वित्व व्यंजनो के ग्रवशिष्ट प्रयोग भी पर्याप्त संख्या में मिलते हैं जो निश्चय हो छंदोनुरोधजनित नहीं हैं (ग्रष्षिर, विचक्खन, जग्गि, मच्छ, उज्जल पट्ट, षड्ड, हड्ड, उत्तिम, नित्ति, सरबत्तरि, ग्रकत्थ, ग्रन्न, पुन्नि, सुन्नि)। व्यंजन द्वित्व का संरक्षण भाषा की प्राचीन प्रकृति का द्योतक है।

१५. तद्भव शब्दों में नभाग्रा काल में ग्राकर पदादि में व्यंजन+रेफ (त्रि, ध्रिग) तथा स्वरलोपजनति नए व्यंजन संयोग भी पाए जाते हैं। कग्र में इनके उदाहरण हैं—क्यूं, क्यारी, ग्वाड़ा ग्रादि (दे० १.३०) पदमध्य में वर्गीय ग्रनुनासिक+स्पर्श का ग्रनुस्बार+स्पर्श (उतंग, कंचन, इंद, कुंभ), वर्गीय ग्रनुनासिक+संयुक्त व्यंजन का ग्रनुस्वार+स्पर्श (तंत, बंझा, थंमै), संयुक्त व्यंजनों का ग्रनुस्वार+स्पर्श (अंषड़िया <ग्रक्षि–), ग्रनुना०+ग्रन्तस्थ का ग्रनुस्वार+स्पर्श (ग्रंब < ग्राम्र) रूप मिलते हैं। इनमें पदादि के प्रयोग भाषा विकास के नए चरण के संकेत हैं।

१६. ग्रर्धतत्सम शब्दों में संस्कृत की संयुक्त व्यंजन ध्वनियां प्रायः सुरक्षित मिलती हैं या उनमें किंचित् परिवर्तन हो गया है। पदादि में ऋ के रि उच्चारण वाले (क्रितम, क्रिपन) रूप, व्यंजन+रेफ (ग्रसै, ग्रहै, प्रकास, प्रगट), स्पर्श+ग्रन्तस्थ (ध्यावै, ग्यान, व्याकरनां, द्वादस) तथा पदमध्य में स्पर्श+ग्रन्तस्थ (आग्या, इकत्र, गाइत्री), ग्रनुनासिक+ग्रन्तस्थ (सुन्य, पुन्य), शिन्+ग्रनुना० (बैष्णों, कृस्न), शिन्+स्पर्श (अदिष्टि), शिन्+ग्रन्तस्थ (ईश्वर, वैस्य) ग्रादि रूप मिलते हैं।

अर्धतत्सम शब्दों में संस्कृत की संयुक्त व्यंजन ध्वनियाँ स्वरभक्ति की प्रक्रिया से बड़े पैमाने पर सरलीकृत हो गई हैं।

नभाआ की ध्वनि संघटना के अध्ययन में तद्भव शब्दों के पदादि में बनने वाले स्वरलोप जनित नए व्यंजन संयोग तथा अर्ध-तत्सम शब्दों और तत्सम शब्दों में संक्रमित हुए संस्कृत के व्यंजन संयोगों का विशेष महत्त्व है।

१७. ध्वनि परिवर्तन संबंधी अन्य विशेषताओं में महत्त्वपूर्ण प्राणता का आगम (चूल्है < चुल्ल, ऊन्हा < ऊण) और लोप (रिदा < हृदय, नाऊँ > √ स्ना, ब्रिसपति < बृहस्पति) दोनों हैं। प्राणता का लोप नभाआ के आरम्भिक काल से ही मध्यदेशीय भाषा में मिलता है जो आगे चलकर खड़ी बोली तथा दक्खिनी हिन्दी की प्रमुख विशेषता बन गया। इसका विपर्यय हिन्दी की पूर्वी विभाषाओं में प्राणता के आगम के रूप में देखा जा सकता है।

(ई) पद-विचार

१. पदरचना की दृष्टि से कग्रं की भाषा कहीं अधिक वैभाषिक विशेषताओं का परिचय देती है। उपसर्गों में तीन प्रयोग विशिष्ट हैं: अण—< अन-(अणआया, अणच्यंता), अण—< अनु- (अणरागी), ब-< वि—(बदेह)। इनमें ण् वाले रूप राजस्थानी के तथा उ और इ के अ परिवर्तन वाली स्थिति पंजाबी के प्रभाव का संकेत है।

२. अनेक रचनात्मक प्रत्ययों में से स्वार्थिक—वा (कउवा, करवा, षटोलबा) अवधी-भोज० के,—आ (अंधा, केला, चौका) खड़ी० के तथा —टा (कूंवटा),—डा (बलींडा),—ड़ा (अंदेसड़ा),—ड़ी (हंसड़ी), —ड़ी (नींदड़ी) राज० के रूपों का संकेत करते हैं।

क्रियाविशेषणों में लगने वाले—इया (तहिया),—उआँ (तहुंआ), —उवाँ (तहुंवां) प्रत्यय अवधी—भोज० की निजी विशेषताएँ हैं।

भाववाचक प्रत्यय—अई (संतई),—आई (अधिकाई),—हाई (हरिहाई) भी अवधी-भोज० में ही प्राप्त होते हैं। इसी तरह लघुताबोधक—इया (निबियां, बहियां, बहुरिया) तथा कर्तृवाचक (बरतिया, लगनिया) भी केवल अवधी—भोज० में ही पाए जाते हैं।

गुणवाचक स्त्री० प्रत्यय—अरिण (बिरहरिण),—अणी (पापणी), —अनि (सांपनि),—अनी (तुरकनी) खड़ी० के रूप हैं जिनपर पंजाबी प्रभाव लक्षित होता है। ये सभी सं०—इनी,—इणी से व्युत्पन्न हैं। —इनी के प्रयोग (बिरहिनी) केवल एकाध स्थलों पर ही पाए जाते हैं।

नपुं० प्रत्यय—ऊ जो सं० —अम् (फलम्) से व्युत्पन्न है और आज भी गुजराती में अप्राणिवाचक शब्दों में पाया जाता है, कग्रं के कतिपय मूलतः नपुं० शब्दों में मिलता है जो यहाँ पुंवत् प्रयुक्त हैं या नपुं० शब्दों के विशेषण हैं (कंचू, लोहू, षांडू)।

संख्यावाचक शब्दों में आवृत्तिवाचक प्रत्यय—णां (दूणां) मिलता है जो राजस्थानी वर्ग से जुड़ा हुआ है।

सं० ल्युट् से निष्पन्न—अण,—अणि आदि प्रत्यय (सुमिरण, मलणि) भी राज० प्रकृति का संकेत करते हैं।

३. कग्रं की भाषा में निर्विभक्तिक या शुद्ध प्रातिपदिकों के कारकीय प्रयोगों के कारण समास प्रक्रिया शिथिल पड़ गई है। वैसे तत्सम और अर्ध-तत्सम शब्दों में समास के दर्शन होते हैं लेकिन उन्हें नभाआ भाषाओं की व्यस्त पद शैली के अनुरूप एक ही पदग्रामिक इकाई मानना ठीक होगा क्योंकि वे मूलतः समस्त पदों से विकसित हैं, नई निर्मिति नहीं हैं। पूर्व तथा उत्तर पद के विचार से कग्रं में विदेशी शब्दों के योग से समस्त पद निर्मित नहीं हुए हैं। उपलब्ध रूप तद्०+तद्० (सोवनकलस), अर्ध०+तद्० (ग्यांनतत्), तत्०+तद्० (गोपालराइ), तद्०+तत्० (अर्षैपद), अर्ध०+तत्०(रिदापंकज), अर्ध०+अर्ध० (ग्यांनद्रिस्टि), तत्०+तत्० (अंकमाल) आदि मिलते हैं। आपाततः तत्०+तत्० कुछ रूप ऐसे मिलते हैं जो संस्कृत के मूल इकाईभूत समस्त पदों से स्वतन्त्र पदों के रूप में ध्वन्यात्मक परिवर्तन के अनुसार विकसित हुए हैं (जगजीवन, जगदेव, जगनाथ)। कहीं-कहीं तीन पदों तक के समास भी मिल जाते हैं पर ये केवल गिनती के हैं (अमृतरसनीझर, रामरतनधन)।

इस प्रकार कग्रं की भाषा सामासिकता के विचार से लोक प्रवाही भाषा का रूप उपस्थिति करती है जिसका सूत्र उक्तिव्यक्ति-प्रकरण तथा तेस्सितोरी द्वारा प्रस्तुत प्राचीन पश्चिमी राज० के

गद्य और १४वीं शती में संग्रहीत प्राकृत पैंगलम् की भाषा से जोड़ा जा सकता है।

४. कग्रं में पुं० प्रातिपादिकों के अकारान्त (अंकुस, काम), आकारान्त (अंधियारा, कूता), इकारान्त (अरोगि, जग्गि), ईकारान्त (अहेड़ी, तेली), उकारान्त (गाउं, पसु), ऊकारान्त (अवधू, आंसू), एकारान्त (पांडे), ऐकारान्त (अनभै, अपरचै), ओकारान्त (बैष्नों, सांठो), औकारान्त (अचंभौ, केसौ) तथा स्त्री० प्रतिपादकों के अकारान्त (अगिन, आस), आकारान्त (आग्या, इंछ्या), इकारान्त (अग्नि, पंषि), ईकारान्त (अंगुरी, कसतूरी), उकारान्त (आउ, सासु), ऊकारान्त (जोरू, बारू), ऐकारान्त (जसवै, देवै, नै, परलै), औकारान्त (छ्यौ, सौ) रूप मिलते हैं। इनमें पुं० आकारान्त खड़ी बोली के, अकारान्त अवधी – भोज० के, ओकारान्त तथा औकारान्त ब्रज, राज० के तत्त्वों का परिचय देते हैं।

५. बहुवचन का बोध कराने के लिए आकारान्त पुं० प्रातिपादिकों में – ए (तारा-तारे), वैकल्पिक रूप में—ऐ (सुपिना-सपिनै) तथा ओकारान्त शब्दों में—आ (तारो-तारा) ईकारान्त शब्दों में–याँ (मोती-मोतियां), सम्बो० में ईकारान्त पुं० में — यां (साइयां, काजियां), अकारांत में—आं (मुरीद-मुरीदां) प्रत्ययों का प्रयोग हुआ है। स्त्री० प्रातिपदिकों में ईकारान्त में— याँ (नदी-नदियाँ), अकारान्त में—ऐं (बसत-बसतैं) तथा—एँ (कूंपल-कूपलें), प्रत्यय प्रयुक्त हैं। इनमें पुं० —ए तथा स्त्री०—इयाँ रूप खड़ी बोली के, पुं०—आ,— यां तथा —आं राज० के तथा स्त्री०—ऐं रूप अवधी के मिलते हैं। इनमें राज० और अवधी के रूप नगण्य है। मूलत: बहुवचन प्रकट करने के लिए खडी० का ढंग अपनाया गया है।

६. कारकरचना की दृष्टि से कग्रं की भाषा पुरानी तथा मध्यकालीन हिन्दी दोनों की विशेषताओं से युक्त दिखती है। इसमें सभी कारकों में निर्विभक्तिक रूपों का खुलकर व्यवहार हुआ है तथा कर्ता के अतिरिक्त सभी कारकों के परसर्गयुक्त प्रयोग भी प्राप्त होते हैं।

इसके साथ ही मभाग्रा काल की ग्रवशिष्ट कारक विभक्तियां भी ध्वन्यात्मक परिवर्तन के साथ मिलती हैं।

ग्रप० के कर्त्ता—कर्म एकवचन की विभक्ति—उ जिसका ग्रवधी में ग्रत्यधिक प्रचलन पाया जाता है, कग्रं में एक स्थान पर भी प्रयुक्त नहीं मिलती। यह तथ्य विभक्तियों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है जो कग्रं की भाषा का झुकाव पश्चिमी हिन्दी की ग्रोर बताता हैं।

७. कग्रं में विकारी कारक रचना निम्नलिखित ढंग की मिलती है:

विकारी एकवचन

तृतीयांत कर्त्ता :—शून्य, —इ, —एँ, —ऐ

कर्म पुं० :—शून्य, —ग्राँ, —ए, —ऐ, —ग्रों, —हि, —हिं

स्त्री :—शून्य, —ऐं

करण पुं० :—शून्य, —इ, —ए, —ऐ, —ऐं, —ह, —हि

—ए+थैं, —ए+सूं

स्त्री० :—शून्य, —ऐ, —ऐं

सम्प्र० पुं० :—शून्य—इ, —ऐ, —ऐं

—इ+लागि

स्त्री :—शून्य

ग्रपा० पुं० :—शून्य—इ, —ह, —हु

स्त्री० :—शून्य

संबंध पुं० :—शून्य, —ए, —ऐ, —ऐं, —ह, —हिं

—ए+की, —ए+का, —ऐं+केर

स्त्री० :—शून्य, —ऐं

ग्रधि० पुं० :—शून्य, —ग्राँ, —ग्राँह, —इ, —ए, —ऐ, —ऐं, —ग्रों

—ह, —हि, —हिं, —हु

—इ+माँहि, —ए+माँहि, —ऐं+माँहि, — हि+माँहि

स्त्री० :—शून्य, —ग्रां, —इ, —ए, —ऐ, —ऐं

विकारी बहुवचन

तृतीयांत कर्त्ता :—आँ,—ऐं,—ओं,—औं,—नि,—ह

कर्म पुं० :—शून्य,—ए,—ह

—आँ+कौं

स्त्री० :—शून्य

—अन+कौं

करण पुं० :—शून्य,—आँ, —इ,—ऊँ,—ऐ,—नि

—आँ+सेती,न+थैं,—नि+सूं

स्त्री० :—शून्य,—इ,—ऊँ,—ओं

—आँ+सूं

सम्प्र० पुं० :—शून्य,—आँ,—नि

अपा० पुं० :—शून्य,—औं

—ओं+मांहि तैं

संबंध पुं० :—शून्य,—आँ,—ऐ,—ओं,—न,—नि

—आँ+की,—आँ+कै,— ओं+ के,— न+को,

—न+के,—न+कै—नि+कै,—नि+को

स्त्री० :—शून्य,—आँ,—इ,—नि

—आँ+को,+आँ—की,—नि+को

अधि० पुं० :—शून्य,—आँ,—आँह,—इ,—ऊँ,—एं, —ऐं

—ओं,—नि

—आँ+मांहि —ऊँ+मैं,—न+पर,—नि+मैं

स्त्री० :—शून्य,—आँ,—ऊँ,=हि,—नि

उपर्युक्त विभक्तियों में—आँ राज—के ओकारान्त और दक्खिनी हिन्दी के आकारान्त प्रतिपादिकों का विकारी रूप है।—ओं खड़ी बोली के आकारान्त शब्दों का विकारी चिह्न है जिसका पुराना रूप —ओं मिलता है। राजस्थानी में विकारी —आँ से पूर्ववर्ती अनुनासिक ध्वनि आने पर—आँ का—ऊँ हो जाता है।—आँह राज० का पुराना रूप है।

—इ तथा—ए विभक्तियाँ हिन्दी की प्राय: सभी विभाषाओं में पाई जाती हैं।

अवधी में—हि,—हिँ रूप चलते हैं जबकि ब्रज में इनकी प्राणता का लोप होकर प्रातिपदिक के अन्त्य—अ से संधि होकर —ऐ, —ऐँ रूप बन गए हैं। वैसे पुरानी ब्रज में – हि, —हिँ और वर्तमान अवधी में – ऐ, —ऐँ रूप प्राप्त होते हैं।

—ह,—हु अपेक्षाकृत पुराने रूप हैं जो पुरानी हिन्दी की रचनाओं तक प्राप्त होते हैं। जायसी, सूर, तुलसी की भाषा में ये अनुपलब्ध हैं।

—न,—नि —न्ह विभक्तियाँ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। पूर्वी हिन्दी में—न,—न्ह,—नि,—न्हि रूप संज्ञा तथा सर्वनाम दोनों जगह पाये जाते हैं किन्तु पश्चिमी हिन्दी में—न्ह,—न्हि वाले रूप केवल सर्वनामों में ही मिलते हैं। कग्र' में भी–न्ह—न्हि का प्रयोग केवल सर्वनाम शब्दों में हुआ है।

८. विभक्त्यंत रूपों के साथ परसर्गों के प्रयोग पीछे दिये जा चुके हैं। ऐसे प्रयोग स्वल्प हैं। विस्तार में परसर्ग शुद्ध प्रातिपदिकों के साथ प्रयुक्त हैं जो भाषा विकास की परवर्ती स्थिति के द्योतक हैं। परसर्गों के विभाषा भेद से निम्नलिखित प्रयोग प्राप्त है :

कर्म—सम्प्र० : का, कूँ, के कै, को, कौँ

संबंध : क, कर, करि, का, की, कूँ, के, केरा, केरी, केरे, केरै, कै, कैँ, को, कौ, कौँ, तणाँ, दा, हंदा

करण—अपा० : तैं, थें, थैँ, पै, पैं, सन, सनि, सूँ से, सेती, सौँ, स्यूँ

अधि० : पै, म, मंझा, मँझारा, मँझारि, मंझि, मधे, मधै, महि, मां, माँझै, माहाँ, माँहिँ, माहैँ, मेँ, मैँ भ्यानैँ

कर्म—सम्प्र० में का, कै, अवधी के; कूँ, कौँ ब्रज और राज० के तथा के और को खड़ी बोली के परसर्ग हैं। सम्प्र० में के खड़ी० में 'लिए' के योग से प्रयुक्त होता है।

संबंध परसर्गों में क, कर, करि, केरा, केरी, केरे, केरैं रूप अवधी के; का, की, के खड़ीबोली के; कूँ, को ब्रज, राज० के सम्मिलित; कौ, कौं ब्रज के, कै, कैं ब्रज, अवधी के, सम्मिलित रूप मिलते हैं। तणाँ, अपभ्रंशकालीन, दा पंजाबी और हंदा मारवाड़ी के प्रयोग केवल अपवाद स्वरूप हैं।

करण—अपा० में तैं, थें, थैं ब्रज तथा अवधी के समान; पै, पैं ब्रज के विशिष्ट; सन, सनि, सेती अवधी के; सूँ, स्यूँ राजस्थानी के; से खड़ी बोली का तथा सौं ब्रज का रूप है।

अधि० में म, तथा माँ अवधी के रूप हैं। माँ का दुर्बल उच्चारण म अवधी की खास विशेषता है जहाँ सम्बन्ध क और अधि० प वाले दुर्बल रूप भी मिलते हैं। में खड़ी बोली का शुद्ध रूप है। पै, मैं रूप ब्रज के हैं। म्यानैं विदेशी है जो फ़ा० मियान में अधि० विभक्ति —ऐ लगकर बना है। अन्य रूप सं० मध्य से व्युत्पन्न है जो सामान्यतः पुराने प्रयोग हैं और केवल काव्य-भाषा में ही मिलते हैं।

६. सार्वनामिक रूप अधिकतर एक से अधिक विभाषाओं में चलते पाये जाते हैं अतएव इनमें कोई स्पष्ट भेदक रेखा नहीं खींची जा सकती। यहाँ केवल वही रूप दिए जा रहे हैं जो किसी एक विभाषा के विशिष्ट रूप हैं।

(क) उत्तम पुरुष सर्वनामों में मैं, हम, मुझ, मेरा, मेरी, हमारा, हमारी, मेरे, हमारे, रूप खड़ी बोली के हैं। हूँ ब्रज—राज० में तथा हौं ब्रज—अवधी में समान है। अवधी के संदर्भ में इसका उच्चारण संयुक्त स्वर वाला—हउँ होगा। औकारान्त रूप हमरौ, हमारौ, मेरौ ब्रज के विशिष्ट रूप हैं। इसी तरह अकारान्त मोर, हमार, दुर्बल रूप हमरै अवधी—भोज० के मिलते हैं। शेष रूप ब्रज—अवधी में समान चलते हैं।

(ख) मध्यम पुरुष सर्वनामों के मूल रूपों में तू, तुम खड़ी में, तू, तूँ, तैं, तुम ब्रज—अवधी में सम्मिलित तथा तुम्ह केवल अवधी में मिलता है। तुम का प्रयोग अत्यन्त सीमित है, इसके लिए तुम्ह

रूप का प्रयोग है। अन्य रूपों में तुझ तुम्हारा, तुम्हारी, तेरा, तेरी, तेरे, तुम्हारे खड़ीबोली के; ओकारान्त तेरो, औकारान्त तेरौ, तुम्हारौ ब्रज के; अकारांत तोर अवधी—भोज० का प्राप्त होता है। शेष रूप ब्रज—अवधी के समान हैं।

(ग) अन्य पुरुष सर्वनामों के मूल रूपों में वह तथा सो खड़ी० के; वह, वो, सु, सो, ते, वै, ब्रज के; वहु, वा (स्त्री०), वौ (वउ), स, सेई अवधी के तथा ऊँ राज० का मिलता है। विकारी रूपों में उस, तिस, उन, तिन खड़ीबोली के तथा तेणि, त्याँह राज० के विशिष्ट प्रयोग हैं। शेष रूप ब्रज—अवधी में सम्मिलित पाए जाते हैं।

(घ) संबंध वाचक सर्वनामों में जो, जिन, जिस खड़ीबोली के रूप हैं। इनमें जो का प्रयोग प्राय: सार्वत्रिक है जो खड़ी के साथ ही ब्रज, अवधी और राज़० में भी पाया जाता है। जे रूप अवधी—भोज० की निजी विशेषता है। इसी तरह ज्याँह केवल राज० में ही मिलता है। शेष रूप ब्रज—अवधी, के समान प्रयोग हैं।

(ङ) प्रत्यक्ष उल्लेख सूचक सर्वनामों में यह, ये (एक तथा बहुवचन), इस, इन खड़ीबोली के; यहु, या (स्त्री०), एह अवधी के; ए (एक तथा बहुवचन०) ब्रज के बिशिष्ट रूप हैं। शेष रूप ब्रज—अवधी के समान हैं।

(च) प्रश्नवाचक सर्वनामों में कौन, किस खड़ीबोली के; को ब्रज तथा अवधी का सम्मिलित; कौंण, काँइ राज० के, कवन, के, किहि अवधी—भोज० के विशिष्ट रूप मिलते हैं। शेष रूप ब्रज—अवधी के समान हैं।

(छ) अनिश्चयवाचक सर्वनामों में औरों खड़ी बोली का; औरां, औरूँ राजस्थानी के तथा केऊ अवधी—भोज० के विशिष्ट रूप हैं। शेष ब्रज—अवधी में समान रूप से प्रयुक्त हैं। इनमें कोई कुछ, और जैसे रूप खड़ी बोली में भी पाये जाते हैं।

(ज) निजवाचक सर्वनाम में आप के ही विभिन्न रूपान्तर हैं। इनमें —ए, —णा,—णें. —णौं वाले रूप राज० के; —नौं वाले ब्रज के, तथा शेष ब्रज-अवधी के समान प्रयोग हैं। इनमें आप, अपना, अपने रूप खड़ी में भी चलते हैं।

१०. सार्वनामिक रूपों में उत्तम और मध्यम पुरुष के अतिरिक्त सभी का विशेषणवत् प्रयोग भी पाया जाता है इन प्रयोगों को छोड़कर सर्व-नाम अंश में —स जोड़ प्रकारवाचक तथा—त जोड़कर परिमाण—वाचक विशेषण बनते हैं। कग्रं में —स मूलक रूपों में आकारान्त ऐसा, जैसा, जिसे, तैसा तथा इनके स्त्री० रूप ऐसी, जैसी, तैसी खड़ी—बोली के, ओकारान्त ऐसो, जैसो तथा ओकारान्त इसौ, ऐसौ, रूप ब्रज के और अकारान्त अस, कस जैसि (स्त्री०) रूप अबधी के विशिष्ट प्रयोग हैं।

—त मूलक रूपों में इतना खड़ी बोली का तथा शेष अवधी —ब्रज के सम्मिलित प्रयोग हैं।

११. संख्यावाचक शब्दों में त्रि, त्री, त्रे, त्रै, पंच, षट, अष्ट, द्वादस, दुवादस, चतुरदस, षोडस, सत, कोटि आदि रूप भाषा की सामान्य प्रकृति से हटे हुए कुछ तो अर्धतत्सम है और कुछ आर्ष प्रयोग हैं जो केवल काव्य-भाषा में ही मिलते हैं।

अवधारणार्थक रूप दून्यूं, तीन्यूं, चार्‌यूं, नऊं, तेतीसूं राजस्थानी के हैं। शेष रूप ब्रज, अंवधी और खड़ी० के समान प्रयोग हैं।

१२. कग्रं में सभी धातुएँ स्वरान्त हैं। ये—अ (√कर, √तज),—आ (√आ, √षा),—ई (√जी, √पी), —ए (√दे, √ले),—ऐ (√षै, √दै),)—ओ (√षो, √बो) अन्तवाली हैं।

उपलब्ध रूपों में सविकरण रूपों से बनी (√नाच, √सुन), कृदंन्तज (√काढ़, √मिट), अनुकरणात्मक (√चिहुट, √चीर), अनुगूंज पर बनी (√उरझपुरझ, √हिलमिल) धातुएँ भी मिलती हैं।

धातुओं के सप्रत्यय रूप भी प्राप्त होते हैं जो मभाआ में ही आकर मिलने शुरू होते हैं —कः √कूक, √फूक, √रोक;—ड़ :

√अमड़,—र: √बिडर,—ल: √कुरल,—ओट: √धबलोट

संस्कृत की णिजन्त धातुएँ प्राकृत काल से ही प्रेरणा का अर्थ छोड़कर सकर्मक रूपों के समान चलने लगी थीं। कग्र' में इस तरह की अनेक सकर्मक धातुएं णिजन्त रूपों से विकसित मिलती हैं जो —अय् अथवा—आपय् वाले रूपों से आई हैं।

१३. णिजन्त रूपों से प्रेरणा का अर्थ लुप्त हो जाने पर नभाआ में नए सिरे से प्रत्यय का योग कर के प्रेरणार्थक रूप बनाए गए हैं। कग्र' में इस अर्थ में ६ प्रत्यय मिलते हैं: —आ, —या, —वा, —ला, —आव, —लाव। इनमें —या (पियावै), —वा (षवाई, छुवाऊं), वाले रूप हिन्दी की पूर्वी विभाषाओं में ही चलते हैं। द्विगुणित णिच् वाला रूप —लाव (<—आल् +—आप्) अवधी, भोज० तथा असमिया में मिलता है। ये पूर्वी प्रकृति के संकेत हैं।

१४. नामधातु बनाने की दो पद्धतियाँ मिलती हैं: —आ प्रत्यय के योग से (पीर—पिरानीं, बात—बतावै, मँद—मँदानी)। दूसरा ढ़ंग शुद्ध प्रातिपदिक रूपों में तिङ्. या कृत प्रत्यय लगाकर बनाने का है (अंगिया, चीन्हैं, नमसकारूं)। कृदन्त रूपों से भी कुछ नाम धातुएं आई हैं (दाधा, दगध्या)। कुछ विदेशी शब्दों से भी ना० धा० बनाई गई है (क्राहै=कराहै —कराहत, निवाजै—नवाज)।

१५. सहायक क्रियाओं में 'ह' मूलक हूँ रूप खड़ी० का; हों, हौ ब्रज—अवधी के समान मिलते हैं। है, हैं का प्रयोग सार्वत्रिक है। 'थ' मूलक था रूप शुद्ध खड़ी० का है। थौ ओकारान्त क्रिया के साथ प्रयुक्त ब्रज का रूप है (आयौ थौ)। थहाँ सहायक क्रियागत √रह से बने प्रयोग अपवाद रूप में भी नहीं मिलते जो अवधी—भोज० की प्रमुख विशेषता हैं।

सत्तार्थक क्रियागत अनेक प्रयोगों में सं० √अस् से विकसित हों, हौ, है, हैं रूप सार्वत्रिक हैं; आहि, आहीं रूप अवधी के हैं। √हो और √रह से संबद्ध सत्तार्थक रूप भी ब्रज—अवधी में समान मिलते हैं। सं√ऋक्ष् से बने अछै, छै, छताँ रूप गुजराती के संकेत हैं। √भू से विकसित रूपों में भयौ, हता, हुता रूप ब्रज के, भया, भई, भये रूप अवधी के मिलते हैं। √स्था से विकसित थी, थे

रूप खड़ी० के, थो ब्रज का है। 'था' धात्वंश में भवि० चिह्न —सी जोड़कर थासी रूप भी बनाया गया है जो राज० में मिलता है। इसी तरह राज० का एक और संकेत √भू के धात्वंश 'भ' में भवि० अन्य० एक० का चिह्न —ला जोड़कर बनाए गए भैला रूप में देखा जा सकता है

१६. वर्तमान निर्देशक प्रकार के उत्तम पुरुष एक वचन में —उँ, —हुँ, —ऊँ, —ओं तथा —औं,—यूँ, —हीं रूप मिलते हैं। इनमें—ऊँ (आऊं, करूं) रूप ब्रज, राज० तथा खड़ी० के;—उँ (करउं, जाउं), —औं (ल्यावों) रूप अवधी के; —ओं (आवौं, करौं) अवधी-ब्रज के समान मिलते हैं। —हुँ (करहुं), —यूँ (मेल्यूं) रूप क्रमशः —उँ और —ऊँ वाले रूपों के ह तथा य श्रुतिगत प्रयोग हैं। ह वाले रूप अवधी तथा य वाले राज० के विशिष्ट प्रयोग हैं।

मध्यम पुरुष एक वचन के चिह्न —सि, —हि, —इ, —ए, —ऐ, —हु, —ओ, —ह मिलते हैं। इनमें —सि (करसि, जरसि), —हु (जपहु, देहु) अवधी के ; —इ (जोइ, धोइ), —ऐ (करै), —ओ (दरवो, पकरो) ब्रज के;—ए (करे) खड़ी० का; —हि (जपहि) ब्रज —अवधी के समान रूप हैं। —ह (लेह) अप० —अह <प्रा० —ह <सं०—थ से विकसित है और पुराने प्रयोग का संकेत है। इनमें —सि तथा —इ वाले रूपों का प्रयोग विस्तार में है, —ए, —ऐ वाले रूप थोड़े ही हैं।

अन्य पुरुष एक वचन में —शून्य, —इ, —हि, —ए, —ऐ चिह्न प्राप्त होते हैं। इनमें —हि (कथहि, देहि) ठेठ अवधी तथा —ए (जाने,पड़े) खड़ी० के रूप हैं। —इ (षाइ, बिकाइ) ब्रज-अवधी के सम्मिलित प्रयोग हैं। —ऐ (आवै, आदरै) रूप भी अवधी-ब्रज के समान हैं। ब्रज के संदर्भ में —ऐ का उच्चारण विवृत तथा अवधी में संयुक्तस्वरमूलक होगा।

इस वर्ग में —शून्य (उचार, रह) रूप भी मिलते हैं। ये अवधी के विशिष्ट प्रयोग हैं।—ऐ का प्रयोग सर्वाधिक है, —हि,-इ अपेक्षा-

कृत काफ़ी कम हैं। शून्य की संख्या नगण्य है।—ए रूप केवल नमूने भर के प्राप्त हैं।

इस वर्ग में क्रियापद के साथ सहायक क्रिया है तथा था का प्रयोग भी फुटकल रूप में मिलता है ऐसे प्रयोग राज० और व्रज में मिलते हैं। इन में भी दो तिङन्तों का प्रयोग केवल पश्चिमी विभाषाओं में ही मिलती हैं —षेलै है, जाइ था।

अन्य पुरुष वहुवचन के —ईं, —हिं, —हीं, —एँ, —ऐं, चिह्न मिलते हैं। इनमें —हिं (करहिं, जाहिं), —हीं (जाहीं, अन-षाहीं) रूप अवधी के हैं। —ऐं (आवें, उपजें) रूप व्रज का तथा—एँ (पीवें) खड़ी बोली का है। —इं जिसका बलाघातजनित रूप —ईं (जाई, पावई) मिलता है पश्चिमी प्रकृति का परिचायक है। अवधी में ये रूप बहुत वाद में चले हैं, तुलसी-जायसी के यहां ये नहीं प्राप्त होते। अतएव इन्हें प्रा० प० रा० से जोड़ना होगा जहां इसका प्रयोग विस्तार से मिलता है।

१७. आज्ञा प्रकार में मध्यम पुरुष एक वचन के —चिह्न —शून्य, इ, —हि, —ह, —हु, —उ, —ओ, —औ,—व मिलते हैं। आज्ञा में शून्य रूप (धार, रह, लाद) सार्वत्रिक हैं। —इ (आंणि,उठाइ) तथा —हि (न्हांहि, संबाहि) रूप प्राचीन व्रज में प्राप्त होते हैं जहां —हि रूप केवल दीर्घ स्वरान्त धातुओं में ही प्रयुक्त हैं। कग्रं इन रूपों को लेकर ठीक व्रज का अनुसरण करती है। वैसे —हि रूप अवधी में भी विस्तार से मिलते हैं लेकिन वहाँ इनका प्रयोग सीमित नहीं है। —उ (चलु, कहु) तथा —हु (करहु, गावहु) रूप व्रज-अवधी के समान हैं। —ओ (जलावो, बताओ) खड़ी० तथा पूर्वी रा० के रूप हैं और —औ (उठावौ, उतारौ) रूप अपने विवृत उच्चारण में व्रज के संकेत हैं। —व (आव, षाव, जाव) रूप अवधी के विशिष्ट प्रयोग हैं।

१८. विधिप्रकार में उत्तम पुरुष तथा अन्य पुरुष के रूप वर्तं० निर्दे० के इन्हीं रूपों से भिन्न नहीं हैं। मध्यम पुरुष में भी —ऐ,—हिं रूप वर्तं० निर्दे० वाले ही हैं। इस प्रकार मध्यम पुरुष एक वचन के विध्यर्थ में प्रयुक्त ये चिह्न बच रहते हैं :—इये,—इए,—इयैं,—ईजौ, —ईजैं,—ईजियैं,—ईजिए। इन में—इये (कहिये, ठगिये) तथा इसका श्रुतिरहित रूप —इए (करिए, जाइए) खड़ी०, ब्रज तथा अवधी में समान हैं। श्रुतिरहित रूप अपेक्षाकृत परवर्ती हैं। —इयैं (अनंदियैं, जरियैं) संधिज विवृत रूप है जो ब्रज तक सीमित है। इसी तरह —ईजौ (लीजौ) भी केवल ब्रज में मिलता है।—ईजैं (करीजैं, कीजैं) ब्रज-अवधी में समान रूप से प्रयुक्त है।—ईजियैं (पीजियैं)—संधिज विवृत रूप ब्रज का तथा—ईजिए (कीजिए) संधिज संवृत रूप खड़ी० का है।

१९. भविष्यत् काल के रूपों की दृष्टि से कग्रं की भाषा अत्यन्त समृद्ध है। यहाँ 'ह' मूलक (उ० एक०—हौं,—हूँ, उ०बहु०—हैं ; मध्य० एक० —हौ; अन्य० एक० —है ; अन्य० बहु० —हैं, —हीं) रूप ब्रज-अवधी के समान मिलते हैं। इनमें—हूँ में भविष्यत् चिह्न —ह में उ० एक० का —ऊँ जुड़ा है जो राजस्थानी में ही पाया जाता है। 'ब' मूलक (मध्य० एक०—बौ) रूप अवधी-भोजपुरी के हैं। 'स' मूलक (उ० एक० —स्यूँ ; अन्य० एक० —सी) तथा 'ल' मूलक (अन्य० एक० —ला) रूप राजस्थानी के हैं। 'ग' मूलक कृदन्तज रूप (उ० एक० —गा, —गी ; उ० बहु० —गे ; मध्य० एक०—गा, —गौ —गी ; मध्य० बहु० —गे ; अन्य० एक —गा, —गौ, —गी; अन्य० बहु० —गे) खड़ीबोली के हैं। इनमें ओकारांत —गौ वाले रूप ब्रज के है जो दक्खिनी हिन्दी में भी पाए जाते हैं।

२०. कर्मवाच्य के पाँच प्रकार के प्रयोग पाए जाते हैं :

१. सकर्मक क्रियाओं के भूत कृदन्त वाले कर्मणि प्रयोग सर्वाधिक हैं। जहाँ कर्म का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता वहाँ भावे प्रयोग भी मिलते हैं। ये कर्मणि प्रयोग मध्यदेशीय और पश्चिमी नभाआ

भाषाओं की प्रमुख विशेषता हैं। हिन्दी के संदर्भ में ये पूर्वी और पश्चिमी विभाषा के बीच प्रमुख भेदक तत्त्व हैं। पश्चिमी हिन्दी में कर्मणि प्रयोग चलते हैं जबकि पूर्वी में भूकृ० रूप के साथ पुरुष वाची प्रत्यय जोड़कर कर्त्तरि प्रयोग बना लिए गए हैं। कग्र में ऐसे कर्त्तरि प्रयोग नमूने के उपलब्ध हैं।

२. प्राभाआ के कर्मवाच्य प्रत्यय —य से विकसित —इये, —इए, —इयै तथा — ईजै रूप मिलते हैं। चाटुर्ज्या ने कर्मवाच्य रूपों के आधार पर —इज्ज और —ईय दो वर्ग बनाए हैं। —इज्ज वर्ग में राज० तथा —ईय में पुरानी पंजाबी, पुरानी कोसली और पुरानी बँगला हैं। कग्र में अधिकतर —ईय वर्ग के चिह्न प्रयुक्त हैं।

३. —इय चिह्न में —त (शतृ) प्रत्यय जोड़कर भी कर्मवाच्य बनाया गया है (कहियत, देषियत)। ये मध्यकालीन ब्रज-अवधी के समान प्रयोग हैं।

४. —आन (भुलांन), —आना (उड़ाना), —आनौ (बिकानौं), —आनिया (भुलानिया), —आनी (मंदानी), —आणी (उड़ाणी), —आने (पछिताने), तथा —आनै (तुरानै) रूप अवधी की विशिष्ट प्रकृति के संकेत हैं। इनमें ओकारांत —आनौ रूप ब्रज का है तथा —आणी राज० का आभास उत्पन्न करता है। ये रूप दो प्रकार के हैं—कुछ तो मूल धातु में —आ— विकरण के योग से बने हैं और कुछ नामधातु जनित हैं। सक्सेना के अनुसार जायसी, तुलसी और नूरमुहम्मद में प्राप्त ये रूप ना० धा० से ही संबद्ध हैं। किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि ना० धा० के समानान्तर धातु रूपों से भी ये रूप बनने लगे होंगे। तुलसी, जायसी में मूल धातु से बने रूप भी प्राप्त होते हैं। इन रूपों से भावे अर्थ ही अभिप्रेत है इसलिए कि भूकृ० मूलतः भावे और कर्मणि प्रयोगों में ही पाए जाते हैं।

५. संयुक्तक्रियामूलक कर्मवाच्य (सह्या न जाइ, लषी न जाइ) भी मिलते हैं जो प्राचीन ब्रज और प्राचीन अवधी में भी हैं। वर्तमान खड़ी० में कर्मवाच्य का यही एक रूप बच रहा है।

२१. वर्तमान कृ० के रूप पुं० एक० में —अत,—अता, —अतौ,—अति, —अंत,—अंता; पुं० बहु० में—अत, —अते —अति, —अंत तथा स्त्री० एक० में —अती,—अत मिलते हैं। इनमें—अता (करता), —अती (जीवती),—अते (कहते) विशुद्ध खड़ी० के;—अंत (जीवंत, फलंत), —अंता (माल्हंता) राज० के ; —अतौ (जागतौ-केवल एक प्रयोग) ब्रज — राज० का समान ; —अति (बरति रह्या संसार, ना तल तपति) अवधी का तथा —अत (दाझत, जागत) ब्रज का रूप मिलता है। इन रूपों का प्रयोग वैशिष्ट्य मध्यकाल से दिखाई देने लगता है जहाँ इनके साथ सहायक क्रिया का प्रयोग शुरू हो गया है जिससे इनके वचन (जहाँ अलग से प्रत्यय का योग नहीं है जैसे—अत) का बोध होता है। जहाँ सहायक क्रिया का प्रयोग नहीं मिलता वहाँ कर्त्ता से लिंग-वचन का निर्धारण होता है।

इन रूपों में हूँ, हौं, है, हैं जोड़कर सामान्य वर्तमान काल बनता है। लेकिन सहायक क्रिया रहित प्रयोग ही अपेक्षाकृत अधिक हैं। तुलसी और जायसी की भाषा में भी रहित प्रयोग का ही बाहुल्य है। इसी तरह था के योग से अपूर्णभूत का केवल एक उदाहरण प्राप्त है। तात्कालिकता द्योतक √ रह के विभिन्न रूपों के प्रयोग अच्छी संख्या में मिलते हैं।

वर्त० कृ० का प्रयोग क्रिया की अपूर्णता द्योतन के लिए भी होता है। खड़ी० में ऐसे स्थानों पर—ता का—ते आदेश हो जाता है। इतर विभाषाओं में विकार नहीं भी होता है। उपलब्ध रूपों में —अंतड़ा (करंतड़ा),—अंती (धवंती),—तैं (चलतैं),—ताड़ी (सींचताड़ी),—ताँ (षाताँ—विकारी) विशिष्ट हैं जिनमें—तैं अवधा० —हिं के योग से बना है शेष रूप राज० के हैं।—ते (करते, मरते) खड़ी० का विकारी रूप है।

२२. भू० कृ० के रूप पुं० एक० में—आ (उतारा, देषा), पुं० बहु० में—ए (उजारे) इसका लिप्यंतरण—ये (षाये), स्त्री० एक०—ई (उठी), स्त्री० बहु०—ईं (आईं) खड़ी० के हैं।—आ का रूपान्तर—या भी मिलता है जो दीर्घ स्वरान्त धातुओं में विश्लिष्ट रूप में रहता है

(आया, दिया) किन्तु अकारान्त धातुओं में अन्त्य—अ के लोप हो जाने से यह रूप संश्लिष्ट बन जाता है (देष्या, घर्या)। ये रूप अपेक्षाकृत पुराने हैं ।—वा (उठावा, षावा) तथा-न्ह,-न्हा,-न्हीं,-न्हें रूप अवधीके हैं। —शून्य रूप (लाग) अवधी—भोज० वाला है। इसका समापिका क्रियागत प्रयोग अत्यन्त सीमित है, विशेषणीय प्रयोग भी दो चार ही मिलते हैं। अप० —ण्ह से अवधी में—न्ह वाले रूप आए हैं जब कि प्राचीन ब्रज में—न वाले रूप मिलते हैं। किन्तु सूर की भाषा में—न्हों,—न्हौं रूप भी हैं। इस दृष्टि से कग्रं के—न्हों —न्हौं रूप (कीन्हों, दीन्हौं) ब्रज के ठहरते हैं ।—न वाले (दीन, लीना, कीनों, लीनौं) ब्रज के हैं। वैसे वर्त० अवधी में—न्ह की प्राणता लुप्त हो कर—न रूप बच रहे हैं। ब्रज के अन्य रूप—यो (गह्यो),—औ (परौ, थाकौ),—यौ (आयौ, दीयौ) हैं जो पूर्वीराज० में भी चलते हैं—इया राज० में बहु० रूप है, कग्रं में इसका एक० में भी प्रयोग है (एक०—अलूझिया, बहु०—राचिया)।—इयौ(मिलियौ) ब्रज—राज० का पुराना रूप है।—इयाँ (कुरलियां)—यो,—यौवाले रूपों का विकारी रूप है।

इन रूपों के अतिरिक्त—इय (माँडिय) प्राचीन रूप,—ठ (दीठ बूठा, दीठी) सं०—ष्ट से व्युत्पन्न संस्कृत कृदन्त रूपों का अवशेष,—द्ध,—धा (षध, लाधा) मारवाड़ी—गुजराती के,—ल (राषल,-पावल) भोज० तथा अन्य पूर्वी भाषाओं के तथा—ता (कीता) पंजाबी का मिलता है। इनमें—ठ वाले रूप कुछ अधिक हैं, शेष केवल नमूने के प्राप्त होते हैं।—ता केवल एक प्रयोग है।—वौ विशिष्ट प्रयोग है (मूवौ) जिसमें 'व' श्रुति पूर्वी तथा औकार पश्चिमी विभाषा के तत्त्व एक साथ मिल गए हैं। —यौं (आयौं), —यूँ (जन्यूँ) पुरुषवाची सर्वनाम अश युक्त रूप हैं जो अवधी में मिलते हैं। इसमें 'जाण्यौं प्रयोग अनियमित हैं कि अवधी में 'ए' ध्वनि का अस्तित्व नहीं है।

भू० कृ० में सहा० क्रिया है के योग से पूर्ण वर्तमान (व्याहि चले हैं), था थौ के योग से पूर्ण भूत (आयौ थौ, बजर था

तूटा) का भी निर्माण किया गया है।

२३. पूर्वकालिक क्रिया के निर्माण के तीन ढंग मिलते हैं:

१. असंयुक्त रूप: इनमें—शून्य (ले, छक) खड़ी० के,—इ (आइ, करि) अवधी—ब्रज के समान,—य (चेत्य, साज्य)—इ के लिप्यंतरण हैं। आकारान्त धातुओं में—य रूप (लगाय, होय) ब्रज की विशेषता है। —ऐ (लै) रूप ब्रज का है जिसके प्रयोग सीमित हैं। अकारान्त धातुओं में—ऐ रूप (कै) अवधी का संयुक्त स्वर मूलक—कइ है।

२. संयुक्त रूप: इनमें—इ+करि (आइकरि) ब्रज—अवधी का समान;—इ+कै (धोइकै) तथा—इ+क (सूकिक) अवधी के, —इ+नैं (आइनैं, कवीनै) गुजराती का तथा—इ+र (पैसिर) राज० का रूप मिलता है। शून्य+शून्य (देदे) खड़ी० वाला है। क, नैं, र तथा शून्य वाले प्रयोग अत्यन्त सीमित हैं। विस्तार में करि, कै वाले रूप प्रयुक्त हैं।

३. मध्यम अवधारणार्थक प्रत्यय सहित रूप:—ए+इ (चुणे चुणि); —ऐ+इ (धुनैं धुनि);—इ+हि+इ (रचि ही रचि) रूप भी मिलते हैं।

२४. क्रियार्थक संज्ञा के प्रत्यय तीन स्रोतों से विकसित हुए हैं:

१. सं०—अन से संबद्ध रूपों में—ण (कहण),—णा (कथणां), —णौ (पेषणौं),—णे (करणें),—णैं (पेषणैं) रूप राज० के;—न (करन, कहन) अवधी—ब्रज के और—नैं (मरनैं) ब्रज का रूप है।

२. सं०—तव्य से संबद्ध—बा (पढ़िबा),—बो (जाइबो),—बौ (पाइबो),—बे (कहिवे) रूपों में—बा अवधी का—बो,—बौ ब्रज —राज० के तथा—बे अवधी—ब्रज का समान विकारी रूप है।

३. संस्कृत भावे क्त से संबद्ध—या,—यौ,—आँ,—याँ,—वाँ,—इयाँ,—ए, —एँ,—ये,—येँ,—ऐ,—ऐँ,—यैँ,—ईँ,—य, तया—ले चिह्न मिलते हैं। इनमें—आँ,—याँ—इयाँ (काटाँ कीयाँ, पड़ियां) ओकारान्त कृदन्तों के विकारी रूप हैं जो राज० में चलते हैं।—वाँ (हुवाँ)—आँ का श्रुतिगत रूप है।—ए (छिटके, डूबे) आकारन्त का खड़ी० वाला

विकारी रूप है।—एँ (सीखें), —ऐ (अबोलै),—ऐं (षोजैं) व्रज के प्रयोग हैं।—येँ—यँ—इनके लिप्यंतरण हैं।—ले (मुसले) भोज० का प्रयोग है।

२५. अव्यय शब्दों के विकास की दृष्टि से सात वर्ग हैं: तत्सम रूप; विकसित रूप—तद्० और अर्धतत्०; सार्वनामिक रूपों से बने; संज्ञा शब्दों से बने, विशेषणों से बने; क्रिया पदों से बने तथा विदेशी स्रोत से आए।

रूप रचना की दृष्टि से ये तीन प्रकार के हैं: प्रत्यय रहित; —इ,—ई,—ए—ऐ,—ऐं—प्रत्यय युक्त रूप तथा परसर्ग युक्त रूप। इनमें प्रत्यय और परस ं युक्त रूप इस बात का संकेत है कि ये मूलत: सुबंत रूपों की भाँति विकसित हुए हैं तथा उनसे करण—अधि० का बोध भी कराया जाने लगा है।

(ई) शब्द समूह

१. प्रयोगावृत्तियों को छोड़ते हुए, ना० प्र० 'क' प्रति के हस्तलेख से मिलान करके निर्मित कग्रं० के शब्दकोश की सम्पूर्ण सब्द संख्या लगभग ५००० है। इसमें नाम प्रातिपदिकों, धातुओं और अव्यय शब्दों के अतिरिक्त रचनात्मक प्रत्ययों और उपसर्गों से बने भिन्नार्थ द्योतक शब्द भी लिए गए हैं। सर्वनामों के मूल और उनके विकारी रूप गणना में स्वतंत्र स्वीकार किए गए हैं किन्तु संज्ञा और विशेषण प्रातिपदिकों के लिंग वचन, कारक और धातुओं के तिडन्त—कृदन्त भेदों को मूल शब्द—रूट वोकेबुल—मे ही अन्तर्भुक्त कर दिया गया है। समस्त पदों को पूर्वपद वाले शब्द के साथ ही स्थान दिया गया है।

यह शब्द कोश आठ तत्त्वों से समन्वित है—जिनका प्रतिशत इस प्रकार है: तद्भव—५६.७६, अर्धतत्०—१७.०४,तत्०—७.००, ऋण—५.९६, देशज—३.९४, विदशी—७.४०, अनुकरणात्मक तथा अनुगुंजक—१.१६ और प्रश्नांकित—०.७४।

२. भाषा की सहज विकास प्रक्रिया से प्राप्त तद्भव और लोक प्रवाह में प्रचलित देशज शब्दों का अनुपात ऋण—तत्०—अर्धतत्० शब्दों की

सम्मिलित संख्या के संदर्भ में २:१ का है। यह तथ्य इस ओर संकेत करता है कि कग्रं की रचना के समय तक भाषा में तत्समीकरण की बाढ़ नहीं आई थी—जो कबीर के कुछ ही वाद रचित वैष्णव भक्ति साहित्य में मिलती है। हालां किं इसमें सन्तों की ब्राह्मण धर्म विरोधी विशिष्ट परम्परा का भी प्रभाव है किन्तु विद्यापति (सं० १४६० में वर्तमान) के शास्त्र सम्मत भक्ति और श्रृंगारी काव्य की भाषा में भी कग्रं से भी अधिक तद्भव प्रवृत्ति का मिलना तत्कालीन सामान्य काव्य-भाषा की निश्चित विकास स्थिति का सूचक है। सूर की भाषा से तत्समीकरण कीं शुरुआत होती है और तुलसी की भाषा में इसका पूर्ण विकास मिलता है।

इस प्रकार तद्भव—देशज शब्दावली का अनुपात कग्रं की भाषा को विक्रम की १५वीं-१६वीं शताब्दी का सिद्ध किया जा सकने प्रबल आधार है।

३. कग्रं में प्राप्त ऋण, तत्सम और अर्धतत्० शब्द भाषा की संक्रमण-कालीन स्थिति के संकेत हैं, साथ ही वे साहित्य क्षेत्र में ब्राह्मण चिन्तन के पुनर्प्रसार की भी सूचना देते हैं। भारतीय आर्य भाषाओं के अध्येताओं ने बताया है कि नभाआ का जन्म संस्कृत के वातावरण में हुआ है। वैष्णव भक्ति, दर्शन और साहित्य शास्त्र के क्षेत्र में नए विषयों के प्रातिपादन में दुरूहता के कारण नभाआ को संस्कृत से सीधे अच्छी संख्या में शब्दों को ग्रहण करना पड़ा है। इन शब्दों का अनुपात लगभग ५० प्रतिशत तक पाया जाता है। कग्रं से पूर्व की रचनाओं में यह प्रवृत्ति मिलती अवश्य है किन्तु केवल बीज रूप में, जब कि बाद की रचनाओं में इस प्रवृत्ति का अनुपात बहुत अधिक बढ़ गया है।

४. मध्यदेशीय काव्य-भाषा में विदेशी स्रोत के शब्द पर्याप्त संख्या में पहली बार कग्रं में प्राप्त होते हैं। इसके पूर्व उक्तिव्यक्तिप्रकरण और प्राकृतपैंगलम् जैसी पुस्तकों में ये केवल नमूने के प्राप्त होते हैं जबकि कीर्त्तिलता और वर्णरत्नाकर में कुछ अधिक हैं। किन्तु नभाआ

भाषाओं द्वारा विदेशी शब्दावली को बड़े पैमाने पर आत्मसात् कर लेने की स्थिति पहली बार कग्रं की रचना के समय बनी जो आगे निरन्तर विकसित होती रही।

कग्रं की विदेशी शब्द सूची में परिभाषिक और धार्मिक महत्त्व के शब्द थोड़े ही हैं। यद्यपि सूफ़ीमत कौर इस्लाम का प्रभाव कबीर पर गहरा है फिर भी जायसी के अखरावट और आखिरीकलाम की भाँति कग्रं में धर्म और सम्प्रदाय के शब्दों की वेतरतीब भरती नहीं मिलती बल्कि ये शब्द ऐसे हैं जो बृहत्तर क्षेत्र में समझे-बोले जाते थे। ये विदेशी शब्द तद्भव और तत्सम दोनों कोटियों के मिलते हैं।

५. कग्रं के ध्वन्यनुकरणात्मक शब्द नभाआ की अपनी निर्मिति की सूचना हैं क्योंकि नभाआ में कोल, मुण्डा, द्राविड़ भाषाओं से आए और लौकिक संस्कृत में ग्रहण कर लिए गए अनुकरणात्मक शब्द आज नभाआ के लिए तत्सम बन गए हैं— यथा झङ्कार, निर्झर आदि से बने झंकार, नीझर आदि शब्द।

अनुगूँज या प्रतिध्वनि शब्द नभाआ में खुल कर प्रयुक्त होते हैं। यह प्रवृत्ति भाषा प्रवाह के नभाआ क्षेत्र में आगे बढ़ जाने का संकेत है।

ख. भाषा संबंधी विभिन्न मत

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि कग्रं की भाषा का बुनियादी ढाँचा मात्रागत आनुपातिक क्रम में ब्रज—अवधी—खड़ी०—पूर्वीराज० के तत्त्वों से निर्मित हुआ है तथा जिसमें स्फुट रूप से पश्चिमी राज० और भोजपुरी के और अपवाद रूप में पंजाबी और गुजराती का भी पुट मिलता हैं। इसका उल्लेख समय-समय पर विद्वानों ने किया हैं कि कबीर की रचनाओं में एक से अधिक भाषाओं के तत्त्व हैं। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि विभिन्न भाषाओं-विभाषाओं के मिश्रण का कारण क्या है? कग्रं की भाषा के स्वरूप और कालानुक्रम में उसकी प्राचीनता के सम्बन्ध में किसी निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए इस प्रश्न का हल किया जाना बहुत ज़रूरी है।

प्रायः ऐसा बताया जाता रहा है कि कबीर अशिक्षित थे जिससे उन्होंने भाषा के सम्बन्ध में सावधानी नहीं बरती या काशी जैसे तीर्थ में रहने और अपनी पर्यटक वृत्ति के कारण वे अनेक क्षेत्रों के साधु-सन्तों के सम्पर्क में आये और उनकी भाषा अनेक तत्त्वों से युक्त हो गई या कबीर ने

रचना मूलतः भोजपुरी में ही की, मौखिक परम्परा में होने के कारण उसके अनेक रूपान्तर बनते गए अथवा प्रचार सौकर्य के लिये भोजपुरी से पछाहीं में अनूदित कर दी गई या कबीर की बानियाँ काव्य-भाषा की एक बंधी हुई सुस्पष्ट परम्परा में हैं जो सिद्धों, नाथयोगियों, महाराष्ट्र के प्राचीन सन्तों तथा कबीर के बाद अन्य निर्गुनियाँ सन्तों को एक सूत्र में बाँधती हैं, यह तांत्रिक, योग और निर्गुण साधना के साहित्य की भाषा है तथा यह काव्यरूपों के भेद से बदली हुई मिलती है। इस तरह अनेक प्रकार से विद्वानों ने अपने मत प्रकट किये हैं। यहां पहले उपलब्ध मतों को देख लेना होगा।

(अ) मिश्रित भाषा

कग्रं की भाषा पर विचार करते हुए सर्वप्रथम डॉ० श्यामसुन्दर दास ने बताया कि कबीर की रचनाओं में कई भाषाओं के शब्द मिलते हैं। रूप रचना की संक्षिप्त चर्चा करते हुए संकेत किया है कि ब्रजभाषा, खड़ीबोली, अवधी, राजस्थानी, बिहारी, पंजाबी, बँगला के रूप कग्रं में प्राप्त होते हैं। इसी तरह जेम, ससिहर आदि अपभ्रंश के पुराने रूपों तथा अरबी-फारसी के अनेक शब्दों का कारण बताते हुए उन्होंने कबीर की भाषा-व्याकरण की अस्थिरता, जानबूझकर प्रयोग करना, शब्द भण्डार की कमी आदि सम्भावनाएं व्यक्त की हैं।[1] वैसे कग्रं की भाषा में जो पंजाबीपन दीख पड़ा है उसका कारण उन्हें पंजाबी साधुओं की संगति का प्रभाव अथवा लिपिकार का दोष समझ पड़ता है।[2]

डॉ० दास द्वारा प्रस्तुत यह विश्लेषण—'पंचमेल खिचड़ी' तथ्यपूर्ण अवश्य है (वैसे कुछ विशिष्ट रूपों—दाझन ($<\sqrt{}$ दह्य) को अनियमित, जेम, ससिहर को शुद्ध अपभ्रंश तथा प्रगट > प्रकट, उपकारी > उपगारी को मनमाना परिवर्तन बताने से असहमत हुआ जा सकता है) किन्तु उनके द्वारा अनुमानित कारण निश्चय ही विवादास्पद हैं। केवल इस अनुमान को छोड़कर कि यह लिपिकार का दोष हो सकता है। किन्तु जैसा कि देखा जा चुका है पंजाबी के तत्त्व एकाध जगह ही मिले हैं तथा जिसे डा० दास पंजाबीपन समझे हैं वह वास्तव में राजस्थानी प्रभाव है और उसे हर स्थिति में लिपिकार का ही दोष नहीं माना जा सकता। हस्तलेख में आद्यन्त लिपिकार की स्वेच्छा ही करार दे दी जाय, यह तर्क कुछ जँचता नहीं। इसका कारण कहीं अन्यत्र ही ढूँढना होगा।

---

१. कग्रं०, प्रस्तावना, पृ० ६६-६८

२. वही, भूमिका, पृ० ६-७

(आ) पूरबी : भोजपुरी अथवा अवधी

कबीर और प्रमुखतः कबीर-ग्रंथावली की भाषा को पूरबी—भोजपुरी अथवा अवधी बताना भाषा और साहित्य सरणियों के विपरीत पड़ता है। इसे तथ्य रूप में स्वीकार किया जाता है कि कबीर शिक्षित न थे और उनका अधिकांश जीवन काशी में बीता है जो भोजपुरी—अवधी की सीमा पर स्थित है। अतएव कबीर की मातृभाषा पूरबी—भोजपुरी अथवा अवधी (मोटे तौर पर बनारसी बोली) रही होगी। इस आधार पर डा० रामकुमार वर्मा ने कल्पना की है कि शिक्षित न होने कारण बनारसी बोली के अतिरिक्त अन्य किसी साहित्यिक भाषा में काव्य-रचना करना कबीर के लिए सम्भव न था और उनकी बनारसी बोली की बानियों का प्रचार और प्रसार के लिए ब्रज-खड़ी० में अनुवाद कर दिया गया है जिससे उनके सिद्धान्तों का प्रचार पश्चिम में पंजाब से लेकर बंगाल तक और हिमालय से लेकर गुजरात तथा मालवा तक हो सके।[1] इसी तरह डा० उदयनारायण तिवारी ने भी कबीर की मूल भोजपुरी बानियों का प्रचारात्मक उद्देश्य के लिए पछाँह की साहित्यिक भाषाओं में रूपान्तर होना बताया है क्योंकि उस समय भी आज की भाँति भोजपुरी का साहित्यिक महत्त्व न था।[2] अपने मतों की पुष्टि में दोनों ही सज्जनों ने एक ही तथ्य प्रस्तुत किया है कि कग्रं में जो भी भोजपुरी (कबीर की मातृभाषा) के रूप प्राप्त होते हैं उनका सादृश्य बौद्धों के त्रिपिटक में प्राप्त मागधी रूपों से हैं। जिस प्रकार यह सिद्ध किया जाता है कि 'वर्तमान पालि त्रिपिटक की रचना के पूर्व त्रिपिटक की कुछ ऐसी प्रतियाँ भी प्रचलित थीं जिनकी भाषा प्राचीन मागधी थी। जब मध्यप्रदेश की भाषा में आधुनिक त्रिपिटक को परिवर्तित किया गया तो भी प्रचीन मागधी भाषा के कुछ शब्द तथा मुहावरे आदि यत्र-तत्र रह ही गए......ठीक यही दशा कबीर की भाषा की भी हुई........बुद्ध वचन की भाँति कबीर की वाणी पर भी उनके भक्तों द्वारा पछांही रंग चढ़ाया गया।[3] इस प्रकार कबीर की बानियों का जो रूप

१. रामकुमार वर्मा : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २६१
२. उदयनारायण तिवारी : भोजपुरी भाषा और साहित्य, पृ० २५
३. वर्मा : हिं०सा०आ०इ०, पृ० २६१-२

आज मिलता है वह रूपान्तरित हुआ है हालाँकि मूल भाषा—भोजपुरी के भी बीज इसमें यत्र-तत्र हैं।

उक्त दोनों ही महानुभावों ने अपनी स्थापना के पक्ष में कम्र से अक्षरशः एक ही उदाहरण प्रस्तुत किए हैं जिनमें भोजपुरी संज्ञा प्रतिपादिक—खंभवा पऊवा, पहरवा, मनवा, खटोलवा, रहटबा; भूतकाल की—अल,—अले अन्त-वाली क्रियाएँ; भविष्यत् प्रत्यय—इहें आदि दिए गए हैं तथा कम्र के पद सं० २० का एक सम्भावित भोजपुरी रूपान्तर भी दिया गया है जिसमें यह बताया गया है कि कबीर की पछाँही भाषा को भोजपुरी बना देना कितना सरल है।[1]

ये सारी बातें ठीक हैं, परन्तु पालि त्रिपिटक के रूपान्तर के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि कबीर की बानियों का भी रूपान्तर हुआ है। इस तथ्य को स्वीकार करके भी कि तत्कालीन साहित्यिक भाषा पछाँही (मध्यदेशीय) थी, कबीर की बानियों की मूल भाषा भोजपुरी मानना असंगत है। कबीर की मातृभाषा भोजपुरी हो सकती है लेकिन साहित्य की भाषा मातृभाषा ही हो यह आवश्यक नहीं। यह तर्क कि कबीर के लिए बनारसी बोली के अतिरिक्त और किसी साहित्यिक भाषा में काव्य-रचना करना सम्भव न था, औचित्य रहित है। यह बराबर देखा गया है कि काव्य-रचना में प्रवृत्त होने वाले कवियों को काव्य-परम्परा का ज्ञान होता है चाहे वे शिक्षित हों या न हों। शास्त्रज्ञान और काव्य-रचना का आपस में सम्बन्ध है अवश्य पर एक की अनुपस्थिति में दूसरे की असम्भावना नहीं मानी जा सकती।

इसी प्रकार मातृभाषा के आधार पर डॉ० बाबूराम सक्सेना ने कबीर की भाषा अवधी घोषित की है।[2] इस मत में उपर्युक्त असंगति के साथ ही यह भी जुड़ा है कि बनारस की बोली को अवधी माना भी जाए या नहीं।

(इ) राजस्थानी

इसी तरह का एक अन्य मत 'ढोला मारू रा दूहा' के सम्पादकों का है जहाँ वे कहते हैं कि 'कबीर की भाषा राजस्थानी है एवं कबीर को वैसा ही राज-

---

१. देखिए हिं०सा०आ०इ०, पृ० २६१-२ तथा भो०भा०सा, पृ० २८-९.

२ बाबूराम सक्सेना, दक्खिनी हिन्दी, पृ० ३२.

स्थानी का कवि कहा जा सकता है जैसा कि ढोला मारू काव्य के कर्त्ता को ।"[१] वैसे अपने मत की पुष्टि में उक्त सम्पादकों ने जिन तथ्यों का संयोजन किया है वे महत्त्वपूर्ण हैं कि कबीर के समय में माध्यमिक राजस्थानी पश्चिम भारत की सर्वप्रमुख साहित्यिक भाषा थी । उस समय राजस्थान और ब्रजभूमि की भाषा एक थी और इस भाषा को ब्रज भाषा भी वैसे ही कहा जा सकता है जैसे राजस्थानी, बाद में संस्कृत के प्रभाव से साहित्यिक ब्रज भाषा विकसित हुई वह राजस्थानी से काफ़ी दूर है । इसी से कबीर की भाषा राजस्थानी भाषा-भाषियों के लिए कोई कठिनाई नहीं उपस्थित करती । जो कठिनाई आज दिन प्रतीत होती हैं उसका कारण कबीर की कबिता का आज से चार-साढ़े चार सौ वर्ष पहले लिखा जाना है ।[२] इस तथ्य के बावजूद कग्र ं की भाषा राजस्थानी नहीं कही जा सकती क्योंकि उसमें प्राप्त बहुवैभाषिक तत्त्व किसी दूसरी ओर संकेत करते हैं जिसकी चर्चा की जा चुकी है ।

(ई) परम्परागत काव्य-भाषा

कबीर की भाषा के बहुवैभाषिक तत्त्वों—राज०, पंजाबी, ब्रज, खड़ी० तथा पूरबी के शैलीगत कारण पर आचार्य शुक्ल ने विचार किया है ।[३] नाथ-सिद्धों, जिनसे कबीर आदि निर्गु नियाँ सन्तों की परम्परा जोड़ी जाती है, की भाषा पर विचार करते हुए उन्होंने बताया है कि नाथ-पंथ का प्रचार राज-पूताने और पंजाब की ओर अधिक था । अतः जब मत प्रचार के लिए इस पंथ में भाषा के ग्रंथ लिखे लगे तब उधर की प्रचलित भाषा का व्यवहार किया गया । मुसलमानों से भी सम्पर्क होने के कारण दिल्ली के आस-पास की खड़ीबोली का भी मेल इनकी बानियों में हो गया । इस प्रकार नाथ-पंथ ने परम्परागत साहित्य की काव्य-भाषा से जिसका ढांचा नागर अपभ्रंश या ब्रज का था, अलग एक सधुक्कड़ी भाषा का सहारा लिया जिसका ढाँचा कुछ खड़ी-बोली लिए राजस्थानी का था ।[४] इसी तरह सिद्धों की भाषा देशभाषा मिश्रित अपभ्रंश अर्थात् पुरानी हिन्दी का साहित्यिक रूप है । सिद्धों ने उसी काव्य

---

१. ढोला मारू रा दूहा, भूमिका, पृ० १३०-१

२. वही, भूमिका, पृ० १३०-१

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ८०

४. वही, पृ० १८

भाषा का प्रयोग किया जो उस समय गुजरात, राजपूताने और ब्रजमण्डल से लेकर बिहार तक लिखने-पढ़ने की शिष्ट भाषा थी। पर मगध में रहने के कारण सिद्धों की भाषा में कुछ पूर्वी प्रयोग भी मिलते हैं। पुरानी हिन्दी की व्यापक काव्य-भाषा का ढाँचा शौरसेनी प्रसूत अपभ्रंश अर्थात् ब्रज और खड़ी बोली का था। ध्यान से देखने पर पता चलता है कि इनकी उपदेशों की भाषा तो पुरानी टकसाली हिन्दी (काव्य भाषा) है पर गीतों की भाषा पुरानी बिहारी या पूर्वी बोली मिली है। यही भेद कबीर की भाषा में भी मिलता है जहाँ साखी की भाषा तो राजस्थानी मिश्रित सामान्य सधुक्कड़ी भाषा है पर रमैनी और पदों की भाषा में काव्य की ब्रजभाषा है और कहीं-कहीं पूरबी बोली भी है।[1]

कबीर की भाषा के सम्बन्ध में शैलीगत आधार पर अन्य विचार करने वालों में डॉ० चाटुर्ज्या प्रमुख हैं। उनके अनुसार भी कबीर की भाषा मुख्यतः ब्रजभाषा है लेकिन इसमें कोसली या पूर्वी हिन्दी का कुछ-कुछ मेल मिलता हैं और खड़ीबोली का रूप भी यथेष्ट परिमाण में पाया जाता है।[2] अथवा वह हिन्दी (हिन्दुस्थानी) और ब्रजभाषा का एक मिश्रित रूप है।[3] चाटुर्ज्या ने अन्यत्र लिखा है कि भोजपुरी प्रदेश के होते हुए भी कबीर ने तत्कालीन हिन्दुस्थानी कवियों की तरह ब्रजभाषा और कभी कभी अवधी का प्रयोग किया है।[4]

सिद्धों की भाषा और सन्तों की भाषा के रूप में उसके परवर्ती विकास की चर्चा करते हुए डॉ० धर्मवीर भारती ने भी इस शैलीगत तथ्य को बराबर ध्यान में रखा है। प्रमुख भाषविदों के साक्ष्य पर उन्होंने बताया है कि 'बौद्ध गान ओ दोहा' में संकलित दोहों और चर्यापदों में दो प्रकार की उपभाषाओं का संकेत किया गया है। डां० चाटुर्ज्या ने चर्यापदों की भाषा को तो पूर्वी कहा है पर दोहाकोष की भाषा को पश्चिमी अपभ्रंश बताया है। सिद्धों का कार्य क्षेत्र पूर्वी भारत होने से उसमें पूर्वी के भी अनेक प्रयोग आ गए हैं, जो

१. हिन्दी साहित्य, का इतिहास, पृ० १९-२०
२. चाटुर्ज्या : भारत की भाषाएँ, पृ० ६०
३. चाटुर्ज्या : भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृ० १९८
४. चाटुर्ज्या : ODBL, Vol I. P. 99.

अलग बात है।[1] प्रायः इसीसे मिलते-जुलते मत डॉ० नगेन्द्रनाथ चौधुरी और डॉ० सुकुमार सेन के भी उद्धृत किए गए हैं।[2]

सिद्धों की भाषा में पश्चिमी और पूर्वी प्रभावों के मिश्रण का कारण तत्कालीन साहित्यिक भाषा की परम्परा है जो पश्चिमी अपभ्रंश के रूप में लगभग १३वीं-१४वीं शती तक गुजरात से लेकर बंगाल तक समस्त आर्य भाषा भाषी प्रदेशों में काव्य-भाषा के रूप में मान्य थी। किन्तु आधुनिक आर्य भाषाओं का स्वरूप भी उसी समय गठित हो रहा था जिससे कुछ समय तक तो पुरानी शौरसेनी अपभ्रंश ही काव्य-भाषा के रूप में प्रयुक्त होती रही और विभिन्न प्रदेशों की बोलियाँ भी कभी-कभी उसे प्रभावित करती रहीं। बाद में वे भाषाएँ स्वतन्त्र काव्य-भाषाओं के रूप में प्रयुक्त होने लगीं।[3]

साहित्य की भाषा के काव्य-प्रकार और शैली-भेद से भिन्न रूपान्तर हो जाने का संकेत अपभ्रंश के वैयाकरणों ने भी किया है। क्रमदीश्वर (१३वीं शती) ने बताया है कि ब्राचड रेफ युक्त है और उसमें दोहा की रचना होती है। इसी तरह रास काव्यों में नागर और प्राकृत मिश्रित गाथाओं में उपनागर का प्रयोग होता है। इससे यह प्रतीत होता है कि कुछ विशेष काव्य-रूपों से अपभ्रंश के ही विशेष रूपों का संबंध रूढ़ हो चुका था। इससे यही तथ्य प्रकाश में आता है कि सिद्धों ने दोहे लिखते समय पश्चिमी या शौरसेनी अपभ्रंश का प्रयोग किया और गेय पदों में स्थानीय बोली का।[4]

काव्य-भाषा की यही दुहरी परम्परा नाथ-योगियों और बाद के सन्तों की भाषा में मिलती है। यद्यपि 'गोरख बानी' के सम्पादन में प्रयुक्त प्रधान प्रतियाँ १८वीं शती से पहले की नहीं हैं[5] और भाषा का अपेक्षाकृत नवीन रूप उपस्थित करती हैं फिर भी उसके मूल ढाँचे का अनुमान कर लेना कठिन नहीं है जैसा कि आचार्य शुक्ल ने बताया है कि वह शौरसेनी प्रसूत ब्रज-

---

१. धर्मवीर भारती : सिद्ध साहित्य, पृ० २८७.
२. वही, पृ० २८७.
३. चाटुर्ज्या : ODBL, Vol I, P. 134.
४. भारती : सिद्ध साहित्य, पृ० २८९.
५. बड़थ्वाल : गोरखवानी, भूमिका, पृ० १२-१३

राजस्थानी का है जिसमें खड़ीबोली का भी पुट है। सन्तों की काव्य-भाषा भी, जिसका प्रतिनिधि स्वरूप कबीर में देखा जा सकता है, इसी परम्परा में आती है।

सूरपूर्व ब्रजभाषा के अध्ययन के प्रसंग में डा० शिवप्रसाद सिंह ने भी कबीर की भाषा साखी, पद, रमैनी आदि काव्य शैली भेद से भिन्न मानते हुए आचार्य शुक्ल और डा० चाटुर्ज्या के निष्कर्ष स्वीकार किए हैं।[१]

ग. निष्कर्ष

कवि भाषा के स्तर पर दुहरे दायित्व का निर्वाह करता है। अपनी रचना को मात्र उक्ति होने से बचाने के लिए वह काव्य-भाषा का प्रयोग करता है जो अपनी विशिष्ट अभिव्यंजना शक्ति से उसकी अनुभूति को प्रामाणिक रूप में रचना स्वीकार किए जाने की सीमा तक अनूदित कर देती है। कबीर के प्रसंग में उनके कवित्व को प्रायः महत्त्व नहीं दिया गया है। प्रकृत्या वे सन्त थे और काव्य-रचना उनका मुख्य प्रयोजन नहीं था; यह धारणा उचित होते हुए भी उनकी भाषा के विश्लेषण में सहायक नहीं बनती क्योंकि कवित्व की सापेक्षता में ही उस पर विचार किया जाना सम्भव है। भाषा के स्तर पर कवि परम्परा से हटकर नई ज़मीन की तलाश अवश्य करते हैं, किन्तु वह साहित्य-संस्कार विरहित नहीं होती। इसी को औक्तिक और काव्य-भाषा के संदर्भ में कृत्रिम शैली कहा जाता है। इस दृष्टि से कबीर की भाषा का स्वरूप और काल-निर्धारण १५वीं – १६वीं शती की काव्य-भाषा परम्परा को ध्यान में रखते हुए ही किया जाना चाहिए तभी उसके उपलब्ध यथातथ्य रूप का ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्यांकन सम्भव हो सकेगा।

मध्यदेशीय काव्य-भाषा परम्परा

शौरसेनी अपभ्रंश :

मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा के अध्येताओं ने इसका स्पष्ट संकेत किया है कि शौरसेनी प्राकृत और परवर्ती काल में शौरसेनी अथवा नागर अपभ्रंश मध्यदेश ही नहीं अपितु समस्त उत्तर भारत की प्रतिनिधि काव्य-भाषा थी जिसका व्याकरण हेमचन्द्र ने 'शब्दानुशासन' में प्रस्तुत किया है। वैसे यह काव्य-भाषा सोलहवीं शती तक जैन कवियों के द्वारा चरित और

४. शिवप्रसाद सिंह : सूरपूर्व ब्रज भाषा, § २१२.

पुराण काव्यों में प्रयुक्त होती रही। किन्तु इसकी जीवनी शक्ति हेमचन्द्र से पूर्व ही समाप्त हो चुकी होगी।[1] अपभ्रंश के सम्बन्ध में भाषाशास्त्री भिन्न मतों का प्रतिपादन करते हैं। कुछ इसे किसी समय अथवा देश की जनभाषा न मानकर केवल कृत्रिम साहित्यिक शैली स्वीकार करते हैं जबकि अन्य कुछ विद्वान इसे प्राकृत और नव्य भारतीय आर्य भाषा के बीच की कड़ी मानते हैं। जो वास्तविक देश्य भाषा रही होगी। पिशेल ने अपभ्रंश का दुहरा अर्थ ग्रहण किया है--एक तो भारतीय आर्य देशी भाषाओं के लिए और दूसरे प्राकृत की उस विशिष्ट काव्य-शैली के लिए जो देश्य भाषाओं के मिश्रण से उत्पन्न हुई है।[2] यहां काव्य-भाषा की चर्चा के प्रसंग में इस दूसरे अर्थ को ही ग्रहण किया जाना चाहिए जो तत्कालीन काव्य-कृतियों द्वारा निर्दिष्ट होता है। हेमचन्द्र के काफ़ी बाद तक जिस भाषा-शैली का प्रयोग व्यापक स्तर पर होता रहा है वह कभी कथ्य रूप में प्रचलित नहीं रही होगी और क्षेत्रीय विभिन्नताओं का भी उसके संदर्भ में कोई महत्व नहीं है। काव्य-भाषा का यह स्वरूप अपभ्रंश की कही जाने वाली सभी कृतियों में प्रायः एक सा है चाहे वह पश्चिम से प्राप्त जैन मुनियों की रचनाएँ हों अथवा पूर्व के सिद्धों के रहस्यानुभूति मूलक चर्यापद हों अथवा दक्षिण में रचित स्वयंभू और पुष्पदन्त के पुराण काव्य हों।

काव्य भाषा का संक्रमण :

मध्यदेश की अनेक कथ्य विभाषाएँ जो साहित्य और संस्कृति के स्तर पर शौरसेनी अपभ्रंश के प्रभाव में थीं, अपना स्वतंत्र वैभाषिक अस्तित्व प्राप्त करने की दिशा में धीरे-धीरे बढ़ती रहीं और समय पाकर उनकी निजी विशिष्टताएं प्रकट होने लगीं। शौरसेनी प्रसूत इन बिभाषाओं में पश्चिसी राजस्थानी पूर्वी राजस्थानी, ब्रजभाषा खड़ीबोली, बुंदेली, कन्नौजी आदि की गणना होती है। हेमचन्द्र के परवर्ती काल की रचनाएं व्यवस्थित रूप में प्राप्त न होने के कारण इन बिभाषाओं की तत्कालीन भेदक विशेषताओं का निरूपण आज सम्यक् रूप से नहीं किया जा सकता। यह अनुमान अवश्य किया जा सकता है कि प्राकृतापभ्रंश काल में इनके कथ्य रूपों में अन्तर रहा

१. तेसितोरी, भूमिका, पृ० ६
२. प्रा०पैं० २९ § पर उद्धृत

होगा। हेमचन्द्र के द्वारा उदाहृत दोहों में प्राप्त होने वाले भिन्न वैभाषिक तत्त्वों के आधार पर कुछ हल्के संकेत किए गये हैं कि इनमें से कुछ ब्रजभाषा की प्रवृत्तियों की सूचना देते हैं जबकि कुछ में खड़ीबोली के ब ज अन्तर्निहित हैं।[1]

हेमचन्द्र के बाद अपभ्रंश की कृतियों में वैभाषिक प्रवृत्तियाँ बढ़ती हुई मिलती हैं जिन्हें शैली के आधार पर आसानी से देखा जा सकता है—'इस काल में लिखे गये (जैन) पुराणों एवं चरित काव्यों की शैली प्रायः शुद्ध परिनिष्ठित अपभ्रंश है; किन्तु रास, फागु काव्यों की भाषा में इस परिनिष्ठितता की पाबंदी नहीं पाई जाती।[2]

जैनेतर राजाश्रित कवि भी उस काल में ऐसी ही भाषा-शैली का आश्रय ले रहे थे जिसमें एक साथ विभिन्न वैभाषिक तत्त्व मिल जाते हैं जो आज दिन गुजराती, राजस्थानी, ब्रजभाषा और मैथिली तक की भेदक बिशेषताएँ बन गए हैं। इन राजाश्रित चारण कवियों की भिन्न वैभाषिक तत्त्वों से युक्त इस कृत्रिम साहित्यिक शैली का मूल आधार निश्चित रूप से अरावली पर्वत के पश्चिम से लेकर दोआब तक की कथ्य भाषा रही होगी जो स्वयं पूर्वी राजस्थानी, ब्रज भाषा, कन्नौजी जैसी वैभाषिक विशेषताओं से अन्तर्गर्भ थी।[3]

इस मध्यदेशीय काव्य-भाषा के समान ही इसी समय से राजपूताने के चारण कवियों ने डिंगल का प्रयोग शुरू किया जो अपने क्षेत्र की कथ्य विभाषाओं से उसी प्रकार भिन्न थी जैसी कि मध्यदेशीय राजाश्रित कवियों की भाषा।

तेसितोरी ने हेमचन्द्रोत्तर काल में पिंगल-अपभ्रंश की चर्चा की है जिसे वे मध्यदेश की काव्य-भाषा मानते हैं। प्राकृत पैंगलम् में प्रयुक्त भाषा पर विचार करके उन्होंने निश्चय किया है। कि 'इसमें कई ऐसे तत्त्व पाये जाते हैं जो पूरबी राजपूताना को अपना स्थान सिद्ध करते हैं। इसकी भाषा का परवर्ती विकास पुरानी पश्चिमी हिन्दी के नाम से अभिहित किया

१. शिवप्रसाद सिंह : सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, § १६०
२. प्रा० पैं०, § २७।
३. प्रा०पैं० § २७

जा सकता है। वास्तव में इस काल में पूरबी राजस्थानी और पुरानी पश्चिमी हिंदी इतनी सन्निकट थीं कि इनका स्पष्ट भेद नहीं किया जा सकता। उस समय पूर ी राजपूताने की प्राचीन विभाषा चाहे वह पुरानी पूरबी राजस्थानी हो या पुरानी पश्चिमी हिन्दी पश्चिमी राजपूताना तथा गुजरात की अपेक्षा गंगा के दोआब की भाषा से विशेष संबद्ध थी और बाद में जाकर पश्चिमी राजस्थानीके प्रभाव के कारण उससे अलग हुई।[1]

राजस्थान में प्रसिद्ध यह पिंगल अपभ्रंश शौरसेनी का अग्रसरीभूत रूप है जिसे अवहट्ट नाम भी दिया गया है।[2] इसका संबंध ब्रजभाषा से सभी बिद्वान् अवश्य स्वीकार करते हैं। हम देखेंगे कि इसका मध्यदेशीय काव्य-भाषा से संबंध कबीर के संदर्भ में विशेष महत्त्व का सिद्ध होता है।

मध्यदेशीय काव्य-भाषा का यह लोकमुखी प्रवाह परवर्ती अपभ्रंश में देशज तत्त्वों के मिश्रण से सम्भव हुआ। काव्य-भाषा के विकास में यह संक्रान्ति काल था। इस समय अर्थात् १४वीं--१५वीं शती के आस-पास उपलब्ध कृतियों की भाषा के आधार पर अपभ्रंशोत्तर युग की काव्य-भाषा को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है—'इस प्रकार मुख्यतः संदेशरासक और प्राकृत पैंगलम्, वर्णरत्नाकर और कीर्त्तिलता और उक्ति व्यक्ति प्रकरण के आधार पर परवर्ती अपभ्रंश के पश्चिमी, पूर्वी और मध्यदेशीय भेदों की विशेषताओं के साथ ही अपभ्रंशोत्तर युग तथा आधुनिक भाषाओं के पूर्वकाल की भाषा की सामान्य प्रवृत्तियाँ निर्धारित की जा सकती हैं।[3] वैसे काव्य-भाषा का यह वर्गीकरण बहुत वैज्ञानिक नहीं है क्योंकि प्राकृत पैंगलम्, संदेशरासक और कीर्त्तिलता—ये तीन पुस्तकें काव्य-शैली की दृष्टि से एक जगह कोष्ठीकृत की जाती रही हैं जबकि उक्तिव्यक्ति प्रकरण में औक्तिक भाषा का रूप है। किन्तु शैलीगत आधार पर संकोचन इस समय से अवश्य शुरू हो जाता है। यह संकोच तत्कालीन साहित्य में दो भाषा प्रकारों के रूप में संकेतित किया गया है।[4]—(१) मध्यदेश की सर्बमान्य साहित्यिक अप-

---

१. तेस्सितोरी, भूमिका, पृ० ७

२. ODBL. P.113-114.

३. नामवर सिंह : हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० ९२

४. शिवप्रसाद सिंह : सूर पूर्व ब्रजभाषा, § ७५.

भ्रंश जो कृत्रिम काव्य-शैली थी और (२) देश्य मिश्रित रूप जो जन सामान्य की भाषा के आधार पर साहित्यिक रूप ले रहा था। पहली शैली में प्राकृत, पैंगलम्, रासो काव्य, रणमल्ल छन्द, अवहट्ट की रचनाएँ और पिंगल-काव्य हैं, दूसरी शैली में उक्ति व्यक्ति प्रकरण, उक्ति रत्नाकर, मुग्धावबोध आदि औक्तिक ग्रंथ हैं। पहली शैली रूढ़ होकर १८वीं शती तक चलती रही जिसमें अन्तिम महत्त्वपूर्ण कृति सूर्यमल्ल की 'वंशभास्कर' है जबकि दूसरी शैली नवोदित भक्ति साहित्य का माध्यम बनी।

अपभ्रंशोत्तर अथवा प्राक् नव्य भारतीय आर्य भाषा काल में काव्य-भाषागत देशज अन्तर बढ़ता हुआ मिलता है। आधुनिक आर्य भाषाएँ अलग-अलग क्षेत्रों में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व गठित रहीं। यह तर्क दिया गया है कि —मध्यदेश से परे आर्य भाषा भाषी प्रदेशों में जातीय इकाईयों के गठन के साथ बंगला, गुजराती, मराठी, सिंधी आदि शुरुआत में ही स्वतंत्र भाषाएँ बन बैठीं जबकि मध्यदेश की अनेक विभाषाएँ अपनी निजी विशेषताओं को प्रकट करते हुए भी जातीय संगठन के अभाव में साहित्यिक बोलियों के स्तर तक ही विकसित हो सकीं। इसमें राजस्थानी और मैथिली पहले, ब्रज, अवधी, खड़ीबोली बाद में स्वतंत्र अस्तित्व ग्रहण सकीं। खड़ी बोली और ब्रज भाषा प्रायः एक साथ उदित हुई। किन्तु ब्रज को साहित्यिक प्रौढ़ि पहले प्राप्त हुई।[1] फलतः शुरुआत में मध्यदेश में किसी एक विभाषा को आधार बनाकर काव्य-भाषा का ढाँचा निर्मित न हो सका बल्कि राजस्थानी - ब्रजभाषा—अवधी—खड़ीबोली का एक समन्वित रूप १६वीं शती के आस-पास तक चलता रहा। सूरदास से पूर्व मध्यदेश में लिखी जाने वाली जिन कृतियों का संधान इधर किया गया है[2] उनकी भाषा-शैली वंशानुक्रम से शौरसेनी प्रसूत होने के कारण भले ही पुरानी ब्रजभाषा कह ली जाए, क़ायदे से वह राज० —ब्रज - अवधी खड़ी० की एक मिश्रित भाषा शैली है। फिर, उस समय तक इन विभाषाओं के ये अभिधान तक नहीं प्रचलित मिलते जो काफ़ी बाद में यहां तक कि कुछ १९वीं शती में प्रयोग में आये।

---

१. नामवरसिंह : हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० १०१।

२. देखिए : शिवप्रसाद सिंह, सूर पूर्व ब्रज भाषा और उसका साहित्य।

मध्यकालीन मध्यदेशीय काव्य-भाषा का सार्वदेशिक रूप १६वीं शती में आकर उभर सका जब एक ओर अकबर के शासन काल में विकेन्द्रित मध्य-देश का नए सिरे गठन हुआ और एक जातीय भावना की पृष्ठभूमि तैयार हुई। दूसरी ओर वैष्णव भक्ति आन्दोलन के माध्यम से सम्पूर्ण मध्यदेश में सांस्कृतिक ऐक्य की लहर फैली। इन दुहरे प्रयत्नों ने जातीय भाषा के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया फलतः अवधी और ब्रज के मिश्रण से सामान्य काव्य-भाषा का प्रादुर्भाव हुआ।[1]

इस काव्य-भाषा परम्परा में खड़ीबोली का स्थान विशेष ध्यान देने योग्य है। हालाँ कि यह ब्रजभाषा के समान ही पुरानी है लेकिन मध्यदेश में इसे काव्य के स्तर तक पहुँचने में समय लगा जब दिल्ली और लखनऊ के फ़ारसी शायरों ने इसका साहित्यिक संस्कार किया और आगे चलकर ईसाई धर्म प्रचार तथा हिन्दी पत्रकारिता और १९वीं शती के सांस्कृतिक पुनर्जागरण का माध्यम बनी। इस विलम्ब का कारण यह बताया गया है कि इसे जन्म के साथ ही मुसलमानों के हाथों पड़कर जनसामान्य से दूर नगरीय और दरबारी बंदिश मे रहना पड़ा तथा दक्षिण प्रवासी होकर सूफ़ी धर्म प्रचार का माध्यम बनना पड़ा। किन्तु वाणिज्य, तीर्थाटन, प्रशासन आदि विभिन्न स्तरों पर माध्यम भाषा के रूप में इसका व्यापक प्रयोग होता रहा और इसी प्रयोग विवृति के विशिष्ट गुण के कारण तत्कालीन काव्य-भाषा में इसका अनिवार्य पुट दिया जाता रहा।

परम्परागत काव्य-भाषा में खड़ी० के मिश्रण की परम्परा का शैलीगत आधार भी पर्याप्त पुष्ट है—'यह अनेक प्रमाणों से सिद्ध हो चुका है कि उस युग में खड़ीबोली खड़ी से चुकी थी। कुछ कवि भ्रमवश यह समझने लगे थे खड़ीबोली मुसलमानों की भाषा है। अतः वे उसका प्रयोग मुसलमानों के प्रसंग में कर दिया करते थे। कुछ कवि ब्रजी के साथ खड़ी को मिला देते थे। खड़ी में संज्ञा और विशेषण में पुंबोधक आकारान्त की प्रवृत्ति है और बहुत अधिक है। यह प्रवृत्ति स्थितिभेद और अर्थभेद से राजस्थानी और ब्रजी में भी है। ब्रजी ने साहित्यिक सर्वमान्य भाषा का रूप लेने पर इस प्रवृत्ति का बहुत कुछ परित्याग कर दिया। बोल चाल में उसके अवशेष रह गए, पर

१. नामवर सिंह : हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० १०३।

साहित्यिक भाषा से हट गए ।[१]

इस प्रकार वैष्णव भक्ति साहित्य के उदय से पूर्व मध्यदेश में एक समन्वित काव्य-भाषा की उपस्थिति मिलती है जिसमें राजस्थानी, ब्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली तिल-तंडुलवत् मिलीजुली हैं।

उपर्युक्त विवेचन से मध्यदेशीय काव्य-भाषा के संबंध में निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं :

१. काव्य-भाषा की परम्परा का सभी युगों में कथ्य भाषा से दूर एक कृत्रिम शैली होना।

२. परिनिष्ठित शौरसेनी अपभ्रंश के बाद परवर्ती अपभ्रंश या अवहट्ट या पिंगल अपभ्रंश में निरन्तर देशज क्षेत्रीय तत्वों का बढ़ते रहना जो १६वीं शती में आकर मध्यदेशीय विभिन्न विभाषाओं के स्वतन्त्र अस्तित्व का कारण बने।

३. परवर्ती अपभ्रंश और प्राक् नव्य भारतीय आर्य भाषा काल की संधि पर मध्यदेश में राजस्थानी—ब्रज-भाषा—अवधी—खड़ीबोली के सम्मिलित तत्वों से निर्मित एक समन्वित काव्य-भाषा की उपस्थिति।

४. इस काव्य-भाषा में तत्तत् विभाषाओं के भेदक लक्षण स्पष्ट न थे। पूर्वी राजस्थानी जो बाद में चलकर मध्यदेशीय ब्रजभाषा से अलग हुई, इस समय तक गुजराती और पश्चिमी राजस्थानी की अपेक्षा मध्यदेशीय के अधिक निकट थी।

५. वैष्णव भक्ति साहित्य के उदय से पूर्व समूचे मध्यदेश में अपनी प्रसरणशीलता और व्यापक प्रयोग विवृति के कारण काव्य-भाषा में खड़ीबोली का अनिवार्य पुट मिलता है। जिसे जन्म के साथ दक्षिण में प्रवासी होना पड़ा और उत्तर में एक अर्से के बाद जो साहित्य का माध्यम बन सकी।

---

१. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : गंग कवित्त (संपा० बटेकृष्ण) की भूमिका, पृ० १७।

कबीर-ग्रंथावली की भाषा का निश्चय

कबीर की भाषा पर विशेषत: कबीर ग्रंथावली के संदर्भ में विचार करने वाले प्राय: सभी विद्वानों ने इसके मिश्रित स्वरूप की चर्चा किसी न किसी कारण से अवश्य की है जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। यह मिश्रित रूप मूलतः ब्रजभाषा—अवधी—खड़ीबोली—पूर्वी राजस्थानी का है जिसमें स्फुट रूप से भोजपुरी और पश्चिमी राजस्थानी और अपवाद रूप में गुजराती और पंजाबी का पुट मिलता है।[1] इस बात की पूरी गुंजाइश रखते हुए कि कग्रं की 'क' प्रति (संवत् १५६१) परवर्ती काल की हो सकती है, उसकी भाषा की ध्वनि संघटना, पदरचना और शब्द समूह के अध्ययन के आधार पर उपर्युक्त वस्तु स्थिति का निदर्शन निरापद् है। कग्रं की उपलब्ध यह भाषा जिसका ढाँचा ब्रज—अवधी—खड़ी०—पूर्वी राज० विभाषाओं के सम्मिलित तत्त्वों से निर्मित है, अपभ्रंशोत्तर प्राक् नव्य भारतीय आर्य भाषा काल के ठीक बाद की काव्य भाषा का नमूना है जिसमें राज०—ब्रज—अवधी—खड़ी के न्यूनाधिक तत्त्व वर्तमान हैं और जो जायसी[2] और सूरदास[3] के ठीक पहले की काव्य-भाषा का संकेत देती है। यहाँ यह शंका उपस्थिति हो सकती है कि जायसी और सूर की भाषा की नितान्त एकदेशीयता का कारण क्या है जो कबीर के रचना काल-- १४७५ से १४२५[4] से अधिक परवर्ती नहीं है। इसका कारण यह है कि कृष्ण भक्ति और सूफ़ी काव्य प्रारम्भ में क्रमश: ब्रजमंडल और अवध में रचा गया जबकि काफ़ी पहले से चली आती हुई नाथ-सिद्धों की काव्य-धारा एक क्षेत्र की न होकर समस्त उत्तर भारत में व्याप्त थी। इसलिए जायसी और सूर की काव्य-भाषा में क्षेत्रीय तत्त्व अधिक उभर सके जबकि कबीर की भाषा तुलनात्मक दृष्टि से क्षेत्रीय संकोच से मुक्त रहकर परम्परागत स्वरूप ही उपस्थित करती है। नवोदित क्षेत्रीय और परम्परागत सार्वदेशिक काव्य भाषा के ये दो प्रवाह प्रायः कुछ समय के लिए समानान्तर भी चले हैं। यह बात संवत् १४३७ में रचित मुल्ला दाऊद के

१. देखिए पीछे पृ० १७

२. जायसी -- पदमावत की रचना प्रारम्भ १५७७ वि० ।

३. सूरदास—बल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने का समय १५६६ वि० ।

४. देखिए पीछे पृ० ५

'चंदायन' की अवधी और सं० १४६० में वर्तमान विद्यापति की 'कीर्त्तिलता' की अवहट्ट की तुलना से स्पष्ट हो जाती है।

कग्र की भाषा पुरानी और मध्यकालीन हिन्दी की मध्यवर्ती स्थिति में है, यह बात उसके शब्द-समूह के विश्लेषण से बख़ूबी स्पष्ट हो जाती है। संदेशरासक, प्राकृतपैंगलम्, कीर्त्तिलता, वर्णरत्नाकर और उक्तिव्यक्तिप्रकरण का तद्भव प्रधान शब्द-समूह सूर और तुलसी के तत्सम-अर्धतत्सम-ऋण प्रधान शब्द-समूह से बुनियादी तौर पर भिन्न है। फिर विदेशी शब्दों की पुरानी हिन्दी में अत्यल्प और मध्यकालीन हिन्दी में भारी मात्रा में प्रयुक्ति एक दूसरा बड़ा भेदक तत्त्व है। कग्र के शब्द-समूह में आधे से अधिक शब्द तद्भव होने और तत्सम-अर्धतत्मस-ऋण शब्दों की परिमाणतः वृद्धि इसका संकेत है कि काव्य-भाषा-अभिधान अभी तद्भव से तत्०-अर्धतत्० ऋण की ओर संक्रमण के दौर में है जिसका पूरा रूप परिवर्तन तुलसी की भाषा में आकर होता है। विदेशी शब्दों का बढ़ता हुआ अनुपात भी संदेशरासक, कीर्त्तिलता आदि से अगली स्थिति का संकेत करता है।

सधुक्कड़ी का आशय

कबीर और सन्त काव्य-परम्परा की भाषा को नाथ-पंथीय साहित्य की भाषा से जोड़ते हुए आचार्य शुक्ल ने 'सधुक्कड़ी' नाम दिया है। उनके अनुसार इस 'सधुक्कड़ी' का ढाँचा खड़ीबोली और राजस्थानी का था और यह परम्परागत काव्य-भाषा नागर अपभ्रंश (जिसका परवर्ती विकास ब्रजभाषा है) से अलग थी।[1] किन्तु शुक्लजी ने कबीर नानक आदि सन्तों की भाषा के शैलीगत आधार पर द्विधा भेद भी स्वीकार किये हैं कि इनके भक्ति के पदों की भाषा ब्रज या परम्परागत काव्य-भाषा है पर साखी भाग की भाषा राजस्थानी मिश्रित खड़ी बोली है।[2]

शुक्ल जी द्वारा निर्दिष्ट 'सधुक्कड़ी' से आशय क्या है, यह जान लेना यहाँ आवश्यक होगा क्योंकि जिस प्रकार नाथ-योगियों और सन्तों का काव्य वस्तु दृष्टि से साहित्य की मुख्य सरणि से हटा हुआ है क्या उसी प्रकार 'सधुक्कड़ी' नाम से अभिहित भाषा भी मुख्य काव्य-भाषा सरणि से अलग है।

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १८

२. वही पृ० १९-२० तथा ८४.

और यदि ऐसा है तो यह अलगाव किस सीमा तक है और इसके भेदक लक्षण कौन से हैं।

सधुक्कड़ी में राजस्थानी, खड़ीबोली और पंजाबी के तत्त्व विशेष प्रखर माने गये हैं। इन तीनों के सम्मिलित प्रभाव से द्वित्व व्यंजन ध्वनियों का संक्षरण, न् > ण् की ओर झुकाव, आकारान्त और ओकारान्त प्रातिपदिक तथा क्रियाओं के निष्ठा रूप, सविभक्तिक पद-प्रयोग की न्यूनता और परसर्गों का बाहुल्य, सर्वनामों में मैं, इस, उस, जिस, तिस, किस का प्रयोग आदि कुछ विशिष्टताओं की ओर संकेत किया जा सकता है। साथ ही इसमें अपभ्रंश के अवशेष भी मिल जाते हैं जिनमें शतृ प्रत्ययान्त हसंत, चलंत रूप और—आँह विभक्ति चिह्न हैं।

इस विशिष्ट काव्य-भाषा-शैली का पूर्व सूत्र शुल्क जी ने नाथ-योगियों से जोड़ा है। वास्तव में नाथ-योगियों के विषयिगत रहस्यात्मक काव्य के प्रति उनके मन में विशेष उत्साह न था और इसे उन्होंने साहित्य की सीमा में भी स्वीकार नहीं किया है इसलिए नाथ-योगियों की भाषा और अगली कड़ी के रूप में कबीर आदि की भाषा का वे सम्यक् बिश्लेषण नहीं कर सके हैं। शायद, नाथ-योगियों और सन्तों की शास्त्र निरपेक्षता और रूढ़िविरोध के कारण उनके साहित्य की भाँति भाषा को भी शीघ्रता में वे अलग स्वीकार कर लेते हैं।

किन्तु तथ्य इस धारणा के विपरीत जाते मिलते हैं। काव्य-भाषा परम्परा के प्रसंग में हमने देखा है कि अपभ्रंशोत्तर और प्राक् नव्य भारतीय आर्य भाषा के संधिकाल में मध्यप्रदेश में एक समन्वित काव्य-भाषा चल रही थी जिसमें राज० — ब्रज — अवधी — खड़ी० के तत्त्व न्यूनाधिक मात्रा में वर्तमान थे। इस समय तक इन बिभाषाओं के भेदक लक्षण स्पष्ट न हुए थे। अतः जिन ध्वन्यात्मक और पद-रचनात्मक तत्त्वों के आधार पर 'सधुक्कड़ी' को अलगाया जा सकता है, वे उस काल की काव्य-भाषा के अनिवार्य अंग है। इसलिए काव्य-भाषा के मूल ढाँचे की दृष्टि से इसे अलग नहीं माना जा सकता।

यह बताया गया है कि नाथ-योगियों और संतों ने रूढ़ि और परम्परा विच्छेद के लिए ही इस भाषा का प्रयोग किया है, अन्यत्र वे काव्य की परम्परागत भाषा में रचना करते हैं। इस बात का कोई प्रमाण या पूर्वकाल में कोई उदाहरण नहीं मिलता। अपभ्रंश से परम्परा-विच्छेद की परम्परा चली आ

रही है। जैन कवि जोइन्दु और रामसिंह तथा वज्रयानी सिद्धों से इसका प्रारंभ मिलता है। किन्तु इसके लिए परिनिष्ठित अपभ्रंश के अतिरिक्त दूसरी भाषा का प्रयोग नहीं किया गया। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने पश्चिमी और पूर्वी अपभ्रंश में क्रमशः ऐहिकतामूलक और शास्त्र निरपेक्ष उग्र विचारों का अभिव्यक्त होना अवश्य बताया है, किन्तु यह मत स्वीकार नहीं किया जाता।[1] इस तथ्य के प्रकाश में स्पष्ट हो जाता है कि 'सधुक्कड़ी' खड़ीबोली अथवा राजस्थानी अथवा पंजाबी के मूल ढाँचे पर विकसित कोई अलग से भाषा नहीं बल्कि परम्परागत तत्कालीन काव्य-भाषा ही है जिसमें शैलीगत दृष्टि से निर्गुण यौगिक साधनामूलक पारिभाषिक शब्दावली, साम्प्रदायिक प्रतीकों आदि की भरमार है और जो ऐसे कवियों की भाषा है जो साहित्यिक महत्त्व प्राप्त करने का प्रयोजन लेकर नहीं चलते बल्कि परम्परा खण्डन में विश्वास करते हैं। इसलिए यह किंचत् अटपटी लगती है। इसके अटपटेपन के कारण ही इसे नाथ-योगियों और सन्तों की काव्य-भाषा मान लिया गया है।

यह परम्परा रही है कि प्रचलित काव्य-भाषा में कवि अपनी रुचि अथवा प्रयोग वैशिट्ष्य के लिए खड़ीबोली की छौंक डालते रहे हैं। मध्यदेश में १८वीं—शती से पहले खड़ीबोली हिंदवी या रेखता की स्थिति केवल मिश्रण वाली मिलती है जब तक उसका साहित्यिक संस्कार न हो सका था। उसे साहित्य का माध्यम यदि बनाया गया तो वह दक्षिण तक सीमित रहा। वली दकनी (मृत्यु : १७३१/१७४३ ई०) के बाद ही उसकी स्वतन्त्र सत्ता मानी जा सकती है। इसलिए खड़ीबोली के ढाँचे पर सधुक्कड़ी के निर्माण की बात बहुत प्रामाणिक नहीं लगती। परम्परागत काव्य-भाषा में खड़ीबोली का पुट देना एक विशिष्ट शैलीगत प्रयोग रहा है जो शुरूआत में ही नहीं बहुत परवर्ती काल तक मिलता है।[2]

---

१. नामवर सिंह : हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० २४९-५०

२. इस प्रसग में निम्नलिखित कुछ कवियों के भाषा प्रयोग दृष्टव्य हैं :

सूरदास : खड़ी बोली—टंडन, सूर की भाषा, पृ० ११८-१२०

रहीम : खड़ी बोली—मदनाष्टक से।

गंग : खड़ी० – गंगकवित्त—संपा• वटेकृष्ण, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की भूमिका।

आलम : खड़ी०—शुक्ल, इतिहास, पृ• ३३१ (शेष अगले पृठ पर)

भिन्न शैलियों में विभाषा-स्थिति

आचार्य शुक्ल ने संकेत किया है कि कबीर के पदों की भाषा व्रज या परम्परागत काव्य-भाषा है पर दोहों की भाषा उपर्युक्त सधुक्कड़ी है। जैसा कि अभी स्पष्ट किया जा चुका है—परम्परागत काव्य-भाषा और सधुक्कड़ी में किसी तरह का तात्त्विक भेद नहीं है बल्कि भेद शैलीगत है जो विषय वस्तु के अनुरूप ही भिन्न लगती है। पदों में अभिव्यक्त आत्मानुभूति, भक्ति, प्रणय निवेदन आदि के अनुरूप कोमल पद-विन्यास मिलता है जो परम्परागत काव्य-भाषा से भिन्न नहीं जान पड़ता जबकि दोहों में सम्प्रदायगत सिद्धान्तोपदेश, रूढ़ि खण्डन, परम्परा-पोषित ब्राह्मण धर्म के पाखण्ड का विरोध आदि है जिससे शैली परुष, कठोर और रूक्ष बन गई है।

रमैनी को लेकर कहा गया है कि इस पर पूर्वी—अवधी का प्रभाव है। यह बात 'बीजक' के बारे में अवश्य लागू हो सकती है जिसके विभिन्न पाठ पूर्वी प्रदेशों से ही प्रचलित हुए हैं और परवर्ती हैं। किन्तु कबीर-ग्रंथावली में उपलब्ध रमैनियों की भाषा पर अवधी का वैसा ऐकान्तिक प्रभाव नहीं मिलता। यहाँ व्रज—अवधी—खड़ी—राज० के रूप एक साथ सर्वत्र प्राप्त होते हैं। यह अवश्य है कि पदों की अपेक्षा साखी भाग में राज०—खड़ी० के और रमैनी भाग में अवधी के तत्त्व अधिक मिलते हैं।

ये तीनों काव्य-शैलियाँ अपभ्रंश के दोहाबन्ध, पद्धड़िया बंध और गेय-पद बंध की परम्परा में मानी जाती हैं[1] अपभ्रंश काल तक इन तीनों के लिए अलग भाषा स्थिति नहीं स्वीकार की जाती, केवल गेयपदों के लिए परिनिष्ठत भाषा के स्थान पर लोक अथवा ग्राम्य अपभ्रंश का प्रयोग मिलता है। नव्य भारतीय आर्य भाषा साहित्य के उदय काल से ये काव्य-शैलियाँ भिन्न धाराओं की रचनाओं के लिए रूढ़ बनती गईं जो प्रायः भिन्न क्षेत्रों में रची गयी हैं। दोहा और गेयपदों का विशेष रूप से ब्रज और राजस्थान में

घनानंद : पंजाबी—विश्वनाथप्रसाद मिश्र, घनानंद ग्रंथावली।

रघुनाथ : खड़ी०—इश्कमहोत्सव—शुक्ल, पृ० २८७

सूदन : खड़ी एवं पंजाबी—शुक्ल, पृ० ३६५

ग्वाल : खड़ी—शुक्ल, पृ० ३१३

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य, पृ० ६-७-८।

भक्त और चारण कवियों द्वारा प्रयोग किया गया है। पद्धड़ियों का प्रचलन दोहा-चौपाई शैली में अवध आदि पूर्वी प्रदेशों के सूफियों में अधिक रहा है जिसके कारण आगे चलकर इन शैलियों की अलग भाषाएँ निश्चित हो गईं। किन्तु कबीर ने इन तीनों काव्य-शैलियों को समग्रता में ही ग्रहण किया है। इसका एक संक्षिप्त प्रमाण कबीर द्वारा रचे दो छप्पय छंदों[1] के रूप में भी मिलता है। निर्गुण काव्य किसी क्षेत्र विशेष तक सीमित न होने के कारण कबीर द्वारा प्रयुक्त इन काव्य-शैलियों में वैसा भाषा भेद नहीं मिलता जैसा सूफ़ी और वैष्णव भक्ति काव्य की अवधी और ब्रज में है। अन्तर की जो स्थिति प्राप्त होती है वह महज़ इतनी ही है कि शैली विशेष के लिए रूढ़ होती हुई विभाषा के तत्त्व उस शैली के ग्रहण के साथ ही अनायास आ गये हैं। शैलीगत आधार पर भाषा के संकोचन की बात पहले कही जा चुकी है। इस तरह दोहों में राजस्थानी, पदों में ब्रज और रमैनी में अवधी के तत्त्व प्रबल हो गए हैं। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि यह अलगाव स्पष्टतः विभाषागत है। तीनों ही शैलियों में सभी तत्त्व एक साथ मिलते हैं, केवल प्रयोग की न्यूनाधिक मात्रा का अन्तर है। रमैनी के प्रसंग में अवधी के तत्त्वों को विशेष कर लक्षित किया जा सकता है।

वास्तव में सार्वदेशिक काव्य-भाषा में अनेक विभाषाओं के तत्त्वों की उपस्थिति ही इसकी कृत्रिमता का प्रमाण बनती है जो इसे तत्कालीन कथ्य भाषा से अलग करती है। कबीर-ग्रंथावली की भाषा में मूल ढांचे की अंगभूत—ब्रज—अवधी—खड़ी०—राज० के अतिरिक्त स्फुट रूप से भोजपुरी और पश्चिमी राजस्थानी तथा अपवाद रूप से पंजाबी और गुजराती के तत्त्व भी मिलते हैं। यह स्थिति कबीर-ग्रंथावली के लिए अपवाद अथवा अनोखी नहीं है। काव्य-भाषा में भिन्न वैभाषिक तत्त्वों के मिश्रण के प्रमाण बराबर मिलते हैं। प्राकृत पैंगलम्, संदेशरासक, वर्ण रत्नाकर, कीर्त्तिलता, उक्ति व्यक्तिप्रकरण, -राउरबेल आदि में यह स्थिति स्पष्ट रूप में प्राप्त होती है।[2] गोरखबानी में भी

१. कग्रं, ३३/६ तथा ३५/१

२. देखिए : प्रा० पैं० §२८;

हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० ६२;

राउरबेल की भाषा पर डॉ० भायाणी का निष्कर्ष, सूरपूर्व ब्रज०, परि० १ पर उद्धृत।

राज०, ब्रज खड़ी० और पूरबी के तत्त्व मिलते हैं जो अपनी प्रामाणिकता के अभाव में भी कबीर-ग्रंथावली की भाषा के सम्भावित पूर्वरूप के तौर पर विचारणीय है।[१] इस प्रसंग में यह महत्त्वपूर्ण है कि ऐसे विभाषागत कहे जाने वाले व्याकरणिक रूप एक से अधिक विभाषाओं में समान मिलते हैं। ऱ्,ड्>ल् का परिवर्तन, —ल प्रत्यान्त भूत० कृदन्त आदि कुछ ऐसे सम्मिलित प्रयोग हैं जो पूर्वी विभाषा के होते हुए भी पश्चिमी विभाषा में भी पाये जाते हैं।[२] कबीर-ग्रंथावली में प्राप्त गुजराती के— ऊ नपुं० प्रत्यय (कंचू, लोहू, षांडू), पूर्व कालिक क्रिया (आइनैं, कवीनैं), पश्चिमी राजस्थानी मारवाड़ी के विकारी बहु०—ऊँ,- आँह, हदाँ परसर्ग, तेणि, त्यांह, ज्यांह सर्वनाम; वर्त कृ० के—अतंड़ा,—अंती,—ताड़ी रूप;—र पूर्व कालिक क्रिया; —ढ, —धा वाले निष्ठा रूप; पंजाबी का दा परसर्ग; ठेठ अवधी का पुरुषवाची सर्वनाम अंश युक्त भूतकृदन्त रूप—यौं (पुं०),—यूं (स्त्री०); भविष्यत् का—ब प्रत्यय तथा भोजपुरी का—ल निष्ठा रूप आदि निश्चित रूप से भिन्न विभाषा तत्त्वों का संकेत देते हैं, फिर भी इस स्थिति को शैलीगत विशिष्टता ही समझना चाहिए। क्योंकि भिन्न वैभाषिक तत्त्वों के प्रयोग का कारण वह नहीं है जो कबीर के लिए दिया जाता रहा है कि वे निरक्षर थे अथवा भाषा-प्रयोग में असावधान थे।

काव्य-भाषा के विकास में यह एक गतिशील प्रक्रिया है। मध्यदेशीय काव्य-भाषा में यह भिन्न वैभाषिक तत्त्वों के मिश्रण का प्रयोग थोड़े समय के लिए रुक गया मिलता है जब से अवधी और ब्रज अलग-अलग साहित्यिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने में लगीं और क्षेत्रीयता की ओर विशेष रूप से उन्मुख हुईं। किन्तु शीघ्र ही तुलसी के द्वारा ब्रज और अवधी के मिश्रण किये जाने से मध्यदेशीय काव्य-भाषा को परम्परागत सार्वदेशिक चरित्र फिर से प्राप्त हो गया जिसमें परवर्ती भक्ति और रीति काव्य लिखा गया।

इस प्रकार कग्रं की भाषा में विभिन्न वैभाषिक तत्त्वों की उपस्थिति का कारण स्पष्ट हो जाता है।

---

१. सू. पू० ब्रज०, §१६४।

२. तेस्सितोरी §२१, १४१ (३) तथा १२६ (५)

पहला अध्याय

लिपिशैली और ध्वनि-विचार

लिपि शैली और ध्वनियाँ

१.१. कग्रं० की आधारभूत 'क' प्रति की लिपि शैली पुराने मध्यकालीन हिन्दी हस्तलेखों के अनुरूप ही है। 'ख्' के लिए अनिवार्यतः 'ष', 'ग्य्' के लिए 'ग्य' (केवल दो स्थानों पर 'ज्ञ') चिह्न का प्रयोग तथा महाप्राण व्यंजनों की द्वित्व वर्तनी के लिए अल्प०+महा० वाले रूप का एक भी प्रयोग न मिलना ऐसे आधार हैं जो इस हस्तलेख के संस्कृत से अप्रभावित रहने की सूचना देते हैं। न० भा० आ० के शब्दसमूह में तत्सम और अर्धतत्सम तत्त्व के आगमन के साथ हस्तलेखों पर संस्कृत वर्तनी का प्रभाव भी पड़ता रहा है। 'क' प्रति की कुछ विशेषताएँ केवल नाथपंथी साहित्य के हस्तलेखों से ही मेल खाती हैं। लिपि संबंधी भूलें आश्चर्य जनक रूप से इस प्रति में नहीं हैं।

१.२. कग्रं० की भाषा में निम्नलिखित ध्वनियाँ पाई:

स्वर

असंयुक्त स्वर : अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ,
ह्रस्वस्वर : ए॑, ऐ॑, ओ॑, औ॑
संयुक्त स्वर : अइ, अउ

ह्रस्व और संयुक्त स्वरोंके लिए अलग से लिपि चिह्न नहीं हैं। ऐसे अक्षरों में जो केवल स्वर से बनते हैं 'ए' स्वर ध्वनि 'ऐ' रूप में लिखी मिलती है अन्यत्र व्यजनयुक्त अक्षरों में एक और दो मात्राओं का भेद स्पष्ट है।

व्यंजन

स्पर्शी—कंठ्य : क्, ख् (ष्), ग्, घ्,
मूर्धन्य : ट्, ठ्, ड्, ढ्,

दन्त्य : त्, थ्, द्, ध्,

द्व्योष्ठ्य : प्, फ्, ब्, भ्,

घर्षस्पर्शी—तालव्य : च्, छ्, ज्, झ्,

अनुनासिक—ण्, न्, न्ह्, म्, म्ह्,

अन्तास्थ—य्, र्, ल्, ल्ह्, व्,

संघर्षी—स्,

उत्क्षिप्त—ड़्, ढ़्,

प्राण—ह ।

ह्रस्व और संयुक्त स्वर

हस्तलेख में ए, ऐ, ओ, औ ये चार लिपिचिह्न क्रम से अर्धसंवृत दीर्घ अग्र, अर्धविवृत दीर्घ अग्र, अर्धसंवृत दीर्घ पश्च तथा अर्धविवृत दीर्घ पश्च स्वर ध्वनियों का संकेत तो देते ही हैं, इनके ह्रस्व उच्चारणों के बोधक भी यही हैं । ऐ, औ चिह्न संयुक्त स्वरों के लिए भी प्रयुक्त हैं । जैसा कि हम देखेंगे कअं० विभिन्न भाषा तत्त्वों से संवलित रचना है, इसमें स्थल भेद से राजस्थानी, ब्रज, खड़ीबोली के साथ पूर्वी हिन्दी की ध्वनि संघटना तथा पदरचनागत प्रवृत्तियाँ बराबर मिलती हैं । ऐसी स्थिति में अवधी, भोजपुरी आदि के संयुक्त स्वरों का अस्तित्व यहाँ स्वीकार करना होगा ।

अर्धसंवृत कोटि की अग्र और पश्च स्वर ध्वनियों के ह्रस्व उच्चारण का इतिहास प्राप्त है । संस्कृत में ह्रस्व ए तथा ओ ध्वनियाँ नहीं पाई जातीं किन्तु अपभ्रंश में इनके अस्तित्व का संकेत पिशेल ने किया है ।[१] तगारे ने भी अपभ्रंश में इनकी सत्ता मानी है ।[२] मभाआ काल में ह्रस्व ए और ओ ध्वनियाँ दोहरे रूपों में पाई जाती हैं—एक तो छंदोनुरोध जनित ह्रस्व उच्चारण और दूसरे संवृताक्षरों अर्थात द्वित्व व्यंजन से पूर्व इनका उच्चारण ह्रस्व है । नभाआ में ब्रज, राज०, अव०, भोज० आदि में छंदोनुरोध से तो इनके उच्चारण ह्रस्व मिलते ही हैं, कथ्य

---

१. पिशेलः प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, §८४, अनु० हेमचंद्र जोशी

२. तगारेः हिस्टारिकल ग्रैमर ऑव अपभ्रंश, §१५, पृ० ३९

भाषा में ये प्राकृत-अपभ्रंश की भाँति केवल संवृताक्षरों के पूर्व ही नहीं एकाकी व्यंजन से पूर्व भी ह्रस्व उच्चरित होती हैं।[1]

प्राभाआ की संयुक्त स्वर ध्वनियाँ—ऐ, औ मभाआ में ध्वनियुग्म वाले उच्चारण—अइ, अउ में परिर्तातित हो गईं। ये नभाआ काल में ब्रज, राज०, खड़ी० में संकोचन प्रक्रिया से विवृत रूप में विकसित हुईं। छंदों तथा कथ्य भाषा में इनका भी ह्रस्व उच्चारण मिलता है।[2] इन अर्ध विवृत कोटि की अग्र और पश्च ध्वनियों का इतिहास हिन्दी की बोलियों के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण है। ये अपभ्रंश काल की उन ध्वनियों का विकास हैं जो अइ, अउ रूप में द्वयक्षरात्मक या एकाक्षरात्मक उच्चारण में थीं। इनके संकोच ने जहां खड़ी० ब्रज० और राज० में अर्धविवृत उच्चारणों को जन्म दिया वहीं अवधी, भोज० आदि में अपभ्रंश काल का एकाक्षर या ध्वनियुग्मगत उच्चारण सुरक्षित रहा। इस दृष्टि से हस्तलेख जहाँ ह्रस्व उच्चारण की समस्या उत्पन्न करता है वहीं ध्वनियुग्मगत उच्चारण अथवा संयुक्त स्वरों की समस्या भी उपस्थित होती है। हस्तलेख के ऐ, औ लिपिचिह्नों से दोनों उच्चारण ग्रहण किए जा सकते हैं—अर्ध विवृत और सयुक्तस्वर वाला। क्रियापदों में जहाँ करइ, चलइ या करउँ, चलउँ जैसे रूप वर्तनी में मिलते हैं, वहाँ इनका उच्चारण स्पष्ट ही संयुक्त स्वर वाला है। वर्तनी के इन रूपों का कारण पूर्वी हिन्दी के संदर्भ में तो नियमित विकास है पर ब्रज, राज०, खड़ी० में ये पुराने उच्चारण को सुरक्षित रखने का प्रयास हैं।

एॅ—काहेॅ २४।१२।२, जैदेॅव ३३।२, तेॅरी ५।२

ऐॅ—थैॅ १६।१।१, बैॅसनों ३०।६।१

ओॅ—कोॅइ सत० ३३, बोॅलनां ६७।१

औॅ—कौॅन ५७।२, मेरौ ५।१, तौॅ ५।१०

अइ—नटवैं सत०१२, उनवै ब०अष्ट०२२, लागै ब०अष्ट०८६

अउ—बौराई ब०अष्ट०८६, औतरि बारह०५१

१. दे०—धीरेन्द्रवर्मा: ब्रजभाषा, § ६२ पृ०४०, सक्सेना: इवाल्यूशन ऑॅव अवधी, § ८६ पृ० ५८, तेस्तितोरी: पुरानी राजस्थानी, §७, ८, पृ० २३ —२५, तिवारी : भोजपुरी भाषा और साहित्य, § ७, १०, पृ० ७५,

२. ब्रजभाषा, § ६३, पृ० ४०

ऋ लिपिचिह्न

१·४ कग्रं० के हस्तलेख में ऋ लिपिचिह्न स्वर ध्वनि को व्यक्त न करके रि या इर का उच्चारण देता है। संस्कृत ऋ ध्वनिका विकास प्राकृत-अपभ्रंश में अ, इ, उ तथा रि मिलता है जो नभाआ में भी चला आया है। इस दृष्टि से पुरानी[1] तथा मध्ययुगीन हिन्दी के हस्तलेखों में जहाँ यह लिपिचिह्न मिलता है, इसका उच्चारण 'रि' ही है। हस्तलेखों में इसका प्रयोग प्रायः तत्सम शब्दों में ही मिलता है किन्तु स्वरभक्ति की प्रक्रिया स्वीकार कर लेने पर इर उच्चारण के अनुसार ये समस्त शब्द अर्धतत्सम भी माने जा सकते हैं। उदाहरण के लिए—ऋद्धि=रिद्धि; कृपा=क्रिपा, किरपा, कृपण=क्रिपण, किरपण।

'क' हस्तलेख में इस चिह्न का प्रयोग विस्तार से है। इसके जिन शब्दों में रि उच्चारण अपेक्षित है उन्हें तत्सम और जिनमें छंद लय से इर उच्चारण की अपेक्षा है उन्हें अर्धतत्सम स्वीकार करना होगा।

ऋ=रि (तत्सम शब्दों में)—कृत १३०।४, कृपा ३१६।८,
कृष्ण १०४।५, घृत ६३।३, मृग ५३।१।१.

ऋ=रि (अ० तत्० शब्दों में)—कृपाल ३५।१।६, कृसन ३५।१।६
कृम २४१।३,

ऋ=इर (अ०तत्० शब्दों में)—पृथमी २४।२१।१, पृथी १५०।३

एक स्थल ऐसा भी मिलता हैं जहाँ मूलतः ऋ ध्वनि न होने पर भी इस चिह्न का प्रयोग है—तृया २३६।३ <सं० स्त्री।

१.५ इ के लिए य चिह्न

हस्तलेख में इ के लिए अन्तस्थ व्यंजन का चिह्न य मिलता है। यह विशेषता निर्गुणधारा के अन्य हस्तलेखों में भी मिलती है। किन्तु निर्गुण और नाथपंथी रचनाओं के सम्पादन के सिलसिले में यह नहीं बताया गया है कि इस प्रवृत्ति का कारण क्या है? इनमें बिंद, चिंता, पिंड, निंदा जैसे रूपों के साथ-साथ ब्यंद, च्यंता, प्यंड, न्यंदा जैसे रूप बराबर प्राप्त होते हैं। इसलिए इ स्वरध्वनि के लिए ये दुहरे लिपिचिह्न केवल लिपिगत विशेषता हैं या ये इ के दुहरे उच्चारण का भी संकेत करते हैं, यह

---

१. भोलाशंकर व्यास : प्राकृत पैंगलम्—२, § ४७, पृ० ३६ तथा ब्रजभाषा, § ८८, पृ० ३६

प्रश्न ही बना रहता है। गोरखबानी में एक ही स्थान पर ब्यंद और बिंद जैसे रूप हैं।[1] इसीतरह 'नाथसिद्धों की बानियाँ' में भी ये दुहरे रूप मिलते हैं—पिंड, स्यंघासण।[2] यह प्रवृत्ति मध्ययुगीन हिन्दी के अन्य हस्तलेखों में नहीं है। ऐसी स्थिति में अनुमान किया जा सकता है कि ये रूप निर्गुण कवियों की निजी शैली (ईडियासिंक्रेसी) के द्योतक हैं, जिसके अनुसार सामान्य उच्चारण का संस्कृताभास उत्पन्न करने का प्रयास है।

य=इ—नच्यंत ४६।३।२, निध्य ५।३०।२ > निधि,
व्यंब १६२।४, मान्यक ३८७।२

य का फुटकल प्रयोग अ ध्वनि के लिए भी पाया जाता है। इसीतरह आ के लिए या - पंक्यज ३०।८, ब्यंदै १७२।६=बंदै; निंद्या १८४।५, अक्यारथ ४।६=अकारथ, भिष्या ३०।४।२; दुबिध्या ३२६।१

आ का या उच्चारण कथ्य अवधी की विशेषता है जिसे सक्सेना ने 'लखीमपुरी' कहा है। वहाँ निंद्या, भिख्या, दुबिध्या जैसे उच्चारण मिलते हैं।

१.६ ष तथा श लिपि चिन्ह

संस्कृत की तालव्य और मूर्धन्य घर्ष व्यंजन ध्वनि 'श्' तथा 'ष्' का प्राकृतकाल में ही सार्वत्रिक रूप से 'स्' उच्चारण होने लगा था। ष् का एक वैदिक उच्चारण 'ख्' भी था जिसका यजुर्वेद से सम्बद्ध प्रातिशाख्यों और शिक्षाग्रंथों में संकेत किया गया है।[3] इस प्रकार मूर्धन्य ष् भाषा के स्वभाविक विकास में जहाँ दन्त्य 'स्' हुआ वहीं तत्सम शब्दों में इसका उच्चारण ख् भी बना रहा। मध्ययुगीन हिन्दी के तत्० और अ० तत्० शब्दों में वस्तुतः ख् उच्चारण के साथ ही संस्कृत वर्तनी भी चलने लगी और उसे नियत रूप से ष लिखकर ख उच्चरित किया

१. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल : गोरखबानी पृ० ५१
२. हजारीप्रसाद द्विवेदी : नाथसिद्धों की बानियाँ, पृ० ८
३. भोलाशंकर व्यास : संस्कृत का भाषा शास्त्रीय अध्ययन, पृ० ११४

जाने लगा। जिन शब्दों में मूलतः ख् ध्वनि ही थी उन्हें भी ष से लिखने की परिपाटी चल पड़ी। केवल जहाँ कहीं मूर्धन्य ध्वनि के संयोग से बने संयुक्ताक्षर थे उनका उच्चारण स् ही रहा। इस नियम का अपवाद केवल तुकान्त के आग्रह में मिलता है जहां यदि पहला तुक स् वाला है तो दोष, तोष, रोष, दोस, तोस, रोस उच्चरित होते हैं।

'क' प्रति में सर्वत्र 'ष' लिपिचिह्न प्रयुक्त है। यह तत्० तथा अ०तत्० शब्दों के मूल रूप में ख् और संयुक्ताक्षरों में स् का स्थान्नापन्न है। इसप्रति का अन्य हस्तलेखों से ष के पदादि प्रयोग को लेकर अन्तर मिलता है जहाँ ष का पदादि प्रयोग न होकर ख चिह्न का प्रयोग है लेकिन नाथपंथी हस्तलेखों के अनुरूप ही 'क' प्रति में भी ष का पदादि प्रयोग है।

ष=ष (ख) < ष्—औषद ११८।२, दोष ५४।२।१, बिष २०।११।२
ष=ख < ख्—असंषि ३४०।१२, पंष २५।६।१, रषिहै ७७।६
ष=स < ष्—अष्ट ३३५।२, काष्ट ५५।५, दिष्टि १।१८।२

तालव्य श् ध्वनि स्वभाविक विकास में स् हो गई है इस नियम का प्रभाव फारसी 'श्' ध्वनि पर भी पड़ा है। मध्ययुगीन हस्तलेखों में श लिपिचिह्न मिलता अवश्य है किन्तु उसका उच्चारण स् ही था। 'क' प्रति में 'श' चिह्न केवल संयुक्ताक्षरों वाले अ० तत् शब्दों में मिलता है—आश्रम सत० ३३=आस्रम, श्रम ३।४३।१=स्रम, श्री ४।५=स्री। मूलतः ष् ध्वनि से बने संयुक्ताक्षरों में भी कहीं-कहीं इसका प्रयोग मिला है—बिश्न ३२७।२, बैश्नौं ३०।१।२।

१.७ ज्ञ लिपिचिह्न

ज्ञ चिह्न संस्कृत काल में ज्य्ँ (ज्+ञ्) ध्वनि के लिए प्रयुक्त था जो देशभेद से ग्यँ (ग्+ञ्) भी उच्चरित होती थी। नभाआ के तत्समीकरण के क्रम में ज्ञ् ध्वनि ज् और ण् वाले स्वाभाविक विकास के स्थान पर पर पुनः ग्यँ के रूप में प्रतिष्ठित हुई। लिपि में इसके दोनों रूप ज्ञ तथा ग्य चलने लगे। 'क' प्रति में दो स्थलों के अपवाद को छोड़कर सर्वत्र ग्य चिह्न का प्रयोग है—ग्याता १३।११, ग्यांन १।१३।१; अपवाद-ज्ञांन २०६।१, २५२।२

१.८ अनुस्वार तथा अनुनासिक

हस्तलेख में अनुस्वार और अनुनासिक का भेद नहीं किया गया है। अतः छंद में नासिक्य स्वर का उच्चारण पाठक के विवेक पर निर्भर करता है। अनुस्वार चार स्थितियों में प्रयुक्त है—अनुस्वार के लिए जहाँ द्विमात्रिक उच्चारण अपेक्षित है, अनुनासिक के लिए, अनुनासिक व्यंजनों की समीपवर्ती निरनुनासिक स्वरध्वनि को सानुनासिक बनाने के लिए तथा अनुना० ण्, न्, म्, के अनुगुंजक रूप में।

१. अंकुर अष्ट० ४, अंचलि २४४।५
२. षांड १६।७।१ =खाँड, मंदलिया १२।३ =मँदलिया
३. कन्यां २४।२४।१ =कन्याँ, गुलांम ११३।१ =गुलाँम
४. आसमांन ५।२१।१, करुणां ३६।४.

विभक्त्यन्त बहुवचनान्त रूपों तथा क्रियापदों में नियम से अनुनासिक के लिए अनुस्वार का प्रयोग किया गया है।

अनुस्वार और अनुनासिक का लिपि में अभेद प्राकृत, अपभ्रंश, पुरानी हिन्दी के हस्तलेखों से ही मिलता है। प्राचीनग्रंथों के सम्पादकों ने छंद की दृष्टि से इन्हे अलगाया है।[१] कहीं अपेक्षित चिह्न (ं, ँ) लगाए गए हैं,[२] कहीं केवल अनुस्वार रहने दिया गया है[३] और कहीं इस चिह्न को सर्वथा हटा दिया है[४]।

---

१. याकोबी : भविसयत्त कहा, भूमिका § ३
२. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : रामचरित मानस—काशिराज संस्करण तथा व्यासः प्राकृत पैंगलम—२, § ४८
३. भयाणी : संदेशरासक, ३।१३१, १४५
४. इनमें वेवर प्रमुख हैं जिनका उल्लेख पिशेल ने § १८० पर किया है।

अल्पप्राण—

इकहरा व्यंजन=द्वित्व अल्प०—अगि ३।११।२, पलव ७।२, उजल ७।१।१, तत २।३।१, कपड़ १२।५३।१।

महाप्राण—

इकहरा व्यंजन=द्वित्व महा०—दुष २।४।१, उघव ३८७।४, मगरमछ ७७।६, गुभ २२।१०।१, तुभ २२।१०।२।

इस वर्तनी का अपवाद केवल एक है जहां द्वित्व महाप्राण को इकहरे अल्पप्राण से लिखा गया है—षद १।२२।१=षध्घ।

अनुनासिक व्यंजन ण्, न्, म् के द्वित्व अनुस्वार से नियमतः संकेतित किए गए हैं—अंन ३५।१।४, सुंनि १७६।५।

१.१२ **य और व के नीचे बिन्दु**

स्वरमध्यग असंयुक्त स्थिति में य और व के नीचे 'क' प्रति में बिन्दु लगाए गए हैं—कीया १।३।१, सवान १।१।१। किन्तु ये निरर्थक प्रतीत होते हैं इसलिए कि मध्ययुगीन हस्तलेखों की भांति जिनमें य, व जो क्रमश ज,ब के लिए आते हैं, से तत्सम और श्रुतिगत रूपों का संकेत कराने के लिए लगाए गए बिन्दु के प्रयोगों के समान ये प्रयोग नहीं मिलते। 'क' प्रति में य, व, ज, ब ये चारों लिपि चिह्न मिलते हैं।

१.१३ **अन्य विशेषताएं**

हस्तलेख में कुछ फुटकल स्थानों पर उत्क्षिप्त प्रतिवेष्ठित 'ड़्' ध्वनि के लिए 'ण' चिह्न मिलता है—षांण ३५।१३।१=षाँड़∠सं० खण्ड। संस्कृत 'ण्' का उच्चारण नभाआ काल में स्वरमध्यग स्थिति में शुद्ध प्रतिवेष्ठित न रहकर उत्क्षिप्त (Retroflex) हो गया है जो 'ड़' के अनुनासिक रूप ड़्ँ की तरह है। हिन्दी के संदर्भ में इसी 'ड़ँ' के उच्चारण को स्वीकार किया गया है।[1] लेकिन ण के लिए ड़्ँ के प्रयोग की परम्परा कहीं नहीं मिलती। 'क' प्रति के उन प्रयोग का कारण लिपिगत अशुद्धि है।

---

१. धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी भाषा का इतिहास, § ५६, पृ० १२०।

कहीं-कहीं पूर्ण वर्ण को आधे वर्ण से लिखने की प्रवृत्ति भी मिलती है—अग्म ५।४।१ = अगम ।

१.१४ छंद संबंधी ध्वनि परिवर्तन

कग्रं० के शब्दों में कुछ ऐसे अनियमित ध्वनि परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं जिनका सम्बन्ध प्राभाआ > मभाआ > नभाआ वाले नियमित विकास से नहीं स्थापित किया जा सकता । ये प्रायः छंदोनुरोध जनित हैं । इन्हें कवि की स्वेच्छा भी कहा जा सकता है । कबीर के संदर्भ में इनका विशेष महत्त्व है ।

काव्य में छंद निर्वाह के लिए गुरु अक्षर को लघु और लघु को गुरु बना देने का निर्देश यद्यपि संस्कृत छंद शास्त्रियों ने ही 'अपि माषं मषां कुयच्छिंदोभंगं न कारयेत्' कहकर किया है फिरभी व्यवहारतः संस्कृत में पद की शुद्धता का सदैव ध्यान रखा गया है । परिनिष्ठित प्राकृत के कवियों ने भी इस प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं बरती है । सबसे पहले इस तरह के परिवर्तन धम्मपद में मिलते हैं ।[1] आगे चलकर अपभ्रंश कवियों ने खुलकर सुविधानुसार परिवर्तन किए हैं । हालांकि तत्कालीन परिनिष्ठित प्राकृत के कवियों में यह प्रवृत्ति नहीं मिलती, इसका संकेत याकोबी ने सनत्कुमारचरित की भूमिका में किया है ।[2] अपभ्रंश में छंदगत परिवर्तन स्वर के दीर्घीकरण और ह्रस्वीकरण दोनों दिशाओं में मिलता है । दीर्घीकरण ह्रस्व स्वर को दीर्घ बनाकर, सरल व्यंजन को द्वित्व करके और अकारण अनुस्वार का प्रयोग करके किया गया है । इसी तरह ह्रस्वीकरण दीर्घ स्वर को ह्रस्व बनाकर, द्वित्व व्यंजन का सरलीकरण करके भी पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ न बनाकर और अनुस्वार को अनुनासिक बनाकर किया गया है ।

इनके अतिरिक्त अपभ्रंश काल से ही मिलने वाली ह्रस्व एँ तथा ओँ ध्वनियाँ उच्चारण सौकर्य तया छंदोनुरोध से ह्रस्व उच्चारित होती रही हैं । आगे चलकर छन्द सम्बन्धी परिवर्तनों का आयाम और बढ़ा । पृथ्वीराज रासो जैसे हिन्दी के आदिकालीन काव्यों में यह प्रवृत्ति अधिक विस्तार से पाई जाती है ।[3] वहाँ भाषा में लयप्रवाह के अनुसार छन्द सम्बन्धी परिवर्तनों का निदर्शन स्वयं कवि ने कर दिया है । वैसे चारण-भाटों की भाषा शैली सामा-

---

१. प्रा०पै०, § ५८, पृ० १५० ।

२. वही, § ५८ पर उद्धृत ।

३. नामदरसिंह : पृथ्वीराज रासो की भाषा, § ४१, २,३,४.

न्यतः काव्य की भाषा-शैली से अलग रही है, यह कारण भी इस तरह के परिवर्तनों में सहायक हुआ है। इस परम्परा का निर्वाह नरहरि, गंग, भूषण, पद्माकर आदि कवियों की रचनाओं में दिखाई पड़ता है। छन्द सम्बन्धी ध्वनि परिवर्तनों का अध्ययन करते समय इन शैलीगत परिवर्तनों को अलगाने की आवश्यकता है ।

कग्रं की भाषा में छंद सम्बन्धी निम्नलिखित परिवर्तन पाए जाते हैं।

१. दीर्घीकरण

क. स्वर का दीर्घीकरण—

आ = अ : आंगा २६।५।२ = अंग, आंतरा १६।५।१ = अंतर, अकासा अष्ट० ७ = अकास, उतपाति अष्ट० २५ = उतपति ।

ई = इ : अजाती २६७।७ = अजाति, छत्रपती ३०।५।१ = छत्रपति, नीसांन २२०।१ = निसान, सकती ५।४६।१ = सकति ।

ऊ = उ : षूले ५।२।२ = खुले, भेऊ ३३।५ = भेउ ∠ भेद, मधूकरी ३५।१३।१ = मधुकरी, मेरू ब० अ० ७६ = मेरु

ख. व्यंजनद्वित्व—

मरंम ३।१६।२ = मरम, सरगि ३।११।१ = सरगि ।

ग. पदान्त में अनुस्वार का आगम—

पुन्यं १६४।४, रेतं १६४।४, सुन्यं २२०।४ ।

घ. पादपूर्त्ति के लिए स्वरों का गुणात्मक दीर्घीकरण—

अबंधू ब० अष्ट० ७ = अबंध, कंचू २११।१ = कंच ∠ कच्च, षांडू ३।३२।१ = षांड ∠ खण्ड, समानू, ३८३।७ = समान ∠ फ़ा० सामान ।

२. ह्रस्वीकरण

क. स्वर का ह्रस्वीकरण—

अ=आ: मंगलचार २।२=मंगलाचार, मनी ६६।४=मानी -- √मान,
इ=ई :षटाइ १७।६।१= खटाई∠देशी खट्ट+आई।
उ=ऊ : सुतधार अष्ट० ६७=सूतधार, सुरति ४३।३=सूरति

<फा० सूरत।

निम्नलिखित कुछ उदाहरण ऐसे हैं जिन्हें लिपि में दीर्घ ही दिखाया गया है किन्तु छंद-लय इन्हें ह्रस्व घोषित करती हैं।

आछा सत० ४=अछा√अछ अस्तित्वबोधक, काया ७।१।१=कया, साषा ११।५=सषा, ऊपरि ११।५ उपरि।

ख. दीर्घस्वर ए, ऐ, ओ, औ, का ह्रस्व उच्चारण—

उदाहरण दे० पीछे १.३

ग. अनुस्वार का अनुनासिक—

कुरँग दु० ७२=कुरंग, चँडाल ३०।६।१=चंडाल, सँतोषी ४०।२।१=संतोषी, सँसारी २४।६।१=संसारी।

३. तुक निर्वाह या सादृश्य के लिए परिवर्तन

ध्वनि परिवर्तन में तुक की भूमिका विशिष्ट है। कभी-कभी परिवर्तन इस सीमा तक हो जाता है कि मूल शब्द की प्रतीति केवल संदर्भ से ही हो पाती है। कग्र० में ऐसे परिवर्तनों की तालिका यह है :

कनराई ५८।७∠करण (ठकुराई का तुक), जारी २६३।७ =जारा (मुरारी का तुक), जुग २१६।६∠यजुर् (रुग∠ऋग् का सादृश्य), तनी ६६।८=तन (धनीं का तुक), ध्रंम १७।१।१=धर्म या धरम (भ्रंम का तुक), पंन ३७।३।१=पान (मंन का तुक), पीछू बारह ०१६=पीछे (कीछू का तुक), बाहौ११७।१=बहौ—√वह (चाहौ का तुक), सुष्य २।१३।२=सुख (दुष्य का तुक)।

ध्वनि परिवर्तन

क. स्वर

१.१५ प्रभाग्रा ऋ ध्वनि का विकास

संस्कृत में ऋ की गणना स्वरों में होती है। अनुमानतः 'प्राभाआ में यह संघर्षीस्वर था और इसका उच्चारण स्लाव भाषा के 'र्' की भाँति (यथा-स्रव) होता था। ...प्रातिशाख्य में ऋ ध्वनि का विश्लेषण इस प्रकार किया गया है—$\frac{1}{4}$ मात्रा अँ+$\frac{1}{2}$ मात्रा र्+$\frac{1}{4}$ मात्रा अँ अर्थात् 'अर'।[1] मभाआ काल में इसका अ, इ, उ, में विकास हो गया तथा कहीं-कहीं यह 'रि' रूप में भी प्राप्त होता है। हेमचन्द्र ने अपभ्रंश में 'ऋ' का अस्तित्व 'तृणु', सुकृदु जैसे शब्दों में माना है।[2] किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि अपभ्रंश में ऋ केवल लिपि में ही शेष था, इसका उच्चारण रि ही था। अशोक कालीन शिलालेखों और साहित्यिक प्राकृतों का अध्ययन करने के बाद ब्लाख ने यह मत स्थिर किया कि प्राभाआ ऋ का दक्षिण पश्चिमी क्षेत्र में अ तथा उत्तर पूर्वी क्षेत्र में इ में परिवर्तन हुआ है।[3] नभाआ काल में ऋ के मभाआ कालीन परिवर्तन प्रायः सुरक्षित रहे। साथ ही अर्धतत्सम शब्दों में स्वरभक्ति के कारण 'रि' का 'इर' रूप भी मिलने लगा। तत्सम शब्दों में यह 'रि' उच्चरित होती है। 'रि' वाले रूप मराठी, उड़िया आदि भाषाओं में 'रु' भी उच्चरित होते हैं। 'रु' उच्चारण हिन्दी में भी कतिपय शब्दों में पाया जाता है। कग्रं की भाषा में ऋ के ये सभी परिवर्तन पाए जाते हैं। वर्तनी में ऋ चिह्न का प्रयोग 'रि' के लिए मिलता है।[4]

१. **अ, आ ∠ मभाआ अ, अ + द्वित्व व्यंजन ∠ प्राभाआ ऋ, ऋ + संयुक्त व्यंजन**
घर २।२७।१ ∠ घर ∠ गृह, पकड़ै—√पकड़ १२।१०।२ ∠ पकडढ् ∠ प्रकृष्ट, पावस ५०।५।२ ∠ पावस ∠ प्रावृष, काढ़ौ—√काढ़ ४६।१७।२ ∠ √कड्ढ ∠ कृष्ट,

२. **इ, ई ∠ मभाआ इ, इ + द्वित्व ∠ प्राभाआ ऋ, ऋ + संयुक्त**
घिण १६२।१० ∠ घिणा ∠ घृणा, घिव १३।२६।२ ∠ घिअ ∠ घृत, तिसाई ६।७।२ < तिसा—∠ तृषा, दाति १।१।१ ∠ दातृ, अदिष्ट १५।१।२ ∠ अदृष्ट, थाथी ४३।११।१ ∠ *थत्तिअ ∠ स्थातृ—क, दीसहीं १७।१७।१ ∠ √दिस्स ∠ √दृश, नाती ६८।२ ∠ णत्तिअ ∠ नप्तृक

१. तिवारीः भोजपुरी भाषा और साहित्य, §६७, पृ० १०७
२. पंडित, प्र० वे०: हेमचन्द्र—प्राकृत व्याकरण, ८।४।३२६ तथा वृत्ति
३. ब्लाख : ला लाँग मराठे, §३०—पाँसेः ज्ञानेश्वरी, २:३ पृ० ३०पर उद्धृत
४. दे० पीछे—१.४

इ का गुण रूप ए—मेटँ अष्ट ०४३∠√मिट्ट∠मृष्ट, नबेरौ २७।१∠√णिविट्ट∠निर्+√वृत्।

३. उ, ऊ ∠मभाग्रा उ, उ,+द्वित्व∠प्राभाग्रा ऋ, ऋ+संयुक्त
बुढ़ापा २४२।३∠बुढड्-- ∠वृद्ध, मुई १६।११।१∠मुग्र-∠मृत-, ग्रपूठा १३।१।२∠ग्रपुट्ठ∠ग्र-पृष्ठ, बूठा १३।२२।२∠बुट्ठ∠ वृष्ट, मुष्टि ६७।३∠मृष्ट—√मृष् (ग्र० तत्० रूप)

४. रि∠प्रभाग्रा ऋ

ग्रर्वतत्सम शब्दों में बड़े पैमाने पर ऋ का 'रि' उच्चारण ग्रहण किए जाने से तद्भव रि∠ऋ वाले शब्दों का चलन प्रायः बंद सा हो गया है। भाषा में इसके फुटकल प्रयोग रह गए हैं। रि उच्चारण रि ग्रौर ऋ दोनों वर्तनियों में मिलना है।

कृम २४१।३=क्रिम∠कृमि, रिदा १२१।१६∠रिदग्र∠हृदय, क्रिपन ६६।२∠कृपण, क्रिपा २२३।८∠कृपा, ब्रिष ५४।७।२∠ वृक्ष, ब्रिछ ४।२।२∠वृक्ष, ब्रिध बारह० ६३∠वृद्ध,भ्रिग ३९३।४∠भृंग।

इ का ए गुण रूप—निसप्रेही २४।२२।२ निस्पृह—

५. इर∠प्राभाग्रा ऋ (केवल ग्र० तत्व शब्दों में)

ग्रबिरथा ३९८।४∠—वृथा, किरषी ३९६।५∠कृषि, किरम ३११।१।३ ∠कृमि, गिरही २०।२५।२∠गृही, निरतत १५६।६∠√नृत्, बिरध १६३।२∠वृद्ध।

६. रु∠प्राभाग्रा ऋ

रुग २१६।६∠ऋग्, रुति दुप० १९∠ऋतु, रूषाँ ४।१०।२∠रुक्ख∠ वृक्ष।

पित्र ३५६।६∠पितृ में ऋ का र् रूप द्रष्टव्य है। ग्र० तत्० शब्दों में 'र्' बोल-चाल में पाया जाता है।

१.१६ अन्त्य स्वर

प्राभाआ के पदान्त स्वरों को मभाआ में ह्रस्व करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। आगे चलकर अपभ्रंश की यह विशेषता ही बन गई। अपभ्रंश में बलाघात के स्थान परिवर्तन से आकारान्त, ईकारान्त, ऊकारान्त शब्द अकारान्त इकारान्त, उकारान्त बन गए।[1] आगे नभाआ काल में कश्मीरी, सिंधी, सिंहली, बिहारी तथा कोंकणी की कुछ बोलियों को छोड़कर अन्त्य स्वर लुप्त हो गए।[2] डॉ० चाटुर्ज्या के अनुसार पदान्त स्वर पूर्वी तथा पश्चिमी हिन्दी में १७ वीं शती तक वर्तमान थे।[3] लेकिन इसके बाद उनके अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं मिलता। वर्तमान काल में हिन्दी के अन्त्य स्वर उच्चारण में पूर्णरूपेण लुप्त हो चुके हैं, जबकि लिपि में सुरक्षित हैं।[४] ऐसी स्थिति में डॉ० चाटुर्ज्या के अनुसार यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि कग्रं की भाषा में अन्त्य स्वरों का अस्तित्व है या नहीं। शक संवत् १२७२ में लिपिबद्ध पुरानी मराठी की रचना 'ज्ञानेश्वरी' की भाषा के प्रसंग में भी अन्त्य स्वरों के सम्बन्ध में ऐसी ही अनिश्चितता व्यक्त की गई है।[५]

दीर्घ अन्त्य स्वरों को ह्रस्व करने की प्रवृत्ति कग्रं में विस्तार से मिलती है। लेकिन यहाँ अन्त्य इ, उ का लोप भी मिलता है। लोप की स्थिति में, क्योंकि व्यंजनान्त शब्द लिपि में स्वरान्त ही लिखे जाते है, इ, उ, का अ, में परिवर्तन मान लेने का भ्रम हो सकता है। लिपि की समस्या उन शब्दों में अधिक विचारणीय बन जाती है जहाँ प्राभाआ आ का

---

१. क-ब्लाख: ला लाँग मराठे, § ३७, ख–याकोबी: भविसयत्त कहा, भूमिका §१०, ग-भयाणी: संदेशरासक, §८, पृ० ४१.
२. कत्रे: फार्मेशन अव कोंकणी, §१७ की पाद-टिप्पणी
३. चाटुर्ज्या: ODBL, §१४८
४. धीरेन्द्र वर्मा: हिन्दी भाषा का इतिहास, §१००, पृ० १४६.
५. मुरलीधर गजानन पाँसे: ज्ञानेश्वरी, §२.८, पृ० ३२—'We have, however, no grounds to say definitely whether the final vowels were fully prononuced as in OIA and MIA or they were entirely lost as in NIA languages.'

ह्रस्वीकरण होता है ।। ऐसे शब्दों को लिपि का व्यवधान हटाकर हलन्त माना जा सकता है । लेकिन मध्यकाल में पदान्त के उच्चारण का कोई स्पष्ट प्रमाण न होने से ऐसे रूपों को हलन्त कहने का कोई ठोस आधार नहीं है क्योंकि रचनाओं के पद्यबद्ध होने के कारण पदान्त 'अ' से युक्त अक्षर को मात्रिक गणना में स्वतंत्र स्वीकार किया जाता हैं, उसे हलन्त मानकर पूर्ववर्ती अक्षर का अंगभूत नहीं माना जाता । इस प्रकार तत्कालीन कथ्य भाषा की स्थिति का पता नहीं चल पाता । फिर भी, अन्त्य इ, उ के लोप की प्रक्रिया इस अनुमान को बल अवश्य देती है कि कग्रं में उपलब्ध पाठ के समसामयिक कथ्य रूप में शब्दों का हलन्त उच्चारण प्रारम्भ हो गया होगा । नीचे इन विभिन्न स्थितियों के उदाहरण प्रस्तुत हैं ।

क. ह्रस्वीकरण

अ<आ : अकन १३१।३<*अ-कणा<-कना, ईंट १२।१८।१< इट्टा<इष्टका, गंग १०।३।१<गंगा<गंगा, जट २६०।२<जडा<जटा, जमुन १०।३।१<जमुणा<यमुना, टकसाल ५।४७।१<टक्कसाला<टंकशाला, दाष १७७।८< दक्खा<द्राक्षा, धन ५।३६।२<धण्णा<धन्या, पीड़ ३।१३।१<पीडा<पीडा, बाग २०।१५।१<वग्गा< वल्गा, बात १२।३२।१<वत्ता<वार्त्ता, बिन २।६।२< विणा<विना, लट ३४०।१५<लट्टा<लट्वा, लाष १२।१६।१<लक्खा<लाक्षा ।

इ<ई : अमरबेलि २०५।४<—वल्ली<—वल्ली, गूंनि ११।४< गोणी<गोणी, नारि २०।१०।१<णारी<नारी, पुहुमि १६४।२<पुहवी<पृथिवी, बंसि १।२१।२<वंसी<वंशी, बारुनि दुप०८४<वारुणी<वारुणी, भेरि ७६।६<भेरी< भेरी ।

ख. लोप

—इ : ओषद ११८।२<ओषधि, किरम ३११।३<कृमि, वेला (केल-आ) २५।४।१<कइलि—कयलि<कदलि, गंडक बारह०५५<* गंडकि<गण्डकी, गाडर १७।३।२<* गाडरि<गड्डरी, गिर ५५।४।१<गिरि, नित ४६।६।२<

णित्ति <नित्य, नींव ५।४१।१ णेंविं ∠ नेमि, पांण ४७।५।२ <पाणि ∠पाणि, बिरंच ८४.४<विरंचि, बिह २६७।८<विहि∠विधि, बेल—डी २३ ६।१ <वेल्लि <वल्ली, रत १।२<रति, रीत ३६२।६<रीति।

—उ : अगर २७०।८<अगरु<अगुरु, असाध २७।१।२<असाधु, कमंडल ७.१।१<कमण्डलु, गींद २६०।३<गिंदुअ<गेन्दुक, गुर १।१३।१<गुरु<गुरु, चंच १६।३०।२<चचु<चचु, जंत ५०।४।२<जंतु<जन्तु, तर ७।२<तरु<तरु, दयाल १५१।८<दयालु<दयालु, दार दु१०६०<दारु<दारु, धेन १५२।५<धेणु<धेनु, बेन १२१।३<वेणु<वेणु, मींच ३।३५।१<मिच्चु<मृत्यु, मेर १७४।१३<मेरु<, मेरु, राह ३२६।७<राहु<राहु, रैंना (रैंन—आ) ३'.५।२< रेणु<रेणु।

१.१७ मात्रा संबंधी स्वर परिवर्तन

कग्रं में मात्रात्मक स्वर परिवर्तन ह्रस्वीकरण और दीर्घी करण दोनों दिशाओं में मिलता है। इस संबंध में मभाआ के अध्येताओं ने संकेत किया है कि ये प्रायः आद्य अक्षर के स्वर में ही होते हैं।[1] लेकिन कग्रं में इस तरह के परिवर्तन उपधा तथा प्रागुपधा स्वरों में भी कम नहीं है। गायगर ने बताया है कि मभाआ में संयुक्त व्यजन का पूर्ववर्ती दीर्घस्वर तथा सानुस्वार स्वर ह्रस्व हो जाता है।[2] यदि भाषा विकास की तीनों स्थितियों पर तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि प्राभाआ के ह्रस्व स्वर+संयुक्त व्यंजन, दीर्घस्वर+संयुक्त व्यंजन मभाआ में नियत रूप से ह्रस्व स्वर+द्वित्व व्यंजन बन गये और आगे नभाआ काल में द्वित्व व्यंजनों का सरलीकरण हो कर दीर्घस्वर+ व्यंजन रूप मिलता है। इसी प्रकार प्राभाआ ह्रस्व स्वर+अनुस्वार, दीर्घस्वर+अनुस्वार मभाआ में ह्रस्व स्वर+अनुस्वार हो कर नभाआ काल में सानुनासिक दीर्घस्वर बन गए हैं। स्वर परिवर्तन की यह

---

१. कत्रे : प्राकृत लैंग्वेजेज, § ४७

२. गायगर : पालि भाषा और साहित्य, § ३

प्रक्रिया अक्षरों का मात्रा भार बनाए रखने के लिए होती है। इस मात्रा नियम (Law of Mora) का व्यत्यय नभाग्रा काल में बलाघात के स्थानान्तरण में दिखाई देता है।

बलाघात के स्थान परिवर्तन से स्वरों में ह्रस्वीकरण और दीर्घीकरण दोनों मिलते हैं। यह प्रायः प्रातिपदिक में किसी पदग्रामिक तत्त्व के योग से अथवा समास-रचना से होता है। कहीं-कहीं यह स्वतः भी पाया जाता है, सम्भवतः अर्थगत कारण से। ये परिवर्तन रूपध्वन्यात्मक परिवर्तन कहलाते हैं।

कग्र में उक्त दोनों प्रकार के मात्रात्मक परिवर्तन हैं अर्थात् क्षतिपूरक तथा बलाघात जनित। क्षतिपूरकता केवल दीर्घीकरण में है जब कि बलाघात ह्रस्वीकरण और दीर्घीकरण दोनों में दिखाई देता है।

क. ह्रस्वीकरण—पदादि में

अ<आ : अकास ४८।२<आकास<आकाश, अनंदा २०२।१३<आणंद∠आनन्द, अवास ३२८।२<आवास, अराधा चौ० ९<√आराध<आ—√राधय्, असाढ़ दुप० ३<आसाढ <आषाढ, असीस १६।१०।१<आसीस<आशीष्, अहीरा ७६।१०<आहीर—अ<आभीर—क, अहेड़ी ४।८।१<आहेडिअ<आखेटिक, कहार ९०।५<कहार<काहार, जवाई २२७।२<जावाँइ<जामातृ, दवा १।८।२<दावा< दावा, बहियाँ ३६०।४<बाहु–<बाहु–, भंडार २।२६।१<भंडार<भाण्डार,मनसा सत० २७<माणुस<मानुष, मया चौ० १३<माया<माया।

इ<ई : जिय २२५।१<जीय—जीअ<जीव, निंबिया १७७।४ नींब∠णिंब—<निम्ब, पिरांनी ३६०।४>पीडा∠पीडा, भिषारी ३२५।७—भीख—∠भिक्खा<भिक्षा, मिठाई ३।३१।२ मीठ—<मिट्ठ<मिष्ट, रिझाऊँ ५४।५—√रीझ—<√रिज्झ<√ऋध्।

इ<ए : इतना ९।२।२<एत्त—एत्तिअ<इयत्तक, षिलौना ३४३।२ <√खेल—<√खेल्, दिषाइ ९७।६<√देक्ख—<√दृक्ष्।

ई<ए : नींव ५।४१।१ <णेविँ—णेमि <नेमि ।

उ<ऊ : कुवां ५।४५।१ <कूव— <कूप—, भुइ ३६१।४ <भूविँ <भूमि ।

उ<ओ : उहि दु० १२ <ओहि—अहो <असो, कुटवाल ३४०।१४ <कोट्टवाल <कोट्टपाल, गुसांईं बारह० ८ <गोस्साईं <गोस्वामी, जुगिया २२।१ <जोगी <योगी, टुक ५१।३।२ <* टोक <स्तोक, डुलावा बारह० २५ < √डोल— < √दोलय्, बुलावौ ३५८।४ <देश० √बोल्ल, मुतिया ११।१४।१ <मोत्तिअ <मौक्तिक ।

ऊ<ओ : षूंटा १०।५ <खोडअ <क्षोडक, टूक १३।५।१ <*टोक <स्तोक ।

पदमध्य में :

अ<आ : अगह सूहौ०४ <अगाह <अगाध, अठसठि २७७।३ < अट्ठासट्ठि <अष्टाषष्टि, चमरा ३८९।३ ∠ चम्मआर < चर्मकार, देवल ६।७।२∠ देवालअ ∠ देवालय, पांहण ५५।२।२ <पाहाण <पाषाण, बिलइया ८०।४ <बिडालिया <विडालिका,

इ<ई : पपिहा ३।२४।२ ∠ देश० पप्पीअ, बिटिया १३।४∠ देश० बिट्टी— ।

उ∠ऊ : महुवा ७२।३ ∠ महुअ, महूव∠मधूक ।

पदान्त में : इनके उदाहरण देखिए १.१६ पर ।

अर्धतत्सम शब्दों में भी यह प्रवृत्ति पाई जाती है— अचिरज ६।१।२∠आश्चर्य, अहिलाद २०।२३।१ ∠ आह्लाद, दमोदर १९१।८ ∠ दामोदर, पटंबर १०५।४ <पाटम्बर, पतालि ७६।५∠पाताल, महातम ३५।१४।१ ∠ माहात्म्य, रजपूत १२६।२ ∠ राजपुत्र, ष्पितम्बर बारह० ४५ <पीताम्बर, उरघ १।३१।१ <ऊर्ध्व, ऊंकार ३३६।२∠ओ३म्कार, अजंच ५०।१२।१ <अ-√यांच्, अनहद ५।४४।१∠अनाहत, मजकण २०।२०।१ <मज्जा+कण ।

ख. दीर्घीकरण.

क्षतिपूरक स्वर के दीर्घीकरण के उदाहरण दे० १.३२ (अ) पर। यहाँ बलाघात वाले उदाहरण दिए जा रहे हैं।

पदादि में

आ < अ : आररिण ४५।५।१ < अरण्ण ∠ अरण्य, पाकड़ै २६।१।१ < √पकड्ढ < प्रकृष्ट, बागुल १२।२८।२ < वग ∠ वक, बाणियां ३८।८।१ ∠ वणिय < वणिक्, मासा ३५।७।२ < मसअ ∠ मशक, लाकड़ी ५८।१।२ < लकुडी < लकुटी।

ई < इ : जीम ३१।१०।२ < √जिम ∠ √जिम्, पीव १२।४२।२ ∠ पिअ < प्रिय, लीक चौ० २४ ∠ √*लिक < √लिख्।

ए < इ : षवनहार ब० अ० १२८ < √खिव < √क्षिप्, षेदै १४५।४ ∠ √खिद ∠ √खिद् ग्रेह ५।३ < *ग्रिह < गृह (सं० गेह ?), जेवड़ी १२।४८।१ < जिव- ∠ जीवा, तेवड़ ३५६।१ < तिवड ∠ त्रि-पट।

ऊ ∠ उ : षूटै १७८।१ ∠ √खुड ∠ √क्षुद्, दूवा ३२३।७ ∠ दुव—दुअ ∠ द्वि, फूस ४५।३६।२ ∠ बुस ∠ बुस, मूवा १२।४६।१ ∠ मुवअ ∠ मृतक, मूसा १३४।२ < √मुस ∠ √मुष्, रूसणां १७।१२।१ ∠ √रुस ∠ √रुष्।

ओ ∠ उ : षोजै ३७७।५ ∠ √खुज ∠ √खुज्, तो ११।८।२ < तु ∠ तु, तोड़ै १३५।२ ∠ √तुड ∠ √त्रुट्, मोनि १३३।४ ∠ मुणि ∠ मुनि।

ओ ∠ ऊ : धोम ३८६।७ ∠ धूम ∠ धूम, भोमि १५६।३ ∠ भूमि ∠ भूमि।

पदमध्य में

आ ∠ अ : उजाड़ ८१।६ ∠ देश० उज्जड।

ई ∠ इ : बहीर ३१।५।१ ∠ बहिर ∠ बधिर।

ऊ ∠ उ : षजूरि ५५।१०।१ < खज्जुर ∠ खर्जुर।

ओ ∠ उ : बहोड़ि १२।३७।१ ∠ √बहुर ∠ प्र + √भू।

पदान्त में

ई∠इ : जवाई २२७।२∠जावांइ∠जामातृ, थाथी ४१।११।१∠ *थत्तिग्र∠स्थातृ, दही ७६।७∠दहि∠दधि, नहीं ६।३।२∠ णहि ∠नहि ।

ग्रर्धतत्सम शब्दों में भी यह प्रवृत्ति विस्तार से मिलती है—ग्राकुल ३४।४∠ग्रकुल, ग्राधीन १६।१८।२∠ग्रधीन, पारब्रह्म १६।१६।२∠परब्रह्म, राजस १८४।३∠रजस्, बीनती ७८।१∠विनति, पोट १७।१७।२∠पुट, रोज ३५। २०।१∠रुज, ग्रपरंपार १६५।७<ग्रपरंपर, कुलाक्रम २६३। २<कुलक्रम, बनासपती ३८८।५∠वनस्पति, ग्रजामेल ३२०।५<ग्रजामिल, निसप्रेही २४।२२।२∠निस्पृहिन्, ग्रनूपम ३५।१६।१<ग्रनुपम, मधूकरी ३५।१३।१<मधुकरी, बसोधरा १६१।४∠वसुधरा, बस्ती २३८।५∠वसति ।

१.१८ **गुण संबंधी स्वर परिवर्तन**

कग्रं में स्वरों के गुणात्मक परिवर्तन की निम्नलिखित दिशाएँ मिलती है :

पदादि में

ग्र<इ : कछू १३।४।२∠किंछि, किंचि∠किंचित्, नचींत ११।१३।२ <णिच्चिंत<निश्चिन्त, नबेरौ २७।१<√णिविर<निर् +√वृ: पंड ३५।१।१<पिंड<पिण्ड।

ग्र<उ : कवांरी २४।२४।२<कुमारी<कुमारी, गरवा १।१४।१< गरुग्र<गुरुक, भवंगा १६०।३<भुग्रंग—∠भुजंग- ।

इ<ग्र : किवाड़ ३५६।२<कवाड<कपाट, षिन ४६।१४।१<खण <क्षण, गिणै २४।२।१<√गण<√गण्, चिड़ा ४६।२।२ चडग्र<चटक, जिस ४५।२१।२∠जस्स∠यस्य ।

इ<उ : छिवैगा २७४।२<√छुव<√छुप्, रिसाइ ३।२८।१ <√रुस<√रुष् ।

उ<अ : उनवै ब० अ०२२∠√अवणम<अव+√नम्, जुरा ४८।८।२<जरा<जरा, फुनिगा ४५।२<फणि-ग∠फणी-क, बुगली १६।३०।१<बग—ल-<बक—।

ए<अ : लेषत २६७।७<√लक्ख-∠√लक्ष्, लेज १०।२।१<लज्जु∠रज्जु।

ए∠ओ : नेहरौ १८।७<* नोहरउ <णउहरउ-णवहरो<नवगृह-, लेट्यौ ९६।५<√लोट्ट∠√लुण्ठ्।

ओ<अ : ओ ९।१।२<अहो<ओह<असौ-अदस।

ओ∠आ : झोल ५१।१।१<झाल, जाल<ज्वाल।

अर्ध तत्सम शब्दों में स्वरों के गुणात्मक परिवर्तन के निम्नलिखित उदाहरण मिलते हैं—

नषेद २५२।३>निषेध, पपीलका १४।७।२ पिपीलिका, बबेक २०।८।१<विवेक, बभीषन ३३।४<विभीषण, बसेष १६७।४∠विशेष, कमोदनी ४४।१।१∠कुमुदनी, जरजोधन ३४०।१३∠दुर्योधन, परसोतम १६५।७<पुरुषोत्तम, भवनपति ५७।१।१∠भुवनपति, महरत्य ३९५।१<मुहूर्त्त, पिनच २१२।२∠*पनचा<प्रत्यंचा, उनमान ५।३।१<अनुमान, कुसमल ३९१।८∠कश्मल, पुटोला ३।४१।१>पटोलक।

यदमध्य में

अ<इ : अंबली ७६।३∠अंबिलिआ<अम्लिका, कांमणी १६।३२।१<कामिणी<कामिनी, ग्याभण १५२।३∠गब्भिणी∠गर्भिणी, निमष २६३।३∠णिमिक्ख∠निमिष, पहरै २४।३।१∠√पहिर∠परि+√धा, पहली २२९।५∠पहिल्ल, पढिल्ल>*प्रथिल्ल, वणाज २३४।४∠वणिज्ज∠वाणिज्य, बहनां २७०।१<बहिणी∠भगिनी।

अ<उ : कड़वा ५८।५।१∠कडुअ∠कटुक, कुसम सत० ४∠कुसुम∠कुसुम, कूकर ३५।१२।२∠कुक्कुर∠कुक्कुर, गरड़ १४५।२

गरुड<गरुड, गरवा १।१४।१<गरुअ<गुरु–क, जसवै बारह ०५२<जसुवइ<जसोवइ<यशोमति, तरन ४०१।७ <तरुण<तरुण, दारन ८३।४<दारुण<दारुण, मनसा सत० २७<माणुस—<मानुष, लकड़ी १२।२३।१<लकुडी <लकुटी ।

इ<अ : अषिर१३।२४।२<अक्खर<अक्षर, कनिहार १८।११< कण्णाहार<कर्णधार, नाटिक ६२।७<णट्टक<नर्त्तक, लरिका २१।३<√लड—<√लड्—।

इ<आ : षरिहांना १४।३∠खलाहान∠खलाधान ।

इ∠उ : मनिष १२।१४।१∠मणुस्स∠मनुष्य ।

उ∠अ : अंजुरी २६६।२१∠अंजलि∠अंजलि, देहुरी ५।४२।१∠ देहली∠देहली, बाहुला ५७।३।१∠बाहला∠√बाह्य्, बिथुंराई १६।५∠√वित्थर∠वि – √स्तृ ।

उ∠इ : बिछुवा १३४।४∠विच्छिअ∠वृश्चिक ।

ऊ∠ई : बिहूणां ५।१५।२∠विहीण∠विहीन ।

ए<अ : पछेवड़ा ३५।३।२∠पच्छपडअ∠पश्च+पट—क ।

ए∠ओ : जनेऊ अष्ट० २३<जण्णोवईय∠यज्ञोपवीत ।

अर्ध तत्सम शब्दों के उदाहरण निम्नलिखित हैं : अपरचै २६।१।१∠अपरिचय, तिमर ३२१।२∠तिमिर त्रिबधि ३२१।२<त्रिविधि, दुरत ११६।४∠दुरति, पपीलका' १४।७।२∠पिपीलिका, बिधना १६६।८∠विधिना, रुधर चौ० १६∠रुधिर, अणरागी २६६।१०<अनुरागी, परसराम बारह० ५६∠परशुराम, मधकर ५।६।१∠मधुकर, मुकंदा २५०।२∠मुकुन्द, अचिरज ६।१।२∠आश्चर्य, उदिक ६४।५∠उदक, चातिग २२५।३∠चातक, ममिता ५।४८।१ ∠ममता, कौतिग ५।१।२∠कौतुक ।

पदान्त में

इ∠उ : चषि २८।२∠ चक्खु∠चक्षु ।

उ∠अ : अनगु २१०।२∠*अरणग्ग∠अनंग ।

ऊ∠अ : लोहू चौ० २∠लोह∠लोह

स्वरों के गुणात्मक परिवर्तनों, जिनके उदाहरण ऊपर दिए गए हैं, का अध्ययन करने से पता चलता है कि ये समीकरण, विषमीकरण, विपर्यय जैसी ध्वन्यात्मक प्रक्रियाओं के कारण हुए हैं।

१.१६ उद्वृत्त स्वर

संस्कृत की स्पर्श अल्पप्राण व्यंजन ध्वनियाँ मभाआ काल में लुप्त हो गईं और उनके स्थान पर ह्रस्व स्वर आ गए। डा० चाटुर्ज्या के अनुसार ये ध्वनियाँ पहले सोष्म स्थिति से गुजरी होंगी और तब इनका लोप सम्भव हुआ होगा।[1] इस प्रकार संस्कृत क्>ग्>ग़्>अ, च्>ज् ज़्>अ, त्>द्>द़्>अ के क्रम से लोप की प्रक्रिया को समझा जा सकता है। इन ध्वनियों के लोप होने पर प्राकृत में दो स्वर ध्वनियाँ एक साथ पाई जाने लगीं। स्वरों की विवृति परिनिष्ठित प्राकृत की विशेषता है। जैन महाराष्ट्री तथा अपभ्रंश में विवृतियों के स्थान पर 'य' तथा 'व' श्रुतियों का प्रयोग चल पड़ा। हेमचन्द्र ने इसका संकेत 'अवर्णो य श्रुतिः' सूत्र में किया है।[2] श्रुतिगत रूपों के साथ ही अपभ्रंश में प्राकृत के 'अइ' तथा 'अउ' जैसे द्वयक्षरात्मक उच्चारण एकाक्षर या ध्वनियुग्मगत भी हो गए।[3] नभाआ काल में विवृतियों का एक ओर स्वरसंधिप्रक्रिया से संकोच हुआ और दूसरी ओर इनके ध्वनियुग्मगत उच्चारण (संयुक्त स्वर) का प्रादुर्भाव हुआ।

कग्रं की भाषा में विवृतियों का संरक्षण, 'य' 'व' श्रुति, संधि तथा संयुक्त स्वर ये चारों स्थितियाँ पाई जाती हैं। संरक्षण की प्रवृत्ति भाषा

---

१. चाटुर्ज्या : भारतीय आर्य भाषा और हिंदी, पृ० ९१

२. हेम०, ८।१।१८०

३. दे० पीछे—१. ३

की प्राचीन प्रकृति का और संयुक्त स्वर पूर्वी विभाषा—अवधी, भोजपुरी का संकेत देते हैं।

१. स्वर विवृतियाँ

विवृतियों की दो कोटियाँ मिलती हैं—पुरानी प्राकृत काल की चली आती विवृतियाँ तथा नई निर्मिति। नई विवृतियाँ वहाँ मिलती हैं जहाँ 'य्' तथा 'व्' का क्रमशः 'इ' तथा 'उ' में सम्प्रसारण हुआ है।

अइ : गइंद १२।४२।१ ∠ गजेन्द्र, जइयौ २३५।७ (विधि०)।

अई : करई २७१।५ (वर्त०), दई २२।८।२ ∠ दइअ ∠ दइव ∠ दैव, नई ३०४।६ ∠ णअ ∠ नव—, पईसा १७।७।२ ∠ पाइ—पाय—पाअ ∠ पाद—, बंबई १६२।२ ∠ बम्मिअ ∠ वल्मीकि, सईं १।१।१ ∠ सइ ∠ सइस ∠ सदिस ∠ सदृश, संतई२६।२।१।

अउ : कउवा १२।३ ∠ *काव ∠ काअ ∠ काक—, करउँ १०७।१ (वर्त०), गउ ४१।३।२ ∠ गउ ∠ गो ∠ गो, ठउवाँ सूही० ११ ∠ ठावँ ∠ ठाम ∠ स्थाम, डउवा २०।५ ∠ डाउ ∠ डव्व ∠ दर्व—दर्वी, तउ १।१८।२ ∠ तउ ∠ तो ∠ तो, नउवा ३८६।७ ∠ णाउअ—णाविअ ∠ नापित लउवा १७७।३ ∠ लाव ∠ लाउ— ∠ लावक।

अऊ : अऊत ३०।७।२ ∠ अ—पूत ∠ अ—पुत्र।

आइ : आइर २६३।१ ∠ आयर —आअर ∠ आदर, काइथ २२२।४ ∠ काइत्थ ∠ कायस्थ, काइर ४५।१।१ ∠ कायर ∠ कातर, गाइ २६।२१।२ ∠ गाई ∠ गो, गांइ २२२।१ ∠ गामि ∠ गामे (पालि०) ∠ ग्रामे, गाइत्री २६४।३ ∠ गायत्री, घाइल ४३।१०।२ ∠ घाय—घाअ ∠ घात—, चाइ १७।५।३ ∠ चाय—चाअ ∠ देशी० चाह, जाइ १।१३।१ (विधि०), नांइ २२०।१ ∠ अप० णाएँ ∠ णामे ∠ नामे, नाइक ३८३।२ ∠ नायक, न्याइ २२।१ ∠ न्याय, पाइ ५।३६।२ ∠ पाय—पाअ ∠ पाद, बाइ ३२५।२ ∠ वाय—वाअ ∠ वात, भाइ १३।२६।१ ∠ भाय—भाअ ∠ भाग, मांइ १२।५६।१ ∠ माइ ∠ मातृ, राइ ५।१५।२ ∠ राय—राअ ∠ राज, लाइ

२।३२।१∠अलात, साइर ४।६।१∠सायर—साअर∠सागर।

आई : काई २६२।७∠प्रा० कावी∠कावार, जाईं २६६।१८ (वर्त०), नाई १७।२∠अप० णाइ, नियाई २००।२∠न्यायी, राई १४।८।१∠राइआ∠राजिका, साई १५२।७ ∠साइ∠साति।

आउ : आउ २४२।४∠आउ∠आयु, गांउ ३०।१।२∠गावँ∠गाम ∠ग्राम, नांउ २।२०।१∠णावँ∠णाम∠नाम, माउ २७०।१७∠माउ∠मातुः।

आए : उठाए ४६।४०।२ (भूकृ०)।

इए : करिए २६।३।१ (विधि०), लिए १६।२४।२ (भूकृ०)।

उइ : भुंइ ३६१।४<भूंवि<भूमि।

उई : रुई१२।६०।२<रोमिका,।

एइ : देइ १६।२।१ (विधि०), लेईं ३५।१६।१ (वर्त०)।

एई : एईं ३५३।२<एते देईं १६।४।२ (वर्त०)

एऊ : देऊँ ११।२।२ (वर्त०), भेऊ ३३।५∠भेव—भेअ∠भेद।

ओइ : भोइन १६८।४∠भोय, भोअ∠भोग—, लोइ १२।५५।१∠लोय लोअ∠लोक, लोइन ३।२६।२∠लोयण, लोअण∠लोचन।

ओई : लोई २६।३।२∠लोइआ∠लोमिका।

आइए : जाइए ४२।१।१(विधि०)

इआई : अनिआई दु० ८∠अन्यायी।

२. 'य' तथा 'व' श्रुतियाँ

कग्र में 'य' 'व' तथा 'ह' श्रुतियाँ मिलती हैं। 'ह' श्रुति के उदाहरण थोड़े ही हैं। 'य' 'व' श्रुतियाँ तीन प्रकार से अस्तित्व में आई हैं : स्पर्श अल्पप्राण व्यंजनों के लुप्त होने पर, अन्तस्थ व्यंजन 'य्' 'व्'

के लोप होने पर और इनके अतिरिक्त ध्वनियों के लुप्त होने पर। वास्तव में दूसरी और तीसरी अवस्था में मिलने वाली 'य्' 'व्' ध्वनियाँ स्वरों के अन्तस्थीकरण के उदाहरण हैं।

य∠प्राभाश्रा क: अन्याले ११८।१∠ अरिण—कार, नियरा दुप० ३२∠निकट, पराया १०८।४∠पर—क, पयंप्या १६३।६ ∠प्र—√कम्प्।

य∠ग् : मयंक ३८५।५∠मृगांक, ल्यौ ८२।७∠ लग्न, सायर ६।६ ∠सागर, सीयरा १७७।६∠शृगाल।

य∠च् : बैयन ३३।७।२∠वचन।

य∠ज् : गयंद ४५।८।२∠गजेन्द्र, राया १७०।३∠राजा।

य∠त् : कायर ४५।१४।१∠कातर, धीय २२।६∠दुहिता, पीयरी ३१।६।१∠पीत—, हरियल ४००।३∠हरित।

य∠द् : हियाहिं ३।२६।२∠हृदय।

य∠प् : पियास १२१।५∠पिपासा।

व∠क् : ये रुप प्राय: स्वार्थिक प्रत्ययों में क् > अ > व के क्रम में मिलते हैं—कउवा १२।३∠काक—क, नउवा ३८६।७ ∠नापित—क, नवल १६१।६∠नकुल, मवरा श्रष्ट०५२∠ मुकुल, सूवा ६८।५∠शुक—क।

व∠ज् : भुवगंम ३।१८।१∠भुजगंम।

व∠त् : घिव १३।२६।२∠घृत, बावरे चौ० ५∠वातुल, सीव १८८।६∠शीत।

व∠द् : पसाव ५२।२∠प्रसाद, पाव १४।७।२∠पाद, भेव ३३।५∠ भेद, साव २।१८।१∠स्वाद।

ह∠य् : छाहां ३२८।१२∠छाया, पुतिहाई १६।३∠√पतिया∠ प्रति+√आपय्।

'ह' श्रुति के अधिक उदाहरण दे० १·४७।

प्राभाग्रा अन्तस्थ व्यंजनों के लिए 'य', 'व'—

द्यौहाड़ी १।२।१<दिवस—, ग्राव ४६।२७।२<ग्रायु, गाविती ग्रष्ट० ३५<गायत्री, न्याव २२।६।१∠न्याय, पिव५।३६।२ <प्रिय, बाव १३।२३।२∠वायु, बिवोग २।२८।१∠वियोग।

अन्य प्रयोग—

पयारा १०५।५∠पलाल, चाव ४५।६।२<देशी० चाह, साव २३०।५ ∠साधु।

३. उद्वृत्त स्वरों की संधि

कग्र' में 'ग्रा' 'ई' 'ऊ' 'ए' 'ऐ' 'ग्रो' 'ग्रौ' स्वर ध्वनियाँ मभाग्रा काल की स्वर विवृतियों के संकोच से विकसित हुई हैं। संधिज रूप शब्दान्त-र्गत ग्रौर शब्दान्त दोनों स्थितियों में पाए जाते हैं। रूप रचना में यह संकोचन प्रक्रिया विशेष महत्त्वपूर्ण है जहाँ रचनात्मक प्रत्यय, विकारी रूप ग्रौर क्रियापद में ग्रत्यधिक परिवर्तन हो गया है।

ग्रा∠ग्र+ग्र : ग्रंधा २०।१७।२∠ग्रंध+ग्र∠ग्रंध+क, डोरा ३१।२ ∠डोरग्र+<दोर+क, तुम्हारा २६२।२∠तुम्हग्रारग्र ∠तुष्म—कारक, बारा १६६ ५<*बारग्र<बारह, बारस ∠द्वादश।

ग्रा<ग्र+ग्रा : ग्रंधारी १६।२४।१<ग्रंधग्रार—∠ग्रंधकार—, कलाल ६।२।२∠कल्लवाल<कल्यपाल, चारि १८।८।२∠चग्रारि ∠चत्तारि∠चत्वारि, पियारा २।२२।१∠पिग्रग्रारग्र∠प्रिय —कारक, लुहार ४६।२१।२∠लोहग्रार∠लोहकार।

ग्रा∠ग्रा+ग्र : चकवा १२।८<चक्कवाग्र<चक्रवाक, ठाँ ५८।५ ∠*ठाग्रँ, ठावँ∠ठाम<स्थाम।

ग्रा<ग्रा+ग्रा : पुजारा १६।८∠पूजा—कारक, माँ ग्रष्ट० १५∠ माग्रा∠माता।

ई<इ+ग्र : ग्रमीं २०।१६।१<ग्रमिग्र∠ग्रमृत, ग्रहेड़ी ४।८।१< ग्राहेडिग्र∠ग्राखेटिक, इंद्री ३७।४∠*इंद्रिग्र<इंद्रिय,

चोरी १२।२८।१<चोरिअ<चौर्य, तेली ३८६।४< तेल्लिअ<तैलिक, लोही ३।२६।२∠लोहिअ<लोहित।

ई<इ+आ: अंघी ४८।५।१∠अंधिआ<अंधिका, आरसी १३।८।१ ∠*आरस्सिआ∠आदर्शिका, षाई २८।८।१<खाइआ <खातिका।

ई/इ+इ: अढ़ाई १६३।४∠*अड्ढाइइ, अडढाइय, अड्डाइय्य∠ अर्घतृतीय।

ई<ई+इ: असी ३३६।२<असीइ∠असीति।

ई<अ+इ: उजीणीं २६६।४<उज्जइणी<उज्जयिनी, तुरी १३।१३।१<*तुरइ, तुरय<तुरअ∠तुरग।

ऊ<उ+अ: करू ब० अ० ८६<कडुअ<कटुक, बारू ३११।७< बालुअ<वालुका, लाडू १६८।७<लड्डुअ<लड्डुक।

ऊ<अ+उ: आऊँ ६।१४< अउँ,—अवँ,—अविँ<—अमि<— आमि, कंदू ४।५।१<कद्दउँ, कद्दवँ<कर्दम, कूँ ३४।६।२< कउ<कओ<कृत:।

ऊ<उ+उ: धूँ ३८।५<*धुउम<ध्रुवं, धू ३३।५<धुउ<धुव <ध्रुव।

ए<अ+इ: उतरे ५०।६।२ (विधि०)<—अइ<—अति, करे ४५।३५।२ (वर्त०)<—अइ<—अति, कूपलें १३६।७ <—अइँ<—आइँ<—आनि (नपुं० बहु०), केला २५।४।१∠कइल∠कयलि∠कदलि, बटेरै १६०।५< बट्टय—∠वर्तक, बेरि २५।४।१<बइरी<बयरिआ∠ बदरिका।

ए<अ+ए: मंत्रेला बारह० ७३<मंत्र+एला, तेरा ११।३।२∠ *तएरअ<*तअएरअ<तव—केरक।

ए<इ+अ: नेड़ा १२।५८।२<णिअड<निकट, नेम २५०।७∠ णिअम∠नियम, पांडे ३६।१∠पंडिअ<पंडित।

ऐ<अ+इ: उठै ५।४६।१ (वर्त०)<—अइ∠—अति, आदैं ४४।६ आद+हिं<—एभि:, इवैं १।२०।१∠एव्वहिं

∠एवम्, उदै १५७।५∠उदइ∠उदय, उपजैं १७६।४ (वर्त०बहु०)<—अइँ,—आइँ,—आवि∠—आमि, गै ३०।४।१∠गइ∠गय<गज, नटवै सत० १२<णटवइ ∠नटपति ।

ओ<अ+उ : ओछी १२।५६।२<*अउछ<अवच, ओट १२।५१।१ <*अउट्ट<आवट्ट<आ+√वृत्, ओस २।२१।२<अउस्साअ<अवश्याय, को १।१।१∠कउ∠को, यौं ६।१।१ <यउँ, यउ<यव<एव ।

ओ∠उ+अ : रोइ ३५।३।१∠√रुअ—<√रुद् ।

ओ<ओ+अ : तोर ६४।४<तोअर∠त्वत्+कर, थोड़ा १२।५।१ ∠थोअ—<स्तोक, घोऊँ ३८६।२<√घोअ< √धोव्,√धाव् ।

औ<अ+उ : इसौ २३३।२<अइसउ<ईदृशकः, उतरौ (आज्ञा०) १८।२∠—अउ,—अहु∠—अह<—अथ, औगुण २०।५।१ अउगुण<अवगुण, करौं (वर्त०उ०) ३।१२।१ ∠—अउँ<—अवुँ∠आवुँ∠—आमः, षेतौं (वि० बहु०) ४५।२१।१<—अउँ<—आउँ<—आवँ<—आणाम ∠—आनाम, गोबिंदौ, १३।१०।१∠गोविंदउ∠गोविंदो <गोपेन्द्रः, पांडौ २४७।२<पांडउ<पाण्डव ।

४. संयुक्त स्वर

क्रियापदों में वर्त० उ० के—अउँ, आज्ञा० के—अउ, वर्त० अन्य० एक० के—अइ, बहु०—अइँ जैसे रुप मिलते हैं किन्तु लिपि में इन्हें क्रमशः—औं,—औ,—ऐ,—ऐं रूपों में लिखा गया है ।

फुटकल प्रयोग ये हैं : करउँ १०७।१, करई २७१।५, परई दु० ४०, जरई दु० ४० । यहां दीर्घ 'ई' छंदोनुरोध जनित है । इसके अतिरिक्त ऊपर ऐ<अ+इ तथा औ<अ+उ में इनके उदाहरण देखे जा सकते हैं । विशेष विवरण १.३ पर ।

१.२० अनुनासिकता

(क) अकारणअनुनासिकता :

नभाभ्रा के अनेक ऐसे शब्दों में अनुनासिकता मिलती है जिनके मूल

प्राभाश्रा रूप निरनुनासिक थे। विद्वानों ने इसे मभाश्रा की विशिष्ट प्रवृत्ति माना है। अकारण या स्वतः ननुनासिकता (स्पानटेनियस नेज़लाईजेशन) के बारे में ब्लाख़ ए टर्नर का विचार है कि स्वर की मात्रा में परिवर्तन के परिणाम स्वरूप यह प्रवृत्ति बढ़ी है। सानुनासिक अक्षर का मात्राकाल द्वित्व व्यंजन वाले अक्षर के मात्राकाल के समान दीर्घ होता है। अतः जहाँ मभाश्रा में प्राभाश्रा के संयुक्त व्यंजन को द्वित्व में परिवर्तित न कर एक व्यंजन के रूप में ग्रहण किया गया है वहाँ शब्द के मात्राकाल को संतुलित करने के लिए पूर्वाक्षर को सानुनासिक कर दिया गया है।[1] ग्रियर्सन के अनुसार यह प्रवृत्ति मभाश्रा के विकास के बाद की की उस अवस्था में चल पड़ी जब स्वरों को दीर्घ कर दिया जाने लगा।[2] डॉ० चाटुर्ज्या ने इसे मभाश्रा की क्षेत्रीय प्रवृत्ति माना है। मभाश्रा के अनेक शब्दों के सानुनासिक और निरनुनासिक दोहरे रूप प्राप्त होते हैं तथा नभाश्रा में भी कुछ शब्द यदि एक भाषा में सानुनासिक प्रयुक्त हैं तो दूसरी भाषा में उनके निरनुनासिक प्रयोग भी हैं। वास्तव में मभाश्रा काल में कुछ प्रदेशों में उच्चारणगत सानुनासिकता चलती रही होगी और कुछ में इसका अभाव होगा। अतः नभाश्रा के जिन अनुनासिक शब्दों के पूर्व रूप सानुनासिक नहीं मिलते वहाँ इनकी कल्पना की जा सकती है।[3]

कग्रं० में स्वतः अनुनासिकता मिलती है। यहाँ वे ही उदाहरण दिए जा रहे हैं जिनके मभाश्रा रूप सानुनासिक नहीं हैं:

> इंछ्या १५२.५∠इच्छा<इच्छा, ईंट १२.१८.१ <इट्टा<इष्टका, ऊँच २५.७.१∠उच्च∠उच्च, कुवाँ ५.४५.१ ∠कूव—अ<कूप, षूँटा १० ५∠खोडअ∠क्षोड—क, चहुँदिसि १.३२.१∠चउ—∠चतुर्—, छींका १३.२४.२∠छिक्का∠शिक्या, झाँई ३.२२.१ ∠*छाई< छाया, दौं ४.३१.१∠दउ∠ दावा, महँगा ७१.८∠

१. तिवारी: हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, § ११७, पृ० ३५१ पर विवेचित

२. यही, पृ० ३५१

३. वही, पृ० ३५१

महग्ग<महार्घं ।

(ख) क्षति पूरक अनुस्वार :

खंडे १७०।६<खड्ड∠खड्ग, निंत ४६।६।२<गिात्ति ∠नित्य, बंका ३५६।१<वक्क-<वक्र, बंध १६।२६।२<बद्ध ∠बद्ध, बिनंठा १।२४।२∠विगाट्ठ∠विनष्ट, मंछ ६।१ <मच्छ ∠मत्स्य, मंझि १३।५६।१∠मज्झ∠मध्य, रंती ३५।८।२ <रत्तिआ ∠रक्तिका ।

(ग) अनुस्वार का अनुनासिक :

मभाआ में जहाँ नासिक्य+अल्पप्राण या महाप्राण व्यंजन का संयोग था वहाँ नभाआ में नासिक्य ध्वनि का लोप हुआ और पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ बनने के साथ सानुनासिक भी बन गया। यह प्रक्रिया प्रायः सभी नभाआ भाषाओं में मिलती है। परन्तु पंजाबी और उड़िया में और सम्भवतः पंजाबी के प्रभाव से खड़ीबोली में पूर्ववर्ती स्वर के सानुनासिक होने पर भी नासिक्य ध्वनि का कुछ अंश शेष बचा रहता है । इसे लघ्वीकृत नासिक्य ध्वनि कहा गया है । इस संबन्ध में चाटुर्ज्या का मत है कि मभाआ और नभाआ के बीच संक्रान्ति काल में क्षतिपूर्ति में पूर्वस्वर के दीर्घीकरण और नासिक्य ध्वनि के पूर्णतया लुप्त होकर पूर्वस्वर के सानुनासिक बनने से पूर्व नासिक्य ध्वनि के लघु रूप में उच्चारण की प्रवृत्ति रही होगी।[1] कग्रं में इस प्रवृत्ति के कतिपय उदाहरण ये हैं :

ईंधरा १३।३।१∠इंधरा∠इंधन, कांचली १२।६।२∠कंचुली <कंचुली, कांठे १७।४।१<कंठ∠कण्ठ, टांकि २६।५।१ <टंक ∠टंक, तूंड १८।५।१∠तुंड<तुण्ड, पाषां १५८।७ ∠पंख∠पक्ष, मांडै ४५।३।१<√मंड<√मण्ड् ।

छंद में मात्राभार संतुलित रखने के लिए अथवा प्रत्यय के संयोग होने पर बलाघात के स्थान परिवर्तन से भी कभी-कभी नासिक्य का लोप होकर भी पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ नहीं बनता :

---

१. तिवारी : हि० भा० उ० वि०, §११४ पृ०३४६ पर उद्धृत ।

षँपुरिया १०४।५ <पंख∠पक्ष, पँगुड़ा १०२।३∠पंगु-∠पंगु, बँसरिया १७७।२<वंस-∠वंश-, भँगारि २४।७।२∠भंग-∠भंग- ।

(घ) अनुनासिक का निरनुनासिक :

कवल ४।३ <कवँल∠कमल, षोड़ि १२।३१।१∠√खुंड् , गरथ बारह० ४७∠ग्रंथ, चवर २९९।५ <चवँर∠चमर, डसै २३६।३ ∠√ डंस<√दंश् , ढहै १२।१८।२∠√ढस<√ध्वंस् , नणद २३०।४ ∠णणंदा<ननान्दा, पचास १७।४।२∠पंचासय <पंचाशत, महावत ३६५।४∠महावँत्त, महामत्त∠महामात्र, मास २९।४।२ <मंस<मांस ।

(च) वर्गीय अनुनासिकों का अनुस्वार :

संस्कृत ध्वनि संघटना के अनुसार स्पर्श व्यंजन ध्वनियों से पूर्व आने पर अनुस्वार का उच्चारण पंचम वर्ण के रूप में पाया जाता है । संस्कृत वैयाकरण उच्चारण तथा वर्तनी में पंचमाक्षरों का नियत प्रयोग मानते हैं । मभाआ में, यद्यपि संस्कृत प्रभावित वैयाकरण वर्गीय पंचमाक्षरों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं किन्तु विकल्प के लिए अवकाश छोड़ दिया गया है । अधिकांश भाषावैज्ञानिक प्राकृत के संदर्भ में नियत रूप से केवल अनुस्वार की स्थिति मानते हैं । प्राकृत के हस्तलेखों से भी इसकी पुष्टि होती है । मध्ययुगीन हिन्दी के हस्तलेखों में अनुस्वार प्रायः सार्वत्रिक रूप से प्रयुक्त है । पंचमाक्षर का प्रयोग वहीं मिलता है जहाँ लिपिकार संस्कृत वर्तनी से प्रभावित है। उच्चारण में भी चवर्ग और टवर्ग ध्वनियों से पूर्व अनुस्वार का उच्चारण 'न्' ही सुनाई देता है। 'चञ्चल' और 'दण्ड' के उच्चारण में 'ञ्' और 'ण्' सुनाई नहीं देते । कवर्ग में 'ङ्' का अस्तित्व अवश्य बना है। दन्त्य और ओष्ठ्य स्पर्श ध्वनियों से पूर्व अनुस्वार क्रमशः 'न्' और 'म्' उच्चारित होता है ।

ङ्—उतंग दु० २६, कलंक १६।३०।१, गंग १०।३।१ ;

ञ्—कंचन ४।२८।२, कुंज ३।१।१, चंच १६।३०।२ ;

ण्—कमंडल ७।१।१, कुंड २०।५।१, गंडक २४९।२ ;

न्—इंद ३३६।३, कंद्रप ३४०।६, विंद ३३०।५ ;

म्—कुंभ ४४।४, षंभा १८।३, चंपक अष्ट० ५२ ।

(छ) समीपवर्ती स्वर का अनुनासिकीकरण

अनुनासिक ध्वनि के उच्चारण में समीपवर्ती स्वर उससे प्रभावित हो जाते हैं। कभी-कभी अनुनासिकत्व का स्थान परिवर्तन भी देखा जाता है जहाँ वास्तव में अनुनासिकत्व समीपवर्ती दो स्वरों में बँट जाता है। यह नभाआ काल की निजी विशेषता है : अनुनासिकत्व बँटने पर किस स्वर पर अधिक अंश रहता है, यह यांत्रिक प्रयोग का विषय है। उदा०:

ऊंणी १२।४७।२<ऊन—, कांम ७०।४<कम्म कर्म, कांमणि २०।१।१∠कामिनी। डांइणि १८२।५∠डाकिनी, दांम ३६०।३ ∠दम्म∠द्रम्म, दांमिनि ब०अ० २२∠दामिनी, दांहिणै १३३।३ ∠दक्षिण, धांम बारह० ४।

स्थान परिवर्तन या बँटना

कंवारी २४।२४।२<कुवाँरी, गंवार २५२।१∠गावँ∠गाम∠ग्राम, घूंवरि ३१३।४∠घूमिल।

१.२१. व्यंजन पविर्तन

कग्रं की भाषा में पाई जाने वाली सभी व्यंजन ध्वनियाँ (दे० १.२.) 'ण्' 'ण्ह्' 'म्ह्' 'ड़्' 'ढ़्' को छोड़कर पदादि में पाई जाती हैं। यहाँ पदान्त व्यंजनों का अस्तित्व नहीं स्वीकार किया जा सकता क्योंकि काव्य भाषा में छंद का आग्रह सभी शब्दों को स्वरान्त ही घोषित करता है। चाटुर्ज्या के अनुसार प्राभाआ के व्यंजनान्त शब्द जो मभाआ में स्वरान्त हो गए थे, १७वीं शताब्दी तक स्वरान्त बने रहे हैं।[1]

१.२२. असंयुक्त व्यंजन ध्वनियाँ

संस्कृत की स्पर्श अल्पप्राण व्यंजन ध्वनियां पदादि स्थिति में मभाआ और नभाआ में सुरक्षित रही हैं किन्तु स्वरमध्यग स्थिति में ये तथा 'य्', 'व्' मभाआ काल में ही लुप्त हो गईं।[2] चाटुर्ज्या ने बताया है कि मभाआ की प्रथम स्थिति में इन स्पर्श ध्वनियों तथा 'य्' 'व्' का विकास सोष्म व्यंजनों के रूप में हो गया था। अगली स्थिति में आकर ये सोष्म व्यंजन लुप्त हुए और इनकी जगह उद्वृत्त स्वर मिलने लगे[3]. जिनका आगे तीन दिशाओं में विकास पाया जाता है—१. उद्वृत्त स्वरों

१. चाटुर्ज्या : ODBL, § 148. vol. I
२. 'कगचजतदपयवां प्रायो लोप :'—प्राकृत प्रकाश, २।२
३. चाटुर्ज्या : ODBL, § 135, vol. I

की विवृति के बीच 'य' तथा 'व' श्रुति का आना, २. उद्वृत्त स्वरों में संधि हो जाना, ३ इनके द्वयक्षरात्मक उच्चारण का एकाक्षर हो जाना। इसी प्रकार संस्कृत की स्पर्श महाप्राण ध्वनियाँ पदादि में तो सुरक्षित रहीं किन्तु स्वरमध्यग स्थिति में मभाआ काल में 'ह्' में परिवर्तित हो गईं।[१] ये भी सोष्म स्थिति से गुज़र कर 'ह्' रूप में मिलती हैं। कग्रं की भाषा ने तद्भव शब्दों में इसी विकास प्रक्रिया को अपनाया है किन्तु यहाँ अनेक शब्दों में स्वरमध्यग स्पर्श अल्पप्राण और महाप्राण व्यंजनों का अस्तित्व पाया जाता है। इसका कारण, जैसा कि चाटुर्ज्या ने संकेत किया है, नभाआ में संस्कृत शब्दों का ग्रहण और नए अ० तत्० शब्दों का विकास है जिसके कारण इस ध्वन्यात्मक प्रक्रिया (स्पर्श अल्पप्राण का लोप और महाप्राण का 'ह्') का विशेष महत्त्व नहीं रह गया है।[२] कग्रं के शब्दसमूह में ऐसे शब्द पर्याप्त संख्या में हैं जो नभाआ काल के प्रारम्भ से ही सीधे संस्कृत से तत्सम या अर्धतत्सम रूप में लिए जाते रहे हैं। पुरानी हिन्दी की रचनाओं—उक्तिव्यक्ति प्रकरण[३], प्राकृत पैंगलम्[४] आदि से ऐसे शब्दों के आगमन की शुरुआत का साक्ष्य मिलता है। अतएव, कग्रं में स्वरमध्यग स्थिति में जहाँ स्पर्श अल्पप्राण या महाप्राण व्यंजन ध्वनियाँ पाई जाती हैं, वे या तो तत्सम शब्दों में हैं या अर्धतत्सम में। उपर्युक्त स्थितियों के उदाहरण निम्नलिखित हैं।

अ. स्वरमध्यग स्पर्श अल्पप्राण व्यंजनों का लोप : इनके उदाहरण उद्वृत्त स्वरों के प्रसग (१ १९) में दिये जा चुके हैं।

---

१. 'खघथधभां ह:' प्राकृत प्रकाश, २।२७

२. ' But owing to the NIA languages havin g largly replenished themselves by bor owing from Sanskrit (or Perso-Arabic as in case of Urdu) and by new formations, the full significance and importance of this change in history of IA is not fully recognised.'

ODBL §135, vol. I

३. चाटुर्ज्या : उक्ति व्यक्ति प्रकरण. स्टडी, § ४५ पृ० २१

४. व्यास : प्र कृतपैगलम् (भाग २), § ६६, पृ० १५९.

श्रा. स्वरमध्यग स्पर्श अल्पप्राण का संरक्षण :

क्—अंकुस १४६।२, अकास ४८।२, अनेक २४।१६।२, आकार १।२६।१, एकादसी १८३।५, कनक २०।११।१, कोकिल ६८।५, गोकल ५।१, नाइक ५।१ ।

ग्—औगुन दुप० १०, जुग २४।३।२ जोग ५।१३।१ ।

च्—अचलि ३७०।६, जाचिग २८२।२, तुचा चौ० १७ ।

ज्—अजरावर ४१।८।२, जरजर ३।१४।१, जोजन २४।२ ।

त्—अतीत २७।१।१, औधूत ३६१।६, केतकी ३०।११।१, कौतिग ५।१।२, चातिग २२५।३, तात ३६६।५ ।

द्—आदर १७।८।२, आदित ३६२।२, आदेस १६०।७, कदली ५।४०।१, केदारौं ३१७।४, दमोदर १६१।८ ।

प्—आपदा २१६।७, उपगार २८।६ कपट १६।६, जप २३।८।१, थापणि १।२६।१, ताप १५।६ ।

य्—छाया ४७।६।२, तोया ५।२७।१ ।

व्—अवधि १७२।७, अवनि १७२।७, केवल १।२३।२ ।

इ. स्वरमध्यग स्पर्श महाप्राण व्यंजनों का 'ह्' में परिवर्तन

ख्—अहेड़ी ४।८।१∠आखेटिक, दाहिणैं १३३।६,∠दक्खिण∠दक्षिण, मुह ३६।४।१∠मुह∠मुख ।

घ्—अथाह ३४१।२∠अस्ताघ, अबिहड़ ५६।३।१∠अ—वि+√घट्, अरहट २४।६।२∠अरघट्ट, छिनहर २७३।६∠छिन्न+गृह ।

ठ्—कुहाड़ा १२।४३।२<कुठार ।

ढ्—पहली २२६।५∠पढिल्ल—∠*प्रथिल्ल—।

थ्—गुहयौ ३७८।२∠√ग्रथ्, नाहा दुप० १०∠नाथ, पहा ३५१।१ ∠पथ—, पुहमि १६४।२∠पृथिवी ।

ध्—अगह सूहौ० २४∠अगाध, षरिहानां १४।३∠खलाधान, बहरा १।१०।१∠बधिर, बिसहर २२१।३∠विषधर ।

भ्—अहीरा ७६।१०∠आभीरक, करहा ७६।४∠करभ-, निहारूँ २२४।३∠नि+√भालय्, बालहो ३६८।∠२ वल्लभ, सुरही १६१।७∠सुरभि ।

ई. स्वरमध्यग स्पर्श महाप्राण व्यंजनों का संरक्षण :

घ्—अघट्ट १।१२।१∠अ—√घट्, अघरनी दु० ६७∠आ+√घ्रा अघौरी ३८६।३ अघोर।

थ्—असथिर १७५।५ ∠ अस्थिर, अस्थूल २२०।४ ∠ स्थूल।

ध्—अगाध ६।१।२, अधार ४१।६।२∠अधाार, असाध २७।१।२<असाधु।

भ्—अनभै २११।१, अभैपद १३४।८, उभै १५७।११, दुरलभ ३६।२।

१.२३. **अनुनासिक व्यंजन ध्वनियाँ**

संस्कृत की पाँच अनुनासिक व्यंजन ध्वनियों—'ङ्', 'ञ्', 'ण्', न्', 'म्' में से मभाआ काल में केवल तीन—'ण्' न्' 'म्' का अस्तित्व मिलता है। 'ङ्' और 'ञ्' जो संस्कृत में केवल संयुक्त व्यंजनों के साथ मिलती हैं, मभाआ काल में अनुस्वार से संकेतित की जाती रही हैं। नभाआ में भी 'ण्' 'न्' 'म्' ध्वनियाँ ही पाई जाती हैं। शब्दों में इनकी स्थिति के अनुसार परिवर्तन होता रहा है।

संस्कृत में पदादि 'ण्' नहीं था। प्राकृत वैयाकरणों ने पदादि 'न्' का णत्व विधान माना है। सम्भवतः मभाआ के कथ्य रूपों में पदादि 'न्' सुरक्षित था। स्वरमध्यग स्थिति में संस्कृत 'न्' का नियत रूप से मभाआ में 'ण्' हो गया है। नभाआ में मध्यदेशीय भाषा हिन्दी की बोलियों में 'ण्' का पुनः 'न्' होता देखा जाता है। किन्तु राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी में यह स्वरमध्यग स्थिति में सुरक्षित रहा। कग्रं में मभाआ स्वरमध्यग 'ण्' के ये दोनों विकास—'न्' और 'ण्' मिलते हैं। जहाँ उसका 'न्' विकास मिलता है, यह व्रज, अवधी आदि में पाई जाने वाली मध्यदेशीय प्रवृत्ति है जो बारहवीं शती के आस-पास ही विकसित हो चुकी थी।[1] जहाँ स्वरमध्यग 'ण्' सुरक्षित है, वह पंजाबी, राज०, गुज० का प्रभाव है। संस्कृत 'म्' पदादि और स्वरमध्यग दोनों स्थितियों में मभाआ में सुरक्षित रहा। मभाआ की दूसरी स्थिति में 'म्' का 'वँ्' परिवर्तन हो गया। नभाआ में अप० 'वँ्' समीपवर्ती स्वर को अनुनासिक बनाते हुए सुरक्षित रहा तथा कहीं-कहीं इसका अनुनासिकत्व लुप्त भी हो गया। नभाआ 'म्' का एक विकास मभाआ वँ्<व् से भी पाया जाता है।

---

१. चाटुर्ज्याः उक्तिव्यक्ति०, स्टडी, § २७ पृ. १४.

अनुनासिक 'ण्' 'न्' 'म्' के महाप्राण रूप 'ण्ह्' 'न्ह्' 'म्ह्' मभाआ काल से मिलने लगते है जो नभाआ काल में सुरक्षित रहने के साथ पुनः 'ण्' 'न्' 'म्' में बदल गए हैं। आधुनिक भाषाशास्त्री इन्हें संयुक्त ध्वनियाँ न मान कर शुद्ध ध्वनियाँ मानने के पक्ष में हैं। ब्रजभाषा में 'न्ह्' 'म्ह्' 'ल्ह्' ध्वनियाँ पाई जाती हैं। मिर्ज़ाख़ाँ भी इन्हें शुद्ध ध्वनि मानते हैं और 'न्' 'म्' 'ल्' से इनका भेद बताने के लिए 'ण्ह्', 'म्ह्', 'ल्ह्', को कठोर (नून-ए शक़ीलह्)तथा 'न्', 'म्', 'ल्', को कोमल (लाम-ए-शक़ीलह्) बताया है।[1]

१. **पदादि न्<ण्<न् :**

नाम २।२६।१<णाम<नाम, नित्त ३।२०।१<णित्ति<नित्य, नेम २५०।७<णिअम<नियम, नौमी २५०।७<णवमी<नवमी।

२. **स्वरमध्यग ण्<ण्<ण् :**

अणी ३६।१।१<अणि<अणि, अहरणि ४६।२१।२<आहरणी<अ—धरणी, औगुण २०।५।१ अवगुण<अवगुण, गणि १३०।५<√गण<√गण्।

३. **ण्<ण्<न् :**

अणआया २।२६।१<अण –<अन—, अणरागी २२६।१० <अणुरागी<अनुरागिन्, आसण २।१५।२<आसण<आसन, जीवण अष्ट० ४७<जीवण<जीवन, हाणि१।१६।१< हाणि <हानि।

४. **न्<ण्<ण्:**

आंगनि १७७।८<अंगण<आंगण, औगुन दु० ८<अवगुण<अवगुण, कान १।१०।१<कण्ण<कर्ण, तरपन अष्ट० ३४<तर्पण, हरनि १६०।४<हरिण<हरिण।

५. **न्<ण्<न्**

अंन ३५।१।४<अण्ण<अन्न, अपना ६।१६<अप्पणअ<आत्मन्-क, जमुनां ३२६।४<जमुणा<यमुना, जोनि ५६।३<जोणि< योनि, डांइनि १८२।५<डाइणि<डाकिनी।

---

१. M Ziauddin : A Grammar of the Braj Bhakha by Mirza khan, P II, तथा चाटुर्ज्याः प्रस्तावना, P.X.

६. म्∠म्<म्:

पदादि—माय बारह०१७<माइ∠ मातृ,मह ३२।३।२<महु<मधु।
स्वर मध्यग—काम ७०।४<कम्म∠कर्म, चाम ५७।३<चम्म ∠चर्म।

७. म्<वँ<व् :

इम ३५।१।३<एविँ, एवें<एवम्, जीमण १२।२७।१<*जीवँण, जीवण<जीवन, जेम २६६।१७<जेवँ<एवम् निमसि १५४।५ <√णिवाँस, √णिवास∠निः+√वासय्, बमेक १५१।६ <विवेक, बिलम ३०२।६∠*विलवँ <विलम्ब।

प्राभाआ 'म्' का निरनुनासिक रूप 'व्' और उसका महाप्राण 'भ्' में भी परिवर्तन पाया जाता है—

झीबर ३३१।५<झीवँर ∠धीमर, बंबई १६२।६<बम्मिअ <वल्मीकि (तुल०बाँबी), बौरे १७७।७<*वउर∠मउर∠मुकुल, सैंवल १६०।१० <सेम्मल<शालमली, भेड़ १३२।३∠*वेढ∠मेढ ∠मेष।

८. न्ह्<ण्ह्<प्राभाआ ष्ण्, स्न्, ह्न :

कान्ह ७६।६ ∠ कण्ह<कृष्ण, न्हाइ ६।७।१∠√ण्हा∠√स्ना, चीन्हैं १७।५।२<चिण्ह<चिह्न।

९. म्ह्<म्ह्<प्राभाआ ह्म्, ष्म् :

बाम्हन २५०।५∠बाम्हण∠ब्राह्मण, तुम्हारा २९२।२<तुम्ह— <*तुष्म—कारक।

१.२४ अन्तस्थ ध्वनियाँ 'य्' 'व्'

(१) प्राभाआ 'य्' मभाआ में आकर पदादि में नियत रूप से 'ज्' हो गया और स्वरमध्य में लुप्त हो गया। नभाआ के तद्भव शब्दों में यही प्रक्रिया मिलती है। अर्धतत्सम शब्दों में स्वरमध्य में भी यह 'ज्' हो गया है—मरजादा, अंतरजामी आदि। किन्तु यह प्रवृत्ति उन्हीं स्थानों पर मिलती है जहाँ 'य्' से पूर्व रेफ (र्) ध्वनि थी। रेफ के साथ संयुक्त 'य्' के 'ज्' उच्चारण की प्रवृत्ति बड़ी पुरानी है। यजुर्वेद के शिक्षा तथा प्रातिशाख्य ग्रंथों में 'सूर्य' को 'सूर्ज' उच्चरित करने का विधान

मिलता है ।[1] चाटुर्ज्या के अनुसार प्राभाआ 'य्' मभाआ में आकर सोष्म 'ज्' हो गया था जो शहबाजगढ़ी के अशोक शिलालेख (ई०पू० तीसरी शती) से स्पष्ट है ।[2] कग्रं के तद्भव तथा अर्धतत्सम शब्दों में पदादि 'य्' सर्वत्र 'ज्' रूप में मिलता है । कुछ सार्वनामिक रूपों तथा तत्सम शब्दों में ही पदादि में इसका अस्तित्व है । अर्धतत्सम शब्दों में स्वर-मध्यग स्थिति में यह पूर्ववर्ती रेफ के होने पर 'ज्' हो गया है ।

१. पदादि ज्<ज्∠य्

जुग २४।३।२<जुग<युग, जुगति २६।२<युक्ति, जुगिया २२।१∠योगी—, जदि २६।१३।१∠जदि<यदि, जाचिग २८२।२ <याचक ।

२. स्वरमध्यग ज्∠य्

अंतरजांमी १३८।२∠अन्तर्यामिन्, अचिरज ६।१।२∠आश्चर्य, कारिज २०।८।२∠कार्य, जरजोधन ३४०।१२∠दुर्योधन, मरजादा १२६।५∠मर्यादा, बिजोग १६।३।२<वियोग ।

अन्तिम उदाहरण—बिजोग<वियोग में पूर्ववर्ती रेफ न होने पर भी 'य्' का 'ज्' हुआ है । वास्तव में यह सोपसर्ग पद है, परिवर्तन—योग>—जोग का ही होगा ।

३. पदादि य्

तत्सम शब्दों का केवल एक उदाहरण हैं—योगी ३१७।३ । सार्व-नामिक रूपों के उदाहरणों के लिए दे० २.२३. ।

'य्' श्रुति की चर्चा पीछे की जा चुकी है—१.१६(२) ।

(२) प्राभाआ 'व्' ध्वनि पदादि में मभाआ में सुरक्षित रही किन्तु नभाआ में आकर मध्यदेशीय (हिन्दी) तथा पूर्वी मागधी वर्ग की भाषाओं में 'ब्' में परिवर्तित हो गई जबकि कश्मीरी, कोंकणी, गुजराती, पश्चिमी राजस्थानी, पंजाबी, सिंधी तथा सिंहली में इसका पदादि में संरक्षण पाया जाता है ।[3] हिन्दी में भी 'वारना' जैसे क्रिया पदों में

---

१. 'आदेशो हि जकार : स्यात् युक्त : सन् हरणेन तु ।'

२. ODBL, vol I, § १३३, P. २४६.

३. ब्लाख : § १२६,३०, पाँसे : ज्ञानेश्वरी, § २.६४, पृ० ५० पर उद्धृत ।

यह पदादि में सुरक्षित है। स्वरमध्यग स्थिति में इसका मभाआ में लोप हो गया। केवल कुछ शब्दों में बची रही। नभाआ स्वरमध्यग 'व्' का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत प्राभाआ म्>प्राकृत म्>अप० वँ>व् मिलता है।

पदादि 'व्' कुछ सार्वनामिक रूपों में प्राप्त होता है जहाँ इसे 'उ' के स्थान पर परश्रुति मानना होगा। स्वरमध्य में श्रुतिगत प्रयोग बराबर मिलते हैं। प्राभाआ 'प्' के सघोषी भाव के रूप में भी 'व्' पाया जाता है।

१. पदादि ब्<व्∠व्

बंस ५५।११।१<वंस<वंश, बछल १६१।८<वच्छल<वत्सल, बरिसै ५।४४।१∠√वरिस<√वर्ष्, बाग २०।१५।१ वग्गा<वल्गा।

२. पदादि व् संरक्षित

वार्या ३८।६।१<√वार<√वारय् वारपार २०।२५।२ <अवार+पार।

३. स्वरमध्यग व् संरक्षित

जीवन अष्ट० ४७<जीवण<जीवन, निरवाना ब०अ० ६६< निर्वाण, निवरति १६।२७।२<निवृत्ति, निवासिया ४।३ <√णिवास <निः+√वासय्।

४. स्वरमध्यग व्<वँ<म्<म्

अजरावर ४१।८।२∠—अवँर<—अमर, आवागवन ३३२।२<—गवँण<—गमन, कंवारी २४।२४।२< कुवाँरी<कुमारी, धवणि ४६।२१।१<धवँणि<धमणि, नांव २।४।१< णावँ<णाम<नाम, नींव ५।४।१<णेविं∠णेमि<नेमि।

५. व्<व्<प्: उदाहरण के लिए दे० सघोषीकरण—१.४६.।

६. ब्<व्

अथरबन २१६ ६<अथर्वन्, गोबर २५१।६<देशी० गोवर, चारबाक अष्ट० ५०<चार्वाक।

यह प्रवत्ति प्रायः अर्धतत्सम शब्दों में अधिक मिलती है।

१२५. पार्श्विक 'र्' तथा 'ल्'

वैदिक काल में ही तीन विभाषाएँ ऐसी प्रचलित थीं जिनमें एक स्पष्ट रूप से 'र्' तथा 'ल् के बीच भेद करके चलती थी, दूसरी में 'र्' >ल् में तथा तीसरी में ल्>र् में परिवर्तित हो जाता था। देश भेद से उदीच्य प्रदेश में 'र्' तथा प्राच्य देश में 'ल्' के प्रयोगों की वहुलता थी। मध्यदेश में 'र्', 'ल्' समान रूप से व्यवहृत थीं। इसी कारण मागधी तथा मागधी प्रसूत भाषाओं में र्>ल् की प्रवृत्ति अधिक मिलती है जबकि मध्यदेशीय—शौरसेनी में दोनों की स्थिति प्राय: समान है।[1] नभाआ काल तक मागधी और शौरसेनी प्रसूत भाषाओं में ये प्रवृत्तियाँ घुल-मिल गईं। इसका प्रमाण 'र्' तथा 'ल्' का भोजपुरी-मैथिली और खड़ी०—व्रज सभी स्थानों पर एक दूसरे में परिवर्तन है। 'ल्' का 'न्' परिवर्तन भी इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण है। 'र्', 'ल्' का परस्पर परिवर्तन पदादि तथा आभ्यंतर दोनों स्थितियों में पाया जाता है। कग्र की भाषा में 'ल्' तथा 'र्' की ये सभी स्थितियाँ पाई जाती हैं। इनके साथ ही प्राभाआ 'त्' द्>मभाआ र् से र्, प्राभाआ ट्, ड्>मभाआ ड् से र्, प्राभाआ ट्, ड्>माभाआ र् से ल् तथा प्राभाआ द्>मभाआ ड्, र् से ल् के भी विकास मिलते हैं। 'ल्' का महाप्राण रूप 'ल्ह्' भी पाया जाता है जो कहीं तो मभाआ देशी 'ल्ह्' से और कहीं मभाआ ल्, ल्ल् <प्राभाआ ल्, ल्य् से आया है।

१. र्<र् तथा ल्<ल्: अंगुरी २४।२।१<अंगुरि अंगुलि, <अंगुलि, अंजुरी २९६।२१<अंजलि<अंजलि, कोरी ३४६।७ <कोलिअ<कौलिक, धूरि ५।४६।१<धूलि<धूलि, पयार १०५।५ <पलाल।

२. र्<र् <द्, त्: अठारह ३४०।११<अट्ठारह < अष्टादश, बारह ४७.६।१<बारस<द्वादश, सतरि २५५।६<सत्तरि <सप्तति।

३. र्<ड्<ट्, ड्: उपारै अष्ट० ५३ <√उप्पाड<उत्—√पाटय्, करू बड़ी० ८९<कडुअ< कटुक, किवारा १७१.५<कवाड<कपाट, कोरा ३७६।१<कोड<क्रोड, क्रीरा बाहर० ३९<क्रीडा।

४. ल्<ल्, र्<र्: अन्याले ११८।१ <—यार <—कार,

---

१. तिवारी: हिं० भा० उ० वि०, § १८०, पृ० ३९२

अलूझिया ३३।५।१ <अ—√रुज्झ <अ—√रुद्धय्; लेज १०।२।१लज्जु <रज्जु, सलिता ४।६।२ <सरिता ।

५. ल् <र्, ल् <ट्, ड् : इला ३२।४ <*इरा <इडा <, क्रीला ४।८।२ <क्रीडा, चेला १।१५।१ <चेरअ <चेडअ < चेटक, सोलह ३६।६ <सोलस∠षोडश, बिलाई ११।४ <बिलाली <बिडाली ।

६. ल् <र्, ड् <द् : पलीता ८।८ <*पलित्तअ <*परित्तअ < प्रदीप्त—क ।

७. न् <ल् : नालि ३।३६।१ < लग्न (?)

८. ल् <न् : लेर २००।५ <नेर <णिअड <निकट ।

९. ल्हँ् <ल्हँ्, ल्, ल्ल् <ल्, ल्य् : कोल्हू ३६८।४ <देशी० कोल्हुअ, मेल्ह्या १।६।१ < √ मेल्ल < √मेलय्, ल्हसण २०।६।१ < लसुण < लशुन, काल्हि ३।१७।१ ∠कल्ल < कल्य ।

१२६. **शिन् ध्वनियाँ —'श्' 'ष्', 'स्'**

प्राभाआ की तीन शिन् ध्वनियाँ — 'श्', 'ष्', 'स्' मभाआ की मध्यदेशीय भाषा में 'स्, तथा मागधी में 'श' रूप में मिलती हैं। नभाआ काल में इनके यही रूप सुरक्षित रहे। कग्रं के तद्भव और अर्धतत्सम शब्दों में केवल 'स्' ध्वनि मिलती है 'श्' चिह्न लिपि में संयुक्त व्यंजनों के साथ मिलता है किन्तु इसका उच्चारण 'स्' ही है।

प्राभाआ 'ष्' ध्वनि नभाआ के अर्धतत्सम शब्दों में पुनः 'ख्' के रूप में मिलती है। कग्रं में इसे 'ष' से लिखा गया है। यह चिह्न कवर्गीय व्यंजन 'ख्' और दन्तय 'स्' दोनों का संकेत है।

१. स् <स् <श् : असी ३=६।२ <असीइ <असीति, असोस ५७।३।१ <अ—√सोस >अ—√शोषय् केस १२।१६।१ <केस <केश ।

२. स् <स् < ष्: असाढ़ दुप० ३ <आसाढ <अषाढ, ऊसर ४०२।८ <ऊसर <ऊषर. किसांनां २२२।२ <किसाण <कृषाण ।

३. ष् (ख्) <ष् : उदाहरण देखिए पीछे—१.६.

१.२७. **प्राणध्वनि—'ह्'**

प्राभाआ 'ह्' ध्वनि मभाआ की स्थिति से होकर नभाआ में पदादि और स्वरमध्य में सुरक्षित चली आई है। स्वरमध्य में यह दो अन्य स्रोतों से भी आई है—प्राभाआ महाप्राण व्यंजनों से (दे० १ २२.) तथा प्राभाआ 'श्' 'ष्' 'स्' के 'ह्' परिवर्तन से। शिन् ध्वनियों का 'ह्' में परिवर्तन मभाआ की विशिष्ट ध्वन्यात्मक प्रक्रिया है जो नभाआ में भी मिलती है। कग्रं में इसके उदाहरण ये हैं—

१. ह् **सुरक्षित—पदादि :** हंसै १।६।१ < √ हस < √हस्, हतै २२।६।२ < हत—√ हन्, हथियार १।६।२ < हत्थआर < हस्त—कार।

स्वरमध्यग : कहार ६०।५ < काहार < कहार, सहंस १।६ < सहस्स < सहस्र।

२ ह्<ह्, स्<स् : इहि १०।२ < एह < एअस्स < एतस्य, काहि २।८।१ < कस्स < कस्य, ढहै १२।१८।२ < √ढंस < √ध्वंस्।

३. ह्<ह्, स् <श् : केहरि १४५।६ केहरी ∠ केशरी, सोलह ३६।६ < सोलस < षोडश।

४. ह्,< ह्, स् < ष् : चूहा १६।१० < चूहअ, चूसअ < चूषक, छहूँ ४०१ ।३ < छह < षष्, घुनही २१२।५ < घणुह < घनुष।

१.२८. **असंयुक्त व्यंजनों में स्फुट परिवर्तन**

क्<च् : बकहिं २५७।७ < √वच्—।

ख्<श् :षोषरी १२७। ३< खुक्ख < शुष्क।

ग्<ज् : षांगौ २१३।३ < खंजओ < खंजः, बागे ५।४३।२ < √ बज्ज < √ वद्।

च्<क् : चींटी १४।८।१ <चीटिआ<कीटिका, टांचिया १६८।५ √टंच< √टंक्।

छ<त् : छोछी १६३।८<छुच्छ<तुच्छ।

छ्<श् : छाला ३।२२।२<छल्लअ<शल्क—क, छींकै १३।२४।२ <छिक्का>शिक्या।

छ्<ष् : छ २८९।५<छ<षष्, छपन ३३९।३<षट्पंचाशत् ।
छ्<स् : छुछंद १७४।९<स्वच्छंद ।
ज्<द् : जरजोधन ३४०।१३<दुर्योधन ।
झ्<ध् : झीवर ३३१।५<झीमर<धीमर ।
घ्<ह् : नरस्यंघ ३७९।१०<नरसिंह, स्यंघासण २४८।४< सिहांसन, संघारै अष्ट० ५३<√संहार<सं+√हृ ।
थ्<ह् : चींथड़ा १०५।९<चिंथ, चिंध<चिह्न(तुल०चिंधी)
फ्<ह् : गुफा ४।१०<गुहा<गुहा ।
भ्<ह् : जिभ्या ३७४।५<जिब्भा<जिह्वा ।

१.२९: संयुक्त व्यंजन ध्वनियाँ

भारतीय आर्य भाषाओं के विकास में प्राभाआ के संयुक्त व्यंजनों का विशेष महत्त्व रहा है। संस्कृत में जहाँ ढाई सौ से अधिक संयुक्त व्यंजन ध्वनियाँ पाई जाती थीं [1] वहां मभाआ में इनकी संख्या नगण्य रह गई। मभाआ में इनके विकास की दो दिशाएँ मिलती हैं—या तो संयुक्त व्यंजन एक दूसरे में समीकृत होकर द्वित्व बन गए जो नभाआ में सरलीकृत होकर आए या फिर इनके बीच स्वर का आगम हो गया जिसे स्वरभक्ति कहा गया है। इन दोनों विकल्पों में से मभाआ का झुकाव समीकरण की ओर अधिक है जबकि स्वरभक्ति नभाआ के अर्धतत्सम शब्दों की प्रमुख ध्वन्यात्मक विशेषता है।[2] कग्रं के तत्सम और अर्धतत्सम शब्दों में संस्कृत के संयुक्त व्यंजन सुरक्षित हैं तथा तद्भव शब्दों में भी मभाआ काल के बचे-खुचे संयुक्त व्यंजन प्राप्त हो जाते हैं। मभाआ के द्वित्व व्यंजन भी पर्याप्त संख्या में मिलते हैं जो निश्चय ही छंदोनुरोध के कारण द्वित्व बनाए गए नहीं लगते। द्वित्व व्यंजनों के एक व्यंजन में सरलीकृत हो गए रूप सर्वाधिक हैं। स्वरभक्ति के उदाहरण भी पर्याप्त हैं।

१.३० संयुक्त व्यंजन

संस्कृत में अनेक संयुक्त व्यंजन ध्वनियाँ पदादि में पाई जाती थीं

---

१. Kale: The Higher Sanskrit Grammar, § 12 (e). P. P. 9—11.

2. चाटुर्ज्या : उक्ति०, स्टडी, § ४५, पृ० २१.

किन्तु मभाश्रा में 'ण्ह्' 'म्ह्' 'ल्ह्' तथा विभाषाओं की दृष्टि से व्यंजन + रेफके अतिरिक्त कोई भी संयुक्त व्यंजन पदादि में नहीं मिलता।[१] संस्कृत के पदादि स्पर्श + अन्तस्थ तथा सोष्म + स्पर्श वाले व्यंजन संयोगों में मभाश्रा काल में अन्तस्थ और सोष्म ध्वनि का तथा कभी-कभी स्पर्श ध्वनि का लोप कर दिया जाता है। कग्र ने भी तद्भव शब्दों में इसी प्रक्रिया का निर्वाह किया है। साथ ही यहाँ कहीं-कहीं आद्य अक्षर के स्वर का लोप करके नए सिरे से भी सयुक्त व्यंजनों का निर्माण किया गया है। नभाश्रा के अर्धतत्सम शब्दों में नवीन व्यंजन संयोग भी मिलते हैं। कग्र में इस कोटि के सयोग प्रायः स्पर्श + अन्तस्थ वाले ही हैं।

पदादि व्यंजन संयोगों से पदमध्यग स्थिति नितान्त भिन्न है। मभाश्रा में चार प्रकार के व्यंजन संयोग पदमध्य में पाए जाते हैं[२] — व्यंजन द्वित्व वाले रूप तथा सवर्गीय महाप्राण से युक्त अल्पप्राण संयुक्त व्यंजन; ण्ह्' 'म्ह्' 'ल्ह्' ध्वनियाँ; विभाषाओं में व्यंजन + रेफ और सवर्गीय अनुनासिक + स्पर्श जो अनुस्वार + स्पर्श के रूप में हैं। नभाश्रा के तद्भव शब्दों में ये चारों स्थितियाँ विकसित रूप में मिलती हैं। व्यंजन द्वित्व तथा महा० + अल्प० का सरलीकरण हो गया, 'ण्ह्' 'म्ह्' 'ल्ह्' ध्वनियाँ संयुक्त न रहकर 'ण्' 'न्' म्' 'ल्' के महाप्राण रूप बन गई। व्यंजन + रेफ जो व्राचड अपभ्रंश की विशेषता है और निष्कारण पाई जाती है तथा जो कुछ स्थानों पर परिनिष्ठित अपभ्रंश में भी मिलती है,[३] पुरानी पश्चिमी राजस्थानी में उपलब्ध है।[४] किन्तु अन्यत्र व्यंजन + रेफ उपलब्ध नहीं है। सवर्गीय अनु० + स्पर्श का मभाश्रा में अनुस्वार + स्पर्श में निश्चित परिवर्तन हो गया तथा यही रूप नभाश्रा में भी चला आया। कग्र की पदमध्यग संयुक्त व्यंजन ध्वनियाँ तद्भव और अर्धतत्सम शब्दों के भेद से भिन्न प्रकार की हैं। तद्भव शब्दों में इनकी स्थिति इस प्रकार है—

१. अनु० + स्पर्श < अनु० + स्पर्श < वर्गीय अनु० + स्पर्श,

---

१. पिशेल : § २६८

२. वही : § २६९

३. 'अभूतोपिक्वचित्'—हेम०, ४।८।३९९—अपभ्रंशे क्वचिद् विद्यमानोपि रेफो भवति।

४. तेस्सितोरी, § ३१.

२. अनु० + स्पर्श < अनु० + स्पर्श < वर्गीय अनु० + संयुक्तव्यंजन,
३. अनु० + स्पर्श < अनु० + स्पर्श < संयुक्तव्यंजन,
४. अनु० + स्पर्श < द्वित्वव्यंजन < संयुक्त व्यंजन ।

अर्धतत्सम शब्दों में प्राभाग्रा की संयुक्त ध्वनियाँ सुरक्षित रही हैं—
१. स्पर्श + अन्तस्थ, २. अनुना० + अन्तस्थ, ३. शिन् + अनुना०, ४. शिन् + स्पर्श ५. शिन् + अन्तस्थ ।

उपर्युक्त स्थितियों के उदाहरण यहाँ संकलित हैं—

(क) पदादि : तद्भव शब्दों में

१. अन्तस्थ का लोप : गहै १२।१२।१ < √गह < √ग्रह, दूसर ५४।२ < दुस्सर < द्वि + सर, धजा १३।१८।१ < धजा < ध्वजा, बांभण १४२।५ < बंभण < ब्राह्मण ।

२. सोष्म का लोप : कंध ३७।१०।१ < कंध < स्कंध, ठाउं २८।५ < ठाम < स्थाम ।

३. व्यंजन + रेफ : इस प्रवृत्ति के उदाहरण अत्यन्त कम हैं । जो हैं वे संस्कृत के अवशेष लगते हैं—ध्रिग १२।२७।१ < धिग धिक्, त्री १५३।२ < ति < त्रि, त्रे २०।६ < ते, तइ < त्रय ।

४. स्वर लोप जनित नई निर्मितिः क्यूं २।१३।२ < किउँ < किवुँ < किम + उम, क्यारी २१४।७ < कियारी ∠ केदारिका, क्वारी २३१।२ ∠ कुवाँरी < कुमारी, ग्वालन बारह० ५३ < गोवाल < गोपाल, द्यौहाड़ी १।२।१ दिउस < दिवस, न्यूंति ७६।८ < √ निउंत < √ णिवंत < नि + √ मंत्रय्, ब्याई ११।३ < √ बिग्रा < वि — √ जाय्, ब्याह बारह० ४५ < बिग्राह < विवाह, भ्वैं १२।१०।२ ∠ भूविं < भूमि ।

५. पदादि श्रुति जनित रूप : ग्यारह १५६।६ < गारह < एगारह < एकादश, ग्यारसि ५८।४ < गारसि < एकादशी ।

यहाँ 'इ' के 'य्' उच्चारण वाले रूपों का भी उल्लेख किया जा सकता है (दे० १.५.) किन्तु यह केवल लिपिगत वैशिष्ट्य है या इसका ध्वनिगत महत्त्व भी है, यह निर्णय का विषय है । वैसे कथ्य

अवधी में 'भिच्छा' 'निंदा' जैसे शब्दों का 'भिच्छ्या' 'निंद्या' उच्चारण का मिलना 'इ' के 'य्' वाले रूपों का ध्वनिगत महत्त्व सिद्ध करता है। इस स्थिति में आद्य अक्षर के इ > य् वाले रूप पदादि व्यंजन संयोगों में गिने जा सकते हैं।

६. **महा० न् < ण्ह्** : न्हाइ ६।७।१ < √ण्हा < √स्ना।

(ख) अर्धतत्सम शब्दों में

१. **ऋ के रि उचारण वाले रूप** : दे० १.४.

२. **व्यंजन + रेफ** : क्रीरा बारह० ३९ < क्रीडा, ग्रसै ३४८।२ < √ग्रस्, ग्रहि ३२६।९ < √ग्रह्।

३. **स्पर्श + अन्तस्थ** : घ्यावै २।२८।२ < √घ्या, ग्यान १।३१।१ < ज्ञान, न्याइ २२।१ < न्याय, ब्याकरनां ४६।३ < व्याकरण, ब्योहार ३२।१।१ < व्यवहार, द्वादसी १८३।३ < द्वादशी, द्वै ४५।१०।१ < द्वि, त्रिभवन ७२।२ < त्रिभुवन, त्रिया (तृया) २८९।८ < स्त्री, प्रान ३७।३ < प्राण, प्रहिलाद ३४।४ < प्रह्लाद।

(ग) पदमध्यग—तद्भव शब्दों में

१. **अनु० + स्पर्श < अनु० + स्पर्श < वर्गीय अनु० + स्पर्श** : उदा० १२०. (**च**)

२. **अनु० + स्पर्श < अनु० + स्पर्श < वर्गीय अनु० + संयुक्त व्यंजन** :

तंत ३।२०।१ < तंत < तन्त्र, बंझा २८५ २ < वंझा <, वन्ध्या, मंत २।३०।१ < मंत < मन्त्र, थंमै २०।१५।१ < √थंभ < √स्तम्भ्।

३. **अनु + स्पर्श < अनु० स्पर्श < संयुक्त व्यंजन** :

अंषड़िया ३।२५।१ < अं खि — > अक्षि।

४. **अनु० + स्पर्श < द्वित्वव्यंज < संयुक्त व्यंजन** :

कंकर ४८।१।१ < कक्कर < कर्कर, कंचू २११।१ < कच्च < कच्च, कंदू ४।५।१ कद्दवँ < कर्दम, झंझर ९०।३ < जज्जर < जर्जर, निंत ४६।९।२ < णित्ति < नित्य, बंचौ ३।१।१

<वच्चउ<वत्सकः, मंछ ६।१<मच्छ<मत्स्य, मंजारी ६७।२<मज्जारी<मार्जारी, मंजसि २७७।१<√मज्ज <√मस्ज् ।

५. अनु० + स्पर्श<अनु० + स्पर्श<अनुना० + अन्तस्थ :
अंब १३।२७।२<अंब<आम्र, अँबिली ७६।३< अंबिलिया<अम्लिका ।

(घ) अर्धतत्सम शब्दों में

१. **स्पर्श + अन्तस्थ :** आग्या ३१८।१<आज्ञा, अबिद्या चौ०५< अविद्या, इकत्र २२।१४।१<एकत्र, षत्री अष्ट०४१<क्षत्रिय, गयंद्र दु०१०२ <गजेन्द्र, गाइत्री २६४।३<गायत्री, जंत्र ४६।२०।१<यन्त्र ।

२. **अनु० + स्पर्श :** कंद्रप ३४०।१६<कन्दर्प, गंध्रप १९५।३< गन्धर्व, मुकंदा २५०।२<मुकुन्द ।

३. **अनु० + अन्तस्थ :** सुंन्यं २२०।४<शून्य, पुन्यं १६४।४<पुण्य ।

४. **अनु० + शिन् :** बसंत ३८२।२<वसन्त ।

५. **शिन् + अनुना० :** बैष्णों २८।४।२<वैष्णव, कृस्न ३२७।२< कृष्ण, त्रिस्ना १८४।८∠तृष्णा ।

६. **शिन् + स्पर्श :** अदिष्टि १५।१।२<अदृष्ट, अस्तरी ८४।७<स्त्री, अस्थानां अष्ट० २<स्थान, अस्थूल २२०।४<स्थूल, अस्नान १२१।१२<स्नान, काष्ट ५५।५<काष्ठ, ग्रस्टा २९६।१३<गरिष्ट ।

७. **शिन् + अन्तस्थ :** ईस्वर ब०अ० ३६<ईश्वर, गणेस्वर ३१।२ <गणेश्वर, बैस्य बारह० २६<वैश्य ।

१.३१.. द्वित्व व्यंजन

संस्कृत में पदमध्यग स्थिति में विजातीय स्पर्श व्यजन ध्वनियों के तीन, चार, पाँच तक के उदाहरण मिल जाते हैं। मभाआ काल में केवल दो व्यंजनों का संयोग मिलता है वह भी विजातीय न होकर द्वित्व रूप में। 'ण्ह्' 'म्ह्' 'ल्ह्' ऐसी ध्वनियाँ अवश्य हैं किन्तु इन्हें भाषाशास्त्री

संयुक्त ध्वनि न मानकर 'ण्' 'म्' 'ल्' के महाप्राण रूप मानते हैं।

विजातीय व्यंजन संयोगों की सावर्ण्य प्रक्रिया का मभाआ काल में विशेष महत्त्व है। नभाआ काल में इन समीकृत व्यंजनों का एक व्यंजन के रूप में सरलीकरण हो गया है। सरलीकरण की दो दिशाएँ हैं—एक तो मात्रा भार बनाए रखने के लिए पूर्ववर्ती स्वर का दीर्घीकरण करके तथा दूसरे बिना दीर्घीकरण के। दूसरी स्थिति में प्रायः शब्द में कोई प्रत्यय लगा देखा जाता है या वहाँ समास की निर्मिति पाई जाती है जिसके कारण बलाघात अपना स्थान छोड़कर सरलीकृत व्यंजन से अगले अक्षर पर चला जाता है और पूर्ववर्ती स्वर यथावत् ह्रस्व बना रहता है। कभी-कभी पदग्रामिक तत्त्व के योग के बिना भी बलाघात का स्थान परिवर्तन पाया जाता है।

कग्र की भाषा में संस्कृत की संयुक्त व्यंजन ध्वनियों का मभाआ में समीकरण हो चुकने के बाद इकहरे व्यंजनों के रूप में सरलीकरण मिलता है। किन्तु साथ ही मभाआ के द्वित्व व्यंजन भी संरक्षित मिलते हैं। द्वित्व व्यंजन छंदोनुरोध के अतिरिक्त भी संरक्षित हैं जो निश्चय ही पुरानी प्रकृति के संकेत हैं।

क्ख् < क्ष् : अष्षिरां १।२२।२ < अक्खर < अक्षर।

ग्ग् < ज्ञ् : जग्गि २६५।२ < यज्ञ।

च्छ् < त्स्य् : मगरमच्छ ७७।६ < —मच्छ < —मत्स्य।

ज्ज् < ज्ज्व् : उज्जल ७।१।१ < उज्जल < उज्ज्वल।

ट्ट् < ट्ट् : पट्ट ५।२८।१ < पट्टण < पट्टन।

ड्ड् < ड्ड् : षड्ड १२।११।२ < देशी० खड्डा।

< स्थ् : हड्ड १२।११।१ < हड्ड < अस्थि।

त्त् < त्त् : उत्तिम ब०अ० ३४ < उत्तम < उत्तम।

< त्य् : नित्त ३।२०।१ < णित्ति < नित्य।

< त्व् : तत्त ४६।१३।२ < तत्त < तत्त्व।

< प्त् : बहत्तरि १९३।३ < वासत्तरि < द्वासप्तति।

त्थ् < स्त् : हत्थ ५।३४।२ < हत्थ < हस्त।

न्न्<न्न् : अंन ३५।१।४<अण्ण<अन्न ।

<ण्य् : पुंन १६६।५<पुण्ण<पुण्य ।

१·३२. **द्वित्व व्यंजन का सरलीकरण**

(अ) दीर्घीकरण सहित :

क्<क्क्>क्क् : कूकर ३५।१२।२∠कुक्कुर<कुक्कुर ।

<क्र् : चाकि ६।१।२<चक्क<चक्र ।

<क्य् : छींकै १३।२४।२<छिक्का<शिक्या ।

<र्क् : आक २६।७।१<अक्क<अर्क ।

ख्<क्ख्<क्ष् : आषर १४८।७<अक्खर<अक्षर ।

<ष् : चाषौं २।२<√चक्ख<√चष् ।

<क्+ष्+ण् : तीषा ४७।५।१<तिक्ख<तीक्ष्ण ।

<त्+ख् : ऊषण्या१६१।५<√उक्खण<उत+√खन् ।

<ख्य् : आषौं ५४।६।१<√अक्खा<आ—√ख्या ।

<ष्क् : षोषरी १२७।३<खुक्ख<शुष्क ।

<विसर्ग+ख् : दूषा १७५।६<दुक्ख<दुःख ।

ग्<ग्ग्<ग्ग् : गूगल १६६।८<गुग्गुल<गुग्गुल ।

<ग्न् : आगि ३।३८।२<अग्गि<अग्नि ।

<ग्+ऋ : जागै ३।४५।२<√जग्ग<√जागृ ।

<ग्य् : अभाग २०।२१।२<अभग्ग<अभाग्य ।

<ड्ग् : षाग ३५०।२<खग्ग<खड्ग ।

<द्ग् : ऊगई २०।२०।२<√उग्ग<उद्—√गम् ।

<र्क् : तागा ३३।८।१<तग्गअ<तार्कव ।

घ्<ग्घ्<घ्र् : बाघ १६२।८<बग्घ<व्याघ्र ।

<द्घ् : उघड़ि १२।२२।१<√उग्घड<उद्—√घट्‍ ।

च्<च्च्<च्च् : ऊँच २५।७।१∠उच्च<उच्च ।

<त्+च् : ऊचरैं ३४०।३<√उच्चर<उत्—√चर् ।

<त्य् : नाचै १२।४∠√णच्च∠√नृत्य् ।

<र्च् : कूच १६।८∠कुच्च∠कूर्च ।

<श्च् : नचींत ११।१३।२∠णिच्चिंत∠निश्चिन्त ।

छ्<च्छ्<च्छ् : आछा सत०४∠अच्छ∠अच्छ ।

<स् : आछै १५६।४∠√अच्छ∠√आस् ।

ज्<ज्ज्<ज्ज् : काजल १३६।५∠कज्जल∠कज्जल ।

<ज्व् : ऊजल ३१।६।१∠उज्जल∠उज्ज्वल ।

<द्य् : आज ४६।२।१∠अज्ज∠अद्य ।

<र्ज् : गाज ३।१५।२∠गज्ज∠गर्ज ।

<र्य् : अकाज २।१५।१∠अकज्ज∠अकार्य ।

<य् : कलेजा ३।१६।२∠कालेज्ज∠कालेय ।

झ्<ज्झ्<द्ध्य् : अबूझ ४५।२।१∠अबुज्झ∠अबुद्ध्य ।

<ह्य् : दाझै २३।२।१∠√दज्झ∠√दह्य् ।

ट्<ट्ट्<ट्ट् : कूटै ३५।८।२∠√कुट्ट∠√कुट्ट् ।

<त्र् : आटा १२।४८।२∠अट्टअ∠अत्रक ।

<र्त् : काटै ५५।५∠√कट्ट∠√कर्त् ।

<ष्ट् : ईंट १२।१८।१∠इट्टा<इष्टका— ।

<ष्ट्र् : ऊँट १७७।५<उट्ट<उष्ट्र ।

<र्त्म् : बाट ३।६।१<वट्ट<वर्त्म ।

ठ्<ट्ठ्<ष्ट् : आठ ३।३५।२<अट्ठ<अष्ट ।

∠ष्ठ् : काठ ५५।१।२<कट्ठ<काष्ट ।

<स्थ् : ऊठै ३।७।१∠√उट्ठ<उत्—√स्था ।

ड्<ड्ड∠ड्ड् : गाडर १७।३।२∠गड्डर∠गड्डर ।

∠र्द् : छाड़ै २६३।७<√छड्ड<√छर्द् ।

ढ्<ड्ढ्<द्ध् : वाढ़ी ५५।५<बड्ढिय<वृद्धिक ।

<र्ध् : बाढ़ै ३८८।७<√वड्ढ<√वर्धय् ।

ब्ध् : ठाढ़ा १६५।२∠ठड्ढ<स्तब्ध ।

<र्य् : टेढ़ौ २२।२ < टेढ्ढग्रो < तिर्यक: ।

ष्ट् : काढ़ौ ४६।१७।२ < √कड्ढ ∠ कृष्ट ।

ण् < ण्ण् < ष्ण् : षूणौं २०।६।२ ∠ खुण्ण < क्षुण्ण ।

∠न्य् : आंण ३६२।१६ ∠ अण्ण ∠ अन्य ।

त् ∠ त्त् < त्त् : तीतरबानी १६।२६।१ < तित्तिर— ∠ तित्तिर— ।

<त्र् : षेत १२।१५।१ ∠ खेत्त < क्षेत्र ।

<प्त् : तातैं १।२८।१ < तत्त ∠ तप्त ।

<र्त् : काति २२८।१ ∠ √कत्त ∠ √कर्त् ।

थ् ∠ त्थ् ∠ स्त् : हाथ ३५।१२।१ ∠ हत्थ < हस्त ।

द् ∠ द्द् ∠ र्द् : कूदत २६०।४ < √कुद्द < √कूर्द् ।

<द्र् : मूंदे ७४।४ ∠ √मुद्द ∠ √मुद्रय् ।

ध् ∠ द्ध < द्ध् : जोध २६०।३ < जोद्ध ∠ योद्धा ।

<ग्ध् : दाघा ४।७।१ ∠ दद्ध < दग्ध ।

<र्ध् : आधा ६७।५ < अद्ध < अर्ध ।

न् < ण्ण् < न्न् : आंन ३०७।४ < अण्ण < अन्न ।

<न्य् : आंन ३२।१।१ < अण्ण ∠ अन्य ।

<र्ण् : कान १।१०।१ ∠ कण्ण < कर्ण ।

<ट्ण् : छ्यानबैं ३३।४ ∠ छण्णवइ ∠ षट्णवति ।

प् < प्प् < प् : कोप्यौ ३७८।८ ∠ √कोप्प ∠ √कुप् ।

<त्प् : ऊपना ५।२६।१ ∠ उप्पण्ण < उत्पन्न ।

<त्म् : आप ५।२३।२ ∠ अप्प ∠ आत्म ।

∠त्र् : गोप अष्ट०६६ ∠ गोप्प ∠ गोत्र ।

<प्त् : गोप अष्ट०२० < गुप्प ∠ गुप्त ।

<र्प् : कापड़ा २३।७।२ < कप्पड ∠ कर्पट ।

ब् > ब्ब् < द्ब् : ऊबरै १२।१५।२ ∠ √उब्बर > उद्—√वृ ।

<व् : जोबन ७।१।१ ∠ जोब्वण ∠ यौवन ।

भ् < ब्भ् < द्भ् : ऊभर २८१।२ < उब्भर < उद्—√भू ।

<र्ध्व् : ऊभा १२।५।२∠उब्भ<ऊर्ध्व ।

<र्भ् : दूभर १४०।१<दुब्भर∠दुर्भर ।

<ह्व् : ∠जीभ ३५।१।२∠जिब्भा∠जिह्वा ।

म्<म्म्<र्म् : कांम ७०।४<कम्म∠कर्म ।

<र्म्य् : घांम ९०।७∠घम्म∠घर्म्य ।

र्<र्र्<र्ण् : पूरा ७।२।२<*पुर्र∠पूर्ण ।

ल्<ल्ल्<र्ल् : दूलह २२६।६∠दुल्लह∠दुर्लभ ।

<ब्र् : अबोल ३१६।५<अबोल्ल∠√ब्रू ।

<ल्क् : छाला ३।२२।२∠छल्ल∠शल्क ।

∠देशो०ल्ल् : कालर २५।३।१<कल्लर ।

स्<स्स्∠शं् : चौबीसौ २५६।६<—बिस्स∠—विंशति ।

<ऋष् : दीसहीं १७।१७।१<√दिस्स∠√दृश्,√दृष् ।

∠स्य् : काहि २।८।१∠कस्स<कस्य ।

<स् : दूसर ५४।२<दुस्सर<द्विसर ।

<श् : कोस ३१६।१<कोस्स<क्रोश ।

(आ) दीर्घीकरण रहित :

इस कोटि के परिवर्तनों का महत्त्व ध्वनिशास्त्रीय है। ऐतिहासिक विकासक्रम में इनकी भूमिका नहीं के बराबर है। किंतु यह प्रवृत्ति कग्रं में काफ़ी विस्तार से मिलती है। उपलब्ध उदाहरणों का अध्ययन करने से दीर्घीकरण न होने के निम्नलिखित कारण स्पष्ट होते हैं। यहाँ हर एक के कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं।

१. **प्रत्यय का संयोग होने पर**—कुकड़ी ६२।६∠कुक्कुड—इआ <कुक्कुट—इका, उंचेरा ३६१।३<उच्च—एरा∠उच्च—,अजौं ४६।२३।१<अज्ज—हुँ<अद्य—, चमरा ३८९।३∠चम्म—आर< चर्म—कार, कनिहार १८।११∠कण्ण—हार∠कर्ण—धार।

२. **समास निर्माण होने पर**—अगिवांनी २५४।४∠अग्ग—∠अग्र—, अधषाधा ३५३।२∠अद्ध—∠अर्ध।

३. द्वित्व व्यंजन से पूर्व दीर्घ स्वर वाला अक्षर होने पर—आरती ४०३।१∠आरत्तिअ<आरात्रिक, आसति १९०।४<आसत्ति ∠आसक्ति, दालिद ३०।१०।२ ∠दारिद्द∠दारिद्रय, आरसी १३।८।१ ∠आरस्सिआ<आदर्शिका।

४. द्वित्व व्यंजन वाला अक्षर दीर्घ स्वर से निर्मित होने पर—अघाइ ३५।४।१<√अग्घा—∠√घ्रा, उछाह १८३।१०∠उच्छाह <उत्साह, अथाह ३४१।२∠अत्थाह∠अस्ताध।

५. अकारण—इक ३५।२०।२ ∠इक्क ∠एक, धनक २१०।४ ∠धणुक्क<धनुष्क, अलष ५।१५।१ ∠अलक्ख<अलक्ष्य, सच २५७।८∠सच्च<सत्य, कछ ३३१।५<कच्छ—<कच्छप, अब ५।१७।२∠अब्ब, अब्बहिं, एव्व, एव्वहिं∠एवम्, कल १०८।२<कल्ल <कल्य< सहस, १।६<सहस्स∠सहस्र।

उपरिलिखित हर कारण का परिणाम बलाघात का स्थान परिवर्तन हैं जिसके कारण दीर्घीकरण सम्भव नहीं हो पाता।

१.३३. स्वरभक्ति या विप्रकर्ष

अ: अंतरगगन १७२।५∠अन्तर्गगन, अकलप ६।६।१<अकल्प, अलप ५६।४।१∠अल्प, बकता ४२।१∠वक्ता।

इ: अहिलाद २०।२३।१<आह्लाद, कारिज २०।८।२<कार्य, कुबिज दु०३१∠कुब्ज, मुदिगर २४२।५<मुद्गर।

१.३४. स्वरागम

पदादि में—अटक्यौ ३०९।२∠√टक् (बंधने), असनान ५।११।१∠स्नान, अहला ३५।१४।२∠देशी० √हल्ल।

आद्यक्षर में—धियांन ५।४४।२,∠ध्यान नियाई २००।२∠न्यायी, परगट ६९।५<प्रकट, बियापी १७८।९∠व्यापी।

पदमध्य में—आसिरै ब० अ० ४९<*आसरअ<आश्रय।

१३५. स्वरलोप

आद्यक्षर में—उदा० दे० १.३० (क-३)

पदमध्य में—अन्याले ११८।१<अणिआर∠अणिकार, बद्री बारह० ५६∠बदरी, बस्ती२३८।५∠वसति बाल्हा ३०७।१< वालह+आ ∠वल्लह∠वल्लभ ।

१.३६. **स्वर विपर्यय**

अ : कंद्रप ३४०।१६>कन्दर्प, गंध्रप १६५।३<गन्धर्व ।

आ : बिघार ५।२६।२∠व्याघ्र ।

इ : अगिन दु० २३∠अगनि<अग्नि, अनिन ५।२६।२∠अननि <अनन्य, धूंवरि ३१३।४∠धूविल∠धूमिल ।

उ : अरु बारह० २८∠अउर∠अवर∠अपर, उनमान ५।३।१ ∠अनुमान धुनही २१२।५∠धणुह—<धनुष्, मुंछ २४।१०।२ ∠मच्छु∠श्मश्रु ।

१.३७. **स्वर संप्रसारण**

इ∠य : अनि १६८।१∠अन्य, अनियाई दु०८∠अन्यायी, असति ३६३।५ असत्य, घाइल ४३।१०।२∠घायल<घात—ल, बिथा २८४।३<व्यथा, मधि ३१।१।१<मध्य ।

उ<व : अंबराउं ३०।१।१∠अंबरावँ<आम्राराम, छुछंद १७४।६ ∠स्वच्छन्द, दुंदर ४१।१२।२∠द्वन्द्व—र ।

१.३८. **व्यंजन लोप**

कंधि ३७।१०।१<कंध∠स्कन्ध, चानिणौं १।१७।२∠चान<*चन्न <चन्द्र, सानियां १६६।१३<√सान∠√संध∠सं+√धा ।

१.३६. **व्यंजन विपर्यय**

दह १३।२४।२<दह<हृद, बनारसी ४४।२।१∠बाणारसी∠ वाराणसी, पालड़ै ३८।८।२∠पडलअ<पटल—क ।

१.४०. **अक्षरागम**

गहगरा सूहो०१∠गहर∠गहिर<गभीर, घूँघट २१७।४∠*घुंघुट ∠√घुंट∠√गुण्ठ् ।

१.४१. **अक्षर लोप**

अकारथ ३१५।६<अकार्यार्थ, डंगा ३५६।६<डंडअ∠दण्ड—क,

लालै १३।३।१ <लालस, हरनाकस ३७६।८ ∠ हिरण्यकशिपु ।

१.४२. **रेफविपर्यय**

कतरै १२।५ ∠ √कत्, कंद्रप ३४०।१६ <कन्दर्प, गंध्रप १९५।३ <गन्धर्व, द्रपन ४०।३।२ ∠ दर्पण ।

१.४३. **महाप्राणीकरण**

षंषर १२।८।२ <खंख— <कंक –, षभा १८।३ <खंभ <स्कम्भ, षेवट ३२।६ <केवट्ट< कैवर्त, घेहर १।८ <गेह, ओछी १२।५६।२ < अवच्च—, झंझर ६७।३ <जर्जर, मींढक ८०।४ <मिंडक <मंडूक, भरथरी ६।६ <भर्तृहरि, धागा ३२।१ <तग्गअ <तार्कव, धीय २२।६ <धीआ <दुहिता, फहराइ १३।२८।१ <√पहर <प्र+ √सर्, फूस ४५।५६।२ <बुस <बुस, भी १।१५।१ <*बी <अवि< अपि, भेष ११०।३ <वेख <वेष, भेरा १।२५।२ <देशी० बेडअ ।

१.४४. **हकार (प्राणता) आगम**

उमाहा २७१।७ <उम्माय ∠ उन्माद, उल्हास २४।२५।१ ∠ उल्लास, चील्ह ८०।७ ∠ देशी० चिल्ल ।

१.४५. **हकार (प्राणता) लोप**

'ह्' के लुप्त होने के काफ़ी उदाहरण मिलते हैं। स्वरमध्यग 'ह्' का लोप पश्चिमी हिन्दी की खास विशेषता है। यह प्रवृत्ति मध्य-देशीय भाषा में नभाआ के प्रारम्भिक काल से ही शुरू हो गई थी।[1] खड़ी बोली के आद्य रूप दक्खिनी हिन्दी में भी इस प्रवृत्ति का प्रसार मिलता है।[2]

आद्य—रिदा १२१।६ ∠ रिदअ <हृदय ।

स्वर मध्य—चाइ १७।५।३ <देशी० चाह, चिनी ९६।१२ <चिह्न, जोइ १०२।३ ∠ जोहिआ ∠ योषिता, दोवर ३५६।१ ∠ दोहर ∠ द्वि—धर, नाऊँ ६।१३ ∠ √ण्हा <√स्ना, ब्रिसपति ३६२।१० ∠ बृहस्पति ।

---

१. व्यास : प्राकृतपैंगलम्, § ५५, तेस्सितोरी, § ३७ तथा भयाणी : संदेश रासक, § ३४ ।

२. सक्सेना : दक्खिनी हिन्दी, पृ० ४६ ।

१.४६. **हकार विपर्यय**

घर २।२७।१ ∠ घर < गृह, घेरौं १३।१६।१ ∠ √घेर < √ग्रह्, जिभ्या ३७४।५ < ज़िब्भा ∠ जिह्वा, हलका ८।११ ∠ लघुक।

१.४७. **'ह' श्रुति**

चहुँदिसि १।३२।१ ∠ चउद्दिसि < चतुर्दिशि, छाहां ३२८।२ < छाआ < छाया।

पुरश्रुति : हसि ६५।१ < असि (√अस्), हुलरायें १३९।२ ∠ उद् + √लल्।

१.४८. **अल्पप्राणीकरण**

अंबरीक १२२।७ < अम्बरीष, संकल १६।२५।१ < शृंखला, टीबै १७६।३ ∠ ठीला ∠ अष्ठीला, ऊकटि ३७।२।२ < ∠ उक्कड्ढ ∠ उत् + कृष्ट, डारैं ८८।४ < देशी० √ढाल, गुदड़ी ४८।३।१ ∠ √गुत्थ ∠ √ग्रथ्, ओषद ३६९।५ < ओषधि, नषेद २५२।३ ∠ निषेध।

१.४९. **घोषी करण**

क् > ग् : उपगार ८२।६ ∠ उपकार, काग १२।४।२ ∠ काक गांडि ३५।९।२ काण्ड, कींगरी १५३।१ < किंकिणी।

ख् > घ् : चोघतां ४६।७।१ < चोख < चक्ख ∠ चक्षु।

च् > ज् : कुंज ३।१।१ ∠ कुंच ∠ क्रौंच।

ट् > ड् : डिगै ३४१।१ > देशी० < √डिग < सं० √टिक् (?), पाडल ३५।१६।१ < पाटल।

त् > द् : अनहद ५।४४।१ < अनाहत।

> ध् : धागा ३२।१ ∠ तग्गअ < तार्कव।

प् > व् : कठवत २०।५ < —वत्त ∠ —पात्र, किवाड़ ३५९।२ ∠ कवाड < कपाट, कुवाँ ५।४५।१ ∠ कूव ∠ कूप, दीवा ९८।२ ∠ दीवअ < दीपक।

१.५०. **अघोषी करण**

ड् > ट् : बूंटा १०।५ ∠ खोडअ ∠ क्षोडक।

ढ् > ट् : ऊकटि ३७।२।२ ∠ उक्कड्ढ ∠ उत् + कृष्ट।

द् > त् : छाती २७३।१ < छादी < छादिन्।

ब् > फ् : फूस ४५।३।२ ∠ बुस ∠ बुस।

व् > प् : गंध्रप १९५।३ ∠ गन्धर्व।

१.५१. **प्रतिवेष्टितीकरण**

त् > ट् : आटा १२।४८।२ ∠ अट्टअ < अत्रक।

थ् > ठ् : गंठी ३७।८।१ < गंठि < ग्रन्थि।

त् > ड् : टांडा २५४।३ ∠ टंट < तन्त्र ।
द् > ड् : डसँ २३६।३ < √ डस < √ दंश्, हिंडोलनां १८।१ ∠ हिंडोल ∠ हिन्दोल ।
द् > ढ् : ढिग २२।७ ∠ डिग ∠ दिक् ।
ध् > ढ् : ढहैं १२।१८।२ < √ ढह ∠ √ ध्वंस् ।
थ् > ढ् : गुढी २८८।६ < ∠ गुत्थ ∠ √ ग्रथ् ।
प्रतिवेष्ठित का दन्त्य परिवर्तन भी खोजने पर मिल जाता है—गोद ४६।१।२ < कोड < क्रोड ।

१.५२. **उत्क्षिप्त प्रतिवेष्टितीकरण**

विवरण तथा उदाहरण के लिए—१.१०.

१.५३. **विदेशी शब्दों में ध्वनिपरिवर्तन**

कग्रं में विदेशी शब्द अरबी, फ़ारसी और तुर्की भाषाओं के पाए जाते हैं। इनमें तुर्की के शब्द नाममात्र के हैं। इस प्रसंग में यह महत्त्वपूर्ण है कि हिन्दी और उसकी बोलियों तथा अन्य भारतीय भाषाओं में अरबी और तुर्की के शब्द फ़ारसी के माध्यम से आए हैं। अतः ऐसे शब्दों के साथ मूल अरबी या तुर्की ध्वनियाँ नहीं आ सकी है। फ़ारसी में आने पर अरबी-तुर्की ध्वनियों में जो परिवर्तन हो चुके थे उन्हीं परिवर्तित रूपों में ये शब्द साधारणतया हिन्दी में पहुँचे हैं। [1]एक अन्य तथ्य जो ध्यान देने योग्य है कि फ़ारसी ध्वनियों के परिवर्तन प्रायः प्राभाआ > मभाआ > नभाआ के विकास-क्रमानुसार ही हैं। इसका कारण शायद भारतीय आर्य भाषा भाषियों का इन नियमों से अभ्यस्त होना है। इस प्रकार वे फ़ारसी-ध्वनियाँ जो प्राभाआ की ध्वनियों के समान हैं, इसी विकास प्रक्रिया में मिलती हैं।

१.५४. **स्वर परिवर्तन**

(१) फ़रासी 'अ' अग्र विवृत स्वर है, हिन्दी में यह अर्ध विवृत मध्य स्वर 'अ' हो जाता है—

अहमक अष्ट० ३० ∠ अहमक़, दरगह १३।१७।२ < दरगाह, दरवाजा ६१।१ ∠ दरवाज़ा ।

(२) पदान्त आ < अ + ह् अनुच्चरित (मुख्तफ़ी)—

१. धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी भाषा का इतिहास, § १५६, पृ० १९९

अंदेशा १४।४।१<अंदेशह्, कलमां २५६।२<कलिमह्, काबा ३१।१०।१∠का' वह्, षाला ४५।१६।१<ख़ालह्, षुर्दा २५८।३ ∠ख़र्दह्, तमाचा (चे) ११।१२।२∠तमाचह्∠तपांचह्, दमांमां ४६।६।१∠दमामह् ।

(३) **स्वर का मात्रात्मक परिवर्तन—**

(क) **दीर्घीकरण—**जुलाहा ५।४७।२<जोलह्, मसीत ५८।६<*मस्सित ∠मस्जिद, बींद ४६।४।२∠*बिंद∠ख़ाविंद, कालबूत १८।१।२∠ काल्बुद, गूंगा १।१०।१∠गुंग ।

(ख) **ह्रस्वीकरण—**असमांन ५।२१।१∠आसमान. करगहि १६।६∠ क़ारगाह, षतनां ४१।१०∠ख़ितान, सलार ३३६।२<सालार, दिगर २५८।१०∠दीगर, दिवांन २२२।७∠दीवान, चु २५८।६∠चूँ, सुरति ४३।३∠सूरत ।

(४) **स्वर का गुणात्मक परिवर्तन—**

असरार २।१६।१∠इसरार, षतनां ४१।१०∠ख़ितान, मसकीन २५५।२∠मिस्कीन, सालक २५८।८<सालिक, चाबक १३।१३।१< चाबुक, महरम ३३८।२∠मुहर्रम, अकलि ८।२<अक़्ल, अवलि २५५।३<अव्वल, निमाज २५६।५∠नमाज़, फुरमाइस ३१६।२< फ़र्माइश, जुलाहा ५।४७।२<जोलह्, मिहर ५।१६।२<मेह्र, पोच ब०अ० ५∠पूच ।

(५) **स्वर संयोग—**कसाब ७३।२∠कश्+आब, कुरांन अष्ट० २२∠ कुर्‌आन, जमाति २०७।४<जमाअत, दुनीं १२।८३।१<दुनिआ <दुन्या ।

(६) **संध्यक्षर—**फ़ारसी के 'अइ' तथा 'अउ' संध्यक्षर क्रम में 'ऐ' तथा 'औ' हो गए हैं। इनका संयुक्त स्वरमूलक उच्चारण भी माना जा सकता है—पैदा ३६६।५∠पइदा, मैदा ३१।१०।२<मइदह्, मौजूद २५८।८∠मउजूद, सौदा ४८।३।१<सउदा ।

इनके अतिरिक्त मूल फ़ारसी ध्वनि 'अ' 'आ' के 'ऐ' और 'औ' विकास भी मिलते हैं—पैमाल २।१२।२∠*पइमाल, *पाइमाल ∠पामाल, जौर ९५।३<*जउर,*जवल∠जवाल, हौंस १।४।२<

*हउस∠हवस ।

(७) **स्वरागम**--असवार ४५।२७।१∠सवार, कबाइ १३।११।१<क़बा, बलाइ २२।६।१∠बला ।

(८) **स्वरलोप**—क्राहै २८४।५<कराहत, ज्वान बारह बारह० ३७<जवान, ज्वाब १०२।११<जवाब, प्यालै १२।४६।२<पियालह्, म्यांनैं २५८।७<मियान ।

(९) **स्वर विपर्यय**—मजलसि ३३६।१∠मज्लिस, मुसिकल २५८।६∠ मुश्किल, महीला ४५।३५।२<*मुहल<मुहील ।

(१०) **स्वरभक्ति**—अकलि ८।२∠अक़्ल, अरज १६३।६<अर्ज़, कारिवां १२।७।१<कार्वां, दरिया ५।२६।१∠दर्या, सुलितान १२।२५।२< सुल्तान, तुरुक ५६।५∠तुर्क ।

(११) **स्वर संप्रसारण**—निहाइति ६६।१<निहायत, बिलाइति ३५।१३।२ विलायत, उजू २४६।५∠वज़ू ।

(१२) फ़ारसी के अनुनासिक स्वर कग्रं में कहीं-कहीं निरनुनासिक हो गए में—चू २५८।६∠चूँ, पुमारी ७३।४<खुमारीं ।

कहीं-कहीं अकारण अनुनासिकत्व भी मिलता है—कूँच २३७।२<कूच, हौंस १।४।२<हवस।

१.५५.

व्यंजन परिवर्तन

(१) फ़ारसी की 'क़्' 'ख़्' 'ग़्' 'ज़्' 'फ़्' 'श्' 'व्' ध्वनियाँ हिन्दी में क्रमशः 'क्' 'ख्' 'ग्' 'ज्' 'फ्' 'स्' 'ब्' में परिवर्तित हुई हैं। इसी क्रम में इनका विकास कग्रं में मिलता है —

अकलि ८।२ अक़्ल, काजी २२।५।१∠क़ाज़ी कमिबषत ३२३।४ ∠कमबख़्त, गरीब १२३।२∠ग़रीब, अजीज २५७।२<अज़ीज़, दफतर २२।८।२∠दफ़्तर, अँदेसा १४।४।१∠अंदेशह्, कसाब ७३।२< कश+आव, जबाव ३३६।६∠जवाव, दरबेस २५७।३<दरवेश ।

ज़्>ज् के अतिरिक्त 'द्' में भी बदल गया है—गुदरांनां ६६।३<गुज़र— ।

(२) स्पर्श संघर्षी ध्वनि च् का ब् में परिवर्तन हुआ है—दरीबै ७०।५< दरीचह् ।

(३) फ़ारसी र् > ड़् : पड़दा २४।१८।१ < पर्दह् ।

(४) ल् > र् : पारिसा २१६।८∠खालिस—

(५) फ़ारसी में महाप्राण ध्वनियाँ नहीं हैं । 'क्' 'ब्' का 'ख्' 'भ्' में परिवर्तन हो गया है—बषतर ३५०।२<बक्तर, आभ २।२१।२ आब ।

(६) फ़ारसी की स्पर्श संघर्षी ध्वनि 'ख़्' महाप्राण 'ख्' बनकर 'क्' में बदल गई है—बकसहु १११।२<बख़्श, मसकरा १७।८।२<मस्ख़रह् ।

(७) अघोष संघर्षी ध्वनियाँ 'क़्' 'ख़्' 'ग्' में बदल गईं हैं । इनमें जिह्वा-मूलीय 'क़्' शुद्ध कंठ्य 'क्' बनकर 'ग्' हुई तथा ख़् >महा०ख्>क् >ग् के क्रम से आई है—नग २१७।२<नक़्क़ारह्, दोजग ५५।२ <दोज़ख़ ।

(८) सघोष ध्वनियाँ अघोष हो गई हैं—पैकंबर ५८।३∠पैगम्बर, कालबूत १८।१।२<काल्बुद, पातिसाह ३१६।४∠पादशाह, मसीत ५८।६∠मस्जिद ।

(९) तालव्य संघर्षी श् > स् में और कहीं-कहीं 'ह्' में बदल गई है—अँदेसा १४।४।१<अंदेशह्, अँदेह ३०७।२∠अंदेशह् ।

(१०) स्पर्श संघर्षी तालव्य ध्वनि ज् > स् : मसीत ५८।६∠मस्जिद ।

(११) अनु० ध्वनियाँ 'न्' 'म्' का 'ण्' 'व्' में परिवर्तन हुआ है—
कमांण १।६।१∠कमान, नीसांणीं २५।५।१<निशानी, निवाज २२।५।१<नमाज़ ।

(१२) अन्त्य 'न्' का लोप कर पूर्ववर्ती स्वर अनुनासिक बना दिया गया है—मियाँ २३८।६∠मियान् ।

(१३) द्वित्व व्यंजन सरलीकृत हो गए हैं—

मका ६१।२<मक्क़ह्, बजहाई १६३।५∠बज्जाज़—, मुरतब २८६।७<मुरत्तब, महोबती ४३।१०।१<मुहब्बत—, उमति ३२७।४ उम्मत, महरम३३८।२<मुहर्रम, अला ५१।३<अल्लाह, अवलि २५५।३<अव्वल, अरदास ३०६।७<अर्ज़दाश्त ।

(१४) **व्यंजनागम**—लहँग २५८।८<लह्न, जहंदम २४।२०।१<जहन्नुम, ज्यंद ३६५।६<जिन्न, दिलहर २५७।१<दिलवर, निसहुरा ७७।१०<—शऊर ।

(१५) **व्यंजन लोप**—नजीक ३३६।७<नज़्दीक, मजूरी २८८।६<मज़्दूरी, मुसला सूहो० ७<मुसलमान ।

(१६) **अक्षर लोप**—बींद ४६।४।२<खविंद, क्राहै २८४।५<कराहत, ताजनैं २५।३<ताज़ियानह्, अला ५१।३<अल्लाह ।

(१७) **व्यंजन विपर्यय**—कुलफ २३।४<कुफ़्ल ।

एकाध उदाहरण **अक्षरविपर्यय** का भी है—कसदम २२२।६<दमकश ।

(१८) छंदोनुरोध जनित अनुस्वार का अनुनासिक—अँदेसा १४।४।१<अंदेशह्, जँजीर ३४१।३<ज़ंज़ीर ।

इसका व्यत्यय भी मिलता है—बंग ६१।१<बाँग ।

दूसरा अध्याय

पद-विचार

उपसर्ग

२.१

कम्र की शब्द रचना में तत्सम, तद्भव और विदेशी तीनों प्रकार के उपसर्ग मिलते हैं। अर्धतत्सम शब्दों में उपसर्ग में प्रायः कोई परिवर्तन नहीं हुआ है और उनका तत्सम रूप सुरक्षित है। यहाँ अकारादि कम से इन पर विचार किया जा रहा है।

१. **अ** – निषेधार्थक (तत्०)। इसका प्रयोग तत्सम और तद्भव दोनों प्रकार के शब्दों में हुआ है : अकथ ३६।१०, अकारथ ३१५।६, अगणित ३५।३, अभाग दु० ६।

२. **अण**—निषेधार्थक (< सं० अन—) : अणग्राया १२।२६।१, अणब्यावर ५८।४।१, अणच्यंता ३५।६।२।

३. **अण**—(<अणु<अनु) : अणरागी २६६।१० <अनुरागी।

४. **अधि** – (तत्०) : अधिकारी २६६।४।

५. **अन**—(तत्०) निषेध : अनकीया ३८।२।१, अनूप ३६।४।२।

६. **अन** – (<अणु<अनु) : अनभूत २६७।१।

७. **अप** – (तत्०) : अपमारग १८३·७।

८. **अभि** – (तत्०) : अभिअंतरा ३२८।५, अभिमांन ४६।४।

९. **अव**—(तत्०) : अवतरिता अष्ट० २८<अवतार से ना० धा०, अवधू १०।१।

१०. **आ**—(तत्०) पूर्णताबोधक : आरंभ २८८।४, आवटणाँ २९८।१<आवर्तन।

११. **आ**—(<अ<अ) निषेध : आकुल ३४।४< अकुल।

१२. **उ**—(<उद्, उत्, उन्) : उठै ५।४६।१ < उत्—√स्था, उज्जल ७।१।१, उदमादि ४०१।८ <उन्माद।

१३. **उ**—(<अव) : उनवैं ब० अ० २२ < अव—√नम्।

१४. **उन**—(<अनु) : उनमांन ५।३।१ < अनुमान।

१५. उप—(तत्०) : उपगारी ४७।७।१ ।

१६. औ – (<अउ <अव) : औगुन २०।५।१ < अवगुण, औघट ३१।५।२ ।

१७. कमि—(फ़ा० कम) अल्पार्थक : कमिबषत ३२३।४<कमबख्त ।

१८. कु—(तत्०) : कुचल १२५।८<कु—√चल, कुबुधी १२।२६।२।

१९. दुर—(<दुर्) दुरगंध दु० ७९, दुरिजन २४।२६।१, दुराचारी ४२।२।२ ।

२०. दू—(दुर्) : दूभर १४०।१<दुर्भर ।

२१. नर—(<निर्) : नरजीव १९८।४ <निर्जीव ।

२२. ना—(<फ़ा० ना—) : नापाक २५७।९ ।

२३. नि—(तत्०) : निकंदिया २३।९।२ <नि+√ कंद् ।

२४. नि—(<निर्) : निपजै ५।४७।१ ।

२५. नि —(<निस्) : निकुल १२।४५।२<निस्+कुल ।

२६. नि—(<निः) : निपूतो ८१।४ ।

२७. निर—(<निर्) : निरगुण ४९।१ ।

२८ निस—(<निस्) : निसतरै ३९२।४ ।

२९ निस्—(तत्०) : निस्तार १०६।६ ।

३०. निह—(<निस्) : निहचल १।३०।१ ।

३१. नी—(< निर्-) नीधनवंता ब०अ० ५ ।

३२. प—(< प्र, प्रति): पठवौं २२।६ < प्र+√स्थापय्, पसर्‌यो २९६।१५ <प्र+√सृ, पहिचाना ५५ २<प्रत्यभिज्ञान ।

३३. पर—(तत्०) : परउपगारी ३०७।६, परनारी २०।३।१ ।

३४. पर(<प्र) : परर्वति १६।२७।२ <प्रवृत्ति ।

३५. परि —(तत्०) : परिपूरन ३०६।४, परिपूरिता ११९।२ ।

३३. प्रति—(तत्०) : प्रतिबिंब १७९।९ ।

३७. ब—(< व्रि) : बदेह ३०३।३ <विदेह ।

३८. बि—(<वि) : बिछोह १२।६।१, बिरकत ३४।६।१<विरक्त ।

३९ **बि**—(< वि+अ, अभि) : बियापी १७८।६ < व्यापिन्, बिभचार ३६।३।१ < व्यभिचार।

४०. **बे**—(फ़ा० बे) : बेकांम २।१७।२ बेपरवाही १२।५०।२।

४१. स—(तत्०) : सकांमता ११।१०।१, सगला २९।१५।१ < सकल।

४२. स—(सम्) : सकेलि १२।२०।१।

४३ स —(< सम्) : संपट ३२५।५ < संपुट।

४४. सन(< सम्) : सनमुख ५।३६।१।

४५. सु – (तत्०) : सुकरित २४३।७ < सुकृत, सुजस ४८।४।

उपर्युक्त उदाहरणों की सूची में एक बात लक्षित करने की है कि इसमें अनेक शब्द ऐसे हैं जो संस्कृत के सोपसर्ग शब्दों से एक इकाई के रूप में विकसित हुए हैं, जैसे उपगारी, दुरगंध, अणरागी, अगणित, औगुण आदि। ऐसे शब्दों को क़ायदे से नभाश्रा के सोपसर्ग शब्द नहीं माना जा सकता। इनमें सम्बन्ध तत्त्व (उपसर्ग) का अस्तित्व केवल इतिहास की सापेक्षता में है। इन्हें छोड़ देने पर थोड़े से ही ऐसे शब्द बचते हैं जो नभाश्रा की अपनी सोपसर्ग निर्मिति हैं।

विदेशी उपसर्ग भी कहीं-कहीं भारतीय मूल के शब्दों में पाये जाते हैं।

रचनात्मक प्रत्यय

२.२

(क) तद्धित : कग्रं की शब्दरचना तत्सम, तद्भव और विदेशी तीनों प्रकार के प्रत्ययों के योग से हुई है।

१. **—क्षून्य** : इसके योग से सर्वनाम शब्दों से भावाचक संज्ञा पदों का निर्माण होता है : मेरी १२।६१।१, मैं मैं १२।६१।१, **मोर** १७।२२।१, तोर १७।२२।१। वाक्य में इन शब्दों का अर्थ अपनत्व या अहंकार है।

२.— **अ**(< —अ < —क) स्वार्थे : अंधा २०।१७।१, केला २५।४।१, चौका २५१।६। विशेषण: अपूठा १३।१।२, झूठा १६।२८।१, भूषा ३५।२।१। अल्पार्थक : अंगना २०७।३, चमरा ३८६।१।

इसका —य और— व रूपान्तर भी पाया जाता है—ढोल्या २४।७।२ (देशी० ढोल्ल), जुवा १३४।४ (< द्यूत—क)।

३.—अई : भाववाचक। चाटुर्ज्या के अनुसार यह सं० आप्+इका > आविआ > आविअ > आई के क्रम से व्युत्पन्न है। काकती के अनुसार क्रियाजात विशेष्य पदों में यह व्युत्पत्ति उचित है किन्तु भाववाचक संज्ञाओं में इसे वैदिक ताति > * ताइ > आइ > आई के क्रम में मानना होगा।[१] —अई—आई का दुर्बल उच्चारण है। कग्रं में इसके निम्न रूपान्तर मिलते हैं—

अई : संतई २६।२।१ (तुल० बँभनई, ठगई बनियई आदि)।

आई : अधिकाई ३२०।२, कठिनाई ७।२६।२, कुटिलाई १७३.२।

ताई : इकताई ५०।५—यह सीधे—ताति से सम्बद्ध है।

याई : बरियाई ३।३ < बल+ताति।

हाई : बजहाई १६३।५ <फ़ा० बज़्ज़ाज़+आई, हरिहाई १७।६।२ (तुल० अवधी हरहट=हार या खेत चरने वाली गाय)

४.—अणि,—अणी,—अनि,—अनी : गुणवाचक स्त्री०। इसका सम्बन्ध सं०—इन्—इण् से है जिसके स्त्री० रूप—इनी,—इणी हैं। कग्रं में इ > अ परिवर्तन की प्रवृत्त्यनुसार—अनि,—अनी रूप मिलते हैं :

अणि : बिरहणि ३।३४।२।

अणी : पापणी १६।२।१, जोगणी ७०।४।

अनि : सांपनि ८३।५, सुहागनि ३७०।१।

अनी : बिरहनी ३।१।१, तुरकनी ४१।६।

इनी : बिरहिनी २८४।१ (केवल एकाध स्थलों पर)।

५.—आ : तत्०, स्त्री० प्रत्यय। इसके संयोग से स्त्री० संज्ञाएँ तथा स्त्री० विशेषण निर्मित होते हैं: काया १२।३१।२ पतिव्रता ११।१७।२।

६.—आत : सं०—ताति > —*तात > —आत। भाववाचक संज्ञा —कुसलात १३।७।२।

७.—आर,—आरा : सं० कार—क > आर—अ, > आर—आरा। कर्तृवाचक संज्ञा—पुजारा १६।८ <पूजा—कारक, लुहार १।२८।१,

१. तिवारी : हिं० भा उ० वि०, § २०१, पृ० ४०३ पर उद्धृत।

सुषारे (बहु०।रूप) १७५।६, सुनारा १७।३।

इसीसे संबद्ध—आरी< सं० कारिक है—जुवांरी ६८।५, भिषारी ३२५।७। अन्य रूपान्तर—

घरियार ३७४।२ > घटी—कार, अन्याले (ब० व०) ११८।१ < अणी—कार, गुणियाले (विकारी०) ११।१।१ > गुण—कार, पैकाकार १७।४।१ <पदक—कार।

८.—आल : सं०--पाल <—वाल <—आल.। कर्तृवाचक संज्ञा और विशेषण। उदा० तथा रूपान्तर—

आल : कलाल ६।२।२ > कल्य—पाल।

पाल : षेत्रपाल ३४०।१४ < क्षेत्रपाल।

वार : कुटवारी (स्त्री०) ८०।१ < कोट्ट—पाल।

वारा : मतिवारा ७२।१।

वाल : कुटवाल ३४०।१४ < कोट्ट—पाल।

वाला : मतवाला १०।४।

९.—आऊ : यह मूलत: कृदन्त प्रत्यय है—सं० आप्+उक < आवुअ > आऊ। इसका प्रयोग क्रियामूलक विशेषणों में मिलता है—चलाऊ, घराऊ आदि। किन्तु संज्ञा शब्दों में इसका गुणवाचकता के अर्थ में प्रयोग पाया जाता है— पंडिताऊ आदि। कग्रं में इसका सीमित प्रयोग है--बटाऊ १७६।८=पथिक, बटाऊवा २८०।१० (—वा स्वार्थे युक्त रूप)।

१०.—इ,—ई : सं०—इका>—इआ, —इया, >—ई,--इ। स्त्री० प्रत्यय। प्रयोग और रूपान्तर—

इ : अकलि ८।२ < अर० अक़्ल, उन्मनि ७२।२, औरति २५७।२, तांति १९५।४।

इया : लघुताबोधक—कठिया ३१५।२<काठ—इया, निंबिया १७७।४, बहियां ३६०।४, बहुरिया २२८।१।

ई : उंदरी १२।६, गांगी २४।४।२ < गंगा+ई, राही ७६।१० < राधा+ई।

ई : स्त्री० विशेषण—गंठी २७।८।१, महोबती ४३।१०।१।

ई : भाववाचक स्त्री०—मतिवारी ७।१।४, हांसी ३।३०।१।

अका : इ > अ परिवर्तन के अनुसार—पपीलका १४।७।२।

सं—इका के अतिरिक्त फारसी—ई से भी निष्पन्न रूप भाववाचक संज्ञा बनाते हैं। विदेशी शब्दों में फ़ारसी मूल के प्रत्यय को स्वीकार करना होगा—गरीबी १२।५२।१, पातिसाही ४००।३।

११.— इन : तत्०—अमलिन ३५८।१२।

१२.—इया : पुं०—सं०—इक—क >—इअ—अ >—इया। कई अर्थों में प्रयुक्त—

इया : कर्तृवाचक—करमिया ५५।५।१, पर्षनिया ९२।८, बरतिया ३१७ ५, मंदलिया १२।३ लगनिया १०८।७।

इया : लघुताबोधक—बावलिया ३४५।६, रमइया ११।४।२।

इया : देशवाची जैसे वनोजिया। यह स्थानवाचक अव्यय में एक जगह मिलता है—तहिया ३५।५।

ई : जाति तथा कर्मवाचक—अहेड़ी ४।८।१, जंत्री १९५।१, जगाती ३८३।५ < फ़ा जक़ात—, तांबोली २९।९।२, तेली ३८९।४।

ई : विशेषण—हजारी २८।१३।१, तुरकी अष्ट० ५७।

इक : तत्०—निरमोलिक ५०।८।१।

१३. —ई : सं०—इन्,—ई। सं०—इन् का प्रथमा एकवचन रूप—ई बनता है कर्मिन्—कर्मी। कग्रं में इसका विस्तार से प्रयोग है—अग्यानी २३२।२, अणरागी २२९।१० < अनुरागी, अपंडी ९।२।१।

१४.—ई : सं०—ईय >—ईअ >—ई। विशेषण—

नारदी २७८।६, मानवी २५।१।३।

१५—उआं : स्वार्थे। प्रायः स्थानबोधक अव्ययों में पाया जाता है। यह प्रवृत्ति पूर्वी हिन्दी की है—तहुआं १५२।३। इसका—उवाँ रूपान्तर भी है—तहुवां १२१।१५।

१६.—उर : सं०—पुट >—*वुड >—उड >—उर। पंषुरिया १०४।५ < पक्ष+पुट+इका।

१७.—ऊ : सं०—अम् >—अवँ >—अउँ >—ऊँ >—ऊ। सं० के नपुं० प्रथमा एकवचन—अम् (फलम्) से विकसित यह रूप नभाआ में गुजराती को छोडकर अन्यत्र नहीं मिलता जहाँ अप्राणि-वाचक विशेष्य पदों के विशेषणों में इसे जोड़ा जाता है। कथं के कतिपय शब्दों में यह पाया जाता है—

कचू २११।१ > कच्च, षाड्ड ३।३२।१ < खण्ड, षाड्ड ३८३।६ < देशी खड्डुआ = मोती, लोहू चौ० २ < लोह—

१८.—ऊ : स०—उक >—उअ >—ऊ। प्रयोग—

कर्तृवाचक—गारडू ८३।४।

विशेषण— हींगलू २४।७।२ < हिंगुल—

अल्पार्थक—पंघू १४।४, भौंदू ५६।५, लाडू १६८।७।

१९.—एटी : सन्ततिवाचक। इसका प्रयोग जातिवाचक संज्ञाओं के साथ किया जाता है—ब्रम्हनेटा, पठनेटा। स० पुत्र > *वुत्त > *वत > वत के क्रम से राजस्थानी के चूड़ावत, बिजावत, शकतावत आदि शब्दों में सन्ततिवाचकता का अर्थ देने वाला प्रत्यय मिलता है। सम्भवतः—एटा,—एटी का संबंध देशी 'बिट्ट' से है जो पुत्रवाची है। बिट्ट > बेट >—एट + आ के क्रम से इसका बिकास हुआ है —बम्हनेटी २३१।४।

२०.— एरा : सं०—कर >—अर >—यर >—एर।

कर्तृवाचक— चितेरा २३८ १०।

स्वार्थे – उंचेरा ३६१।३, घणेरा २३८।७।

—एर में स्वार्थे—ऊ जोड़कर लघुताबोधक —पंषेरू १६।३०।२ < पक्ष + एर + ऊ।

२१.—एला : सं०—इल >—इल्ल >—एल + आ। विशेषण—मंत्रेला बारह० ७३,—एली : स्त्री० —सहेली २२६।४।

२२.—ओड़ा : स्थितिबोधक। सं० वृत्त—क > वट्ट—अ > वड्ड अ >—उड—> ओड़—आ। पिछोड़े ३५।१६।२ (तु० पिछोड़े = पिछवाड़े)

२३.—**ओला** : लघुता० । —प्रा० उल्ल—अ >ओल्ल—अ> ओला । षटोला ६०।३ । —वा स्वार्थे युक्त रूप—ओलवा—षटोलवा ७७।३ ।

२४.—**ओटी** : सं० पट्टिका > वट्टिआ > —ओटी । पट्टिका के योग से मूलतः समस्त पद बनता है । कसौटी ४१।६।१ < कष+पट्टिका ।

२५.— ओरा : सं० पुटक > वुडअ >—औरा । गिलोरा १२।४, सिंघोरा १२६।२ < सिंदूर+पुटक ।

२६.—**क** : तत्०, स्वार्थे । यह संस्कृत का स्वार्थे तथा विशेषणीय प्रत्यय—क प्रतीत होता है जिसका मभाआ रूप—क्क मिलता है। कुछ का विचार है कि नभाआ, विशेषतः पश्चिमी हिन्दी, में यह सम्बन्ध परसर्ग का < कअ < कृत से व्युत्पन्न हुआ है, लेकिन इसके विकास की अधिक सम्भावना स० —क से ही है ।[1] कअ में—क के अतिरिक्त दुहरा स्वार्थे—का < सं०—क+क भी मिलता है जो नभाआ की अपनी विशेषता है । अन्य रूपान्तर —की स्त्री०,—गा सघोष,—या,—वा श्रुतिगत रूप हैं । प्रयोग—

क : कोटिक २६।२।१, बहुतक ६।३।१, दीपक १।१२।१, रंचक २।२०।१।

का : तिणका ४।७।२, भलका ४०।६।२ < भल्ल, मटका २४१।५।

की : मटकी ३५४।२ ।

गा : फुंनिगा ४५।२ ।

या : षत्रिया अष्ट० ४१, गंठिया ४००।१, जुगिया २२।१ ।

वा : यह पूर्वी प्रकृति का संकेत देता है—कउवा १२।३, करवै (विकारी) ३६०।२, षटोलवा ७७।३, नउवा ३८६।७, धरवा ३११।७ ।—वा कर्तृवाचक भी प्रयुक्त है—पहरवा २३।५, मघुवा १२७।३ ।

२७.—**की** : सं० कृत+इका । कालवाचक अव्यय शब्दों में इस प्रत्यय के योग से 'बार' अर्थ निकलता है—अब-की=इस बार, तब-की =उस बार । अबकी १२।१६।२, अबकै ५४ ६।१ । —कै—की का बलात्मक रूप है जिसमें अवधारणार्थक—हि > —इ का योग है ।

---

१. तिवारी : हिं० भा० उ० वि०, § २५२, पृ० १६६ ।

२८—गर : फ़ा० ग़र । कर्तृवाचक—बाजीगर २३८।६ ।

२९—गीरी : फ़ा० ग़ीरी । भाववाचक—दस्तगीरी २५७।२ ।

३०—टा : सं० र, ऋ + —त स्वार्थे > —ड + आ > —टा ।—ट प्रत्यय संस्कृत में मिलता अवश्य हैं पर इसका प्रयोग परवर्ती है । केवल 'मर्कट' शब्द बौद्धयुगीन संस्कृत से पहले का है । वैदिक भाषा में इसका अभाव है । इसका सम्बन्ध अनार्य भाषाओं से जोड़ा जाता है लेकिन द्रविण तथा कोल भाषाओं में इसका अभाव होने से इसके बीज संस्कृत में ही ढूँढ़ने होंगे ।—त संस्कृत में कर्मवाच्यकृदन्त प्रत्यय है जो तद्धित रूप में भी संज्ञा, विशेषण आदि में लगता है : एक—त, द्वि—त, त्रि—त । इस—त का मूर्धन्यीकरण होकर —ट हुआ है । मभाआ काल में इसका सघोष रूप—ड मिलता है । नभाआ में स्वरमध्यग-ड का उत्क्षिप्तीकरण होकर—ड़ हो गया है । प्रयोग और रूपान्तर निम्न हैं—

टा : —ट + स्वार्थे—क युक्त रूप—कूवटा २२२।२ ।

टी : स्त्री०—दीवटी ३६२।१४ ।

ट्ट : अल्पार्थक—उक के योग से नकट्ट—२२२।३ < नाक ।

डा : सघोष—बलींडा १६।३ ।

ड़ा : अंदेसड़ा ३९।१, चूहड़ा १०५।६, जीवड़ा २२।१०।२, बपुड़ा ४।७।२ ।

ड़ौ : विसर्गान्त रूप से—हंसड़ौ ४८।२।१ < हंस— ।

ड़ी : स्त्री० अंषड़िया ३।२५।१ < अंष + ड़ी + या, घूनहड़ी ५८।४।२ < ध्वनि, नींदड़ी १२।५३।२, बेलड़ी २३।६।१ ।

३१.—णा तथा—ना : सं०—अन (कृत्) । सं०—अन कृदन्त प्रत्यय है जिसका कहीं-कहीं संज्ञा पदों में भी प्रयोग है जहाँ यह स्वार्थ या करणवाचकता का अर्थ देता है । अवधी में नाम शब्दों के साथ इसका स्वार्थिक प्रयोग विस्तार से मिलता है—बचान (बच्चा), बिटान (बेटा), मूलन (जो मूल नक्षत्र में पैदा हो), पुतान

---

१. तिवारी : हिं० भा० उ० वि, § २४२, पृ० ४१६ तथा तेस्सितोरी. § १४६, पृ० १६४ ।

(पूत)। कग्रं का—णा मूर्धन्यीकृत रूप है जो राज० की विशेषता है। प्रयोग—

णा : बिसाहुणा १।१२।२ <व्यवसाय।

ना : मुलना ६०।४ <मुल्ला, हिंडोलना ५२।५।१।

नी : स्त्री०—पंगुरनी दु० २७ <पंगु।

आना : दीर्घरूप—अकुलांनां बारह० ३६ < अकुल, मुलाँना ६३।३ <मुल्ला।

३२.—ठा,—था,—वाँ,—सर,—सरा : संख्या शब्दों में इनका योग क्रम का अर्थ देता है। ये संस्कृत के सप्रत्तय रूपों में आए हैं—

ठा : छटा २।७।१ <षष्ठ—क।

था : चौथे (विकारी) ३६५।६ <चतुर्थ—क।

वाँ : दसवां २३।१०।२ <दशम्—क।

सर : दूसर ५४।२ <द्वि—सर

सरा : दूसरा ३३२।१ <—सर+क।

३३.—णा : सं० गुणक > गुना के योग से आवृत्तिवाचक विशेषण बनते हैं। 'गुना' युक्त संधिज रूप केवल दो के साथ मिलता है—दूनां। अन्य संख्या शब्दों में यह विश्लिष्ट रूप में रहता है—दूणां २२।१७।१, दूणीं ४२।३।२—स्त्री०।

३४.—ता : तत्०, भाववाचक स्त्री०। निहकांमता २६।१।१, सकामता ११।१०।१, समिता ३६।३१ <समता, सीतलता १६।२०।२।

३५.—दार : फ़ारसी, देने वाला—दिलदार सूही० १।

३६.—धारी : तत्०—गोबरधनधारी ३६५।१।

३७.—पा,—प्पणां,—पन,—पौ : इनका सम्बन्ध सं०—त्व से है—त्व >—प्प >—प। प्रयोग—

पा : <त्व+क—बुढ़ापा २४।२।३।

प्पणां : < त्वन+क—बड़प्पणां ५५।१०।१।

पन : < त्वन—बालापन २४३।२, दिवांनपना १०६।१ पुरिषपनौं ६६।१४।

पौ : विसर्गान्त रूप से—अपनपौ अष्ट० ४८ ।

३८.—बाज : फारसी बाज—दगाबाज ६५।५।

३९.—बान : फ़ारसी बान—दरबानीं ३५६।२ (—ई के सादृश्य पर)।

४०.—र,—रा,—री : स्वार्थे। इसका सम्बन्ध सं०—ल स्वार्थे से है।

प्रयोग—

र : षंषर १२।८।२ <कंक—, घेहर ८१।८ <गेह, ठौर ५।३७।१ <स्थाम।

रा : - क स्वार्थे युक्त रूप—जियरा ३।३४।२, बछरा ८०।२।

री : स्त्री०—पीयरी ३१।६।१, बंसरिया १७७।२, बिजुरी ४।१४।

२१. —ल,—ला,—लौ,—ली : सं०—ल से। प्रयोग—

ल : घाइल ४३।१०।२∠घात— सुहागल चौ० २०।

ला : क स्वार्थे युक्त—अंघला १।१५।१, पतला ३६।४।२, बीठुला ४।१।

—ला आवृत्तिवाचक भी है—पहली (स्त्री) २९९।५।

लौ : कः से—अकेलौ ३१५।४।

ली : स्त्री०—मछली ५।४६।२।

४२.—वड़,—वर : सं० वट > वड > वर। आवृत्तिवाचक—दोवर, ३५६।१, तेवड़ ३५९।१।

४३.—वान,—वंत : तत्०—सं० वत् (वतुप्) के क्रमशः प्रथमा एक वचन और बहुवचन रूप—

वान : भगवान ३०१ ८, अगिवांनी २५४।२ (—ई के सादृश्य पर)।

वंत : त्रिषावंत ३७।७।२, भगवंत १६७।६।

बान : ओषदबांन ३८६।५—ब सम्भवतः लिपि की भूल है।

४४—सा : सं०—श+—क : सरूपतावाची। हार्नली ने हसकी व्युत्पत्ति सं० 'सदृश' से बताई है लेकिन चाटुर्ज्या इसे—श (लोम—श) से मानते हैं—पईसा १७ ७।२∠पद+श+क।

४५.—हर,—हार : सं०-धर—बिसहर २२१।३∠बिषघर, कनिहार १८।११∠कर्णधार, जलहरि (सप्तमी) ३।३९।१∠जलघर।

४६.—हर : फ़ा०—वर का प्राणता युक्त रूप—दिलहर २५७।१∠ दिलवर।

४७.—हा : अवधी में धातुओं में इससे योग से विशेषण बनता हैं—फटहा (√ फट), कटहा (√कट) । किन्तु संज्ञापदों में यह स्वार्थ में प्रतीत होता है जो विशेषण का भी अर्थ देता है—गेरुहा=गेरू के रंग वाला । यह सम्भवत:—क+क>—आ का प्राणता युक्त रूप है—सुनहां २०।२∠श्वान, बुरहा ३।२।१।१∠बुरा, करहीं १९५।४∠कर—स्त्री० (सारंगी बजाने का गज़) ।

बलाही २२२।६∠फ़ा० बला में यह कर्तवाचक है जो सं० इक>—ई>—ही के रूप में है=बला उत्पन्न करने वाला ।

४८.—हारा,—हारी : सं० हारक से—पणिहारा ३४०।१०. छछिहारी ८०।३ स्त्री०∠छाछ ।

४९.—हि,—हीं,—हुं,—हूं : अवधारणार्थ, केवलार्थ । इनका सम्बन्ध सं० के—हि, हु अवधारणार्थक प्रत्ययों से है । प्रयोग—

हि : आनहिआन ५३।१∠अन्य, रामहिराम १७।१८।२ ।

ही : तहीं ४।१२∠तहां+ही—संधिज रूप ।

ए : पंचे ३२५।२∠पंच+ही—संधिज ।

ऐ : अविकै १७४।६, अबै २५४।५, एकै ४४।२, औरै ३८।२।२।

हुं : तिहुं ३२।३।१∠ति+हुँ।

हूं : अजहूं ३।१७।२, छहूं ४०।१।३ ।

ऊं : तीन्यू ४।१।२, तीनूं ३०३।३, तेऊ १९२।६।

ओ : एको १७।२।२∠एक+हु ।

औं : अजौं ४६।२३।१, पांचौं १५७।८, कुरानौं १८।३।२।

२.३. **कृदन्त प्रत्यय**

कृदन्त प्रत्ययों के अन्तर्गत यहाँ केवल वे ही प्रत्यय लिए गए हैं जो धातु के साथ लगकर संज्ञा, विशेषण आदि बनाते हैं । समापिका और असमापिका क्रियागत प्रत्ययों पर क्रिया प्रकरण में विचार किया गया है ।

१.—शून्य : कुछ लोग इसे—अ प्रत्यय मानते हैं । किन्तु यह स्थिति

केवल व्यंजान्त धातुओं में स्वीकार की जा सकती है। अकारान्त धातु में इसे शून्य ही मानना होगा। प्रयोग—

विशेषणीय—अविचल २४७।३, असोस ५७।३।१, अजंच ५०।१२।१।
भाववाचक—असूझ दु० ३९, चाल १८।२।१, काट ३९।२।१, बाढ़ ३९।२।१, दाध ५१।३।१. मार २२।९।२।

२.—अइया : सं०—अयिता (अयितृ)—पठियता। कर्तृवाचक—षेवइया १८९।६।

३.—अति,—अती : स्त्री० भाववाचक। हार्नली इसे कल्पित प्रभाआ *आप्तिका से मानते हैं [1] किन्तु चाटुर्ज्या के अनुसार यह शतृ—अन्त+भाववाचक—ई के योग से निष्पन्न है। उन्ही के अनुसार इसमें सं० ति का प्रभाव हैं। प्रयोग—

पांणाति २१४।८ < प्र + √आनय्ं=क्यारी में पानी देने की क्रिया।
गिणती १९९ ३ < √गिण् + अति।

४.—आ : सं०—आक > —आअ > —आ। वैदिक युष्माक, पावाक, भिक्षाक आदि में यह प्रत्यय मिलता है। प्रयोग—

छापा २४।१६।२ < √छाप—, तांनां १९।१० < √तान, फेरा ९२।४।
५.—आ : सं०—अत (क्त) < —अअ > —आ। विशेषणीय। 'क्त' से सबद्ध अनेक रूप हैं—

अत < —इत : परिपूरता ११९।२ > परिपूरित।

अन ∠ —र्ण : परिपूरन ३०६।४ < —पूर्ण।

आ : उलटा २१४।३, षड़ा ३८।८।१, ऊंडा ५७।३।१।

आना < - अय् + न्न + आ : उरझांनां ३८।४।

इत : तत्० —अषंडित २०३।६, पतित ८७।८।

इया ∠ — इआ < — इतः ; पढ़िया १५।१, जागिया २९।२०।१।

ई < —इआ < —इता : काटी १३।२४।१, दाधी ४।६।२, पोई ३३।८।१।

---

१. तिवारी: हिं० भा० उ० वि०. § १९४ पृ०३९८।

ई<—इअ<—इत : मोई २४।२६।१<मौहित।

ग<—ग्ग∠—ग्न : बिलग ५।६।१∠वि—लग्न।

टि<—ट : अदिष्ट १५।१।२<अदृष्ट।

ठ,—ठा<—ट : अदीठ १३।६।१<अदृष्ट,दीठा १३।६।१<—ट+क।

त∠—अत : अबिगत ६।७, अनभूत २६७।१।

ता∠—क्त—क : मुकता ३५।१७।१∠मुक्त, रीता ३४।६।२∠रिक्त।

ती∠—क्त+इका : हूती ४२।७।

ती∠—क्त+इका : राती २७०।४∠रक्तिका।

ध∠—द्ध : बंध १६।२६।२।

धी∠—इत : बंधी १२।५५।१∠√बंध+इत।

ना∠—न्न+आ : छांनां २६।१६।१

या∠—आ का श्रुतिगत रूप : कह्या ९०।६, जीत्या ३४८।६, बेध्या ४३।१०।२।

यो : त्रिसर्गान्त रूप से—गुह्यो ३७८।२, बांध्यो ४०।८।

वा : श्रुतिगत—छाबा ६०।७, मूवा १२।४६।१।

ला∠—ल्ल∠—ल : मुवले ३३।१।६, विकारी रूप।

६.—आई : सं० आपिका 7आविका>आई : लराई २३०।५∠√लर।

७—आण : सं०—आप्+—अन>—आवण>—आण—विशेष्य—मडाण १२।५।१, मिलांन ३१६।१ (ण्>न् परि०)

८.—आणा :—आनक>—आणअ। किराणां १२।५७।२ लदानां २३४।५ (ण्>न् परि०)।

९—आर∠—कार : करणवाचक संज्ञा—उहार ६०।७>√वह्, अन्य रूपान्तर—बसियार ब० अ० १०६<√बस+कार, भंगारि २४।७।२ स्त्री०।

१०—आवणा—आवना : सं०—आप्+अन+क—बंधावणा १६।२८।२, कर्तृ०— बिसरावन ७७।२<√बिसार, विशेषण—पिरावनी ३।१३।१ स्त्री०।

११.—आवा∠—आप+क : भाववाचक—भुलावा १२।२६।२, मिलावा २६।७।

१२—आस∠—आप्+वश : उजास ५।१४।१

१३—इ <—ति(क्तिन्) : स्त्री० भाव०—उपाजि २८४।२, घटि ५३।५।६, लूटि २।२५।६।—ति: थिति १।२६।१ < स्थिति (अ० तत्० शब्दोंमें)।

१४.—ता, —ति < —ता, तृ (तृच्) : कथता ४२।१, बकता ४२।१, सुरता ४२।१, दाता २८।४।२, दाति १।१।१∠दातृ ।

१५.—इया∠—इआ < —इका : कड़ियाली १६।४।२∠ कष्ट+इका +ली ।

१६.—इला∠—इल्ल∠—*इल्ल+क : गहिला ७१।७∠√ग्रह्+ इल्ल+क ।

१७.—ई∠—इन् : विशेषण—षोजी ५३।४।१, तपी १६२।७∠ √तप्+इन् । कर्तृवाचक—भौहारी १६१।८।

१८.—∠ई—इआ∠—इका : स्त्री० संज्ञा—चूंगी १५३।४∠ √चिण्—, जोड़ी ४८।१।२, तणीं १०५।६∠√तन्, छांनि ३०।१०।१∠छन्न ।

१९.—ईणा (दे० आणा) : चबीणां ४६।१।२ (तुल० चबेना) ।

२०—उका∠—उक—क : बिझुका ३९६।५∠विद्ध—

२१.—उला∠—उल—क : बाहुला ५७।३।१∠√वाह्य

२२:—ऊ∠—उक : पारषू ४६।३।२∠परि+√इक्ष् ।
स्त्री० संज्ञापद भी बनता है—जोरू २०।१४।१ ।

२३.—एणि∠—अत+इ : लिषेणि १६।२२।२ (तुल० चितवनि, रहनि, लिखनि,) ।

२४.—एरा∠—एरअ∠—अ+कर+क : उरझेरा २३८।१, बसेरा ७५।३ ।

२५.—एल < —इल्ल : गहेलड़ी ३।३६।२∠√ग्रह+एल+ड़ी, गहेली २३०।४ ।

२६.- श्रौरी∠√वृत्+इका : ठगौरी ८६।८

२७.—श्रौना,—श्रवना∠—श्राप्+श्रन्+क : कर्मवाचक—षिलौना ३४३ २, करणवाचक—चलवना २०।५,—वनौं रूपान्तर श्रोकारान्त धातुश्रों में—बिलोवनौं ३५४।१ ।

२८.—णां ∠—श्रल+क : संज्ञापद—बाणौं १०।१६ (विकारी०) ∠√व्य् ।

२६.—तब∠—तव्य : करतव ३१६।२ ।

३०.—ता∠—श्रत : विशेषण—जीवता २१२।७, भावता २६।३।२, समाता ३५।१०।१, चलती १०।३ स्त्री० (चलती बेर)।

भाववाचक स्त्री०- बिढ़ता २०।३।१ ∠वृद्ध—।

३१.—न,—ना,—नि,—नी तथा—ण,—णा, —णि,—णी : इन सभी रूपों की उत्पत्ति प्राभाश्रा० ल्युट्—श्रन से है । प्रयोग—

—न : भाव०—बैठन २४६।७, करण—वोढ़न ५०।७, कर्तृ०—पुरवन ३५८।३ ।

—ना : कर्म—सोवनां ३७३।१., भाव०—बंधना ८७।३

—नि : भाव० स्त्री—तपनि ५।३२।१, थापनि २८८।६।—इ लोप वाले रूप—बिगूचन २२।१।२∠वि+√कुंच्+श्रन ।

—नी : कर्तृ० स्त्री०—हरनी २६६।२, करण० स्त्री०—बिथरनी २८८।२ ∠वि+√स्तृ+श्रन+ई, भाव० स्त्री०—करनी ४६।३ ।

—ण : भाव०—बैठण २२।७, सुमिरण २।४।१, कर्तृ०—तारण २४५।६, निवारणां ३६२।५ (छंदो० दीर्घ)।

—णा : कर्म०—बोलणां २७।३।१

—णि : भाव० स्त्री०—मलणि १२।२६।१, घावड़ि २६६।१ (लिपि०)

—णी : भाव० स्त्री०—करणी ३८।१०।१, जागणी ३५०।४

३२.—री∠सं० र+इका : वाली श्रर्थ में । संस्कृत—र वाला श्रर्थ में नम्र, हिंस्र श्रादि शब्दों में मिलता है ।[1] हिन्दी में छप्पर, गट्ठर, टट्टर श्रादि में—र स्वार्थे न होकर इसी श्रर्थ में प्रयुक्त है—छपरी ३०।१।२∠√छप+री ।

1. Kale : Higher Sanskrit Grammar, P, 468.

३३.—वर (दे०—वारा) : कर्तृ० स्त्री०—अणव्यावर ५८।४।१=न व्याने वाली।

३४.—वा∠—क+क : कर्तृ०—विगवा ७१।५ < √चिग< √चिए्।

३५.—वादी : तत्०, कर्तृ०—बकवादी ३७५।४।

३६.—वारा < —पालक : कर्तृ०—रखवारे (विकारी.) ३६६।५, रूपान्तर=रखवाला ३७०।२

३७.—हार∠—धार : कर्तृ०—षेवनहार व० प्र० १२, गावणहारा १६२।१३. राखनहारो ३७७।२—विसर्गान्त रूप से।

२.४. समास

संस्कृत की जटिल समास प्रक्रिया प्राकृत में आकर सरल हो गई है।[१] प्राकृत के संस्कृत टीकाकरों ने सदैव इस बात का संकेत किया है कि संस्कृत की तरह प्राकृत में पूर्व निपात की पाबन्दी नहीं है।[२] समास प्रक्रिया भारोपीय भाषाओं की विशेषता है, लेकिन यहाँ लम्बे समास नहीं मिलते। ऋग्वेद में तीन पदों वाले समस्त पद अधिक नहीं हैं। यह प्रकृति ग्रीक और अवेस्ता में भी पाई जाती है।[३] स्पष्ट ही तीन से अधिक पदों के समास की प्रवृत्ति कथ्य प्रभाषा में नहीं रही होगी। लेकिन लौकिक संस्कृत की साहित्यिक शैली में कालिदास को छोड़कर वाण, माघ, भवभूति, मुरारि आदि की भाषा कृत्रिम समासान्त पदों से बोझिल है। कालिदास से पहले रुद्रदामन के शिलालेख में भी इस प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। साहित्यिक संस्कृत का प्रभाव साहित्यिक प्राकृत पर भी पड़ा। आंध्र राजाओं के शिलालेखों की प्राकृत, सेतुबंध, गउडवहो, कर्पूरमंजरी तथा परवर्ती संस्कृत नाटकों की प्राकृत में लम्बी समासान्त पदावली मिलती है। इसके विपरीत बौद्धों के चर्यापदों की भाषा अकृत्रिम तथा कथ्य रूप के अधिक निकट है। वैसे दक्षिणी तथा पश्चिमी अपभ्रंश काव्यों की भाषा संस्कृत-प्राकृत समास शैली से प्रभावित है। स्वयंभू और पुष्पदन्त के यहां लम्बे समासों का भाण्डार है।

अपभ्रंश कालीन कथ्य भाषा अवश्य इससे मुक्त रही होगी। काव्य भाषा

१. पिशेल, § ६०३

२. प्रा० पै०, § ११७, पृ० २६७

३. व्यास : संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन, पृ० १५०।

के लिए समास उपयोगी हैं। अपभ्रंश गद्य भी जहाँ संस्कृत से प्रभावित है, समास से बोझिल है। कीर्त्तिलता, वर्णरत्नाकर आदि में भी समास के प्रचुर प्रयोग हैं। किन्तु तत्कालीन कथ्य भाषा जिसका स्वरूप दामोदर पंडित के उक्ति व्यक्ति प्रकरण और तेस्सितोरी के प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी गद्य में मिलता है, इस प्रवृत्ति से मुक्त है। १४वीं शती के प्रथम चरण के लगभग संग्रहीत प्राकृत पैंगलम् की भाषा में थोड़े से ही समस्त पद हैं।

आगे मध्यकालीन हिन्दी में समस्त पदों को लेकर दो शैलियां मिलती है। एक ओर कबीर, जायसी आदि की रचनाएं हैं जो तत्कालीन कथ्य अवधी या अनेक भाषाओं का मिला-जुला रुप उपस्थित करती हैं और जिनमें समास नाम मात्र को ही हैं। दूसरी ओर सूर, तुलसी आदि का वैष्णव भक्ति काव्य है जिसमें भारी मात्रा में नवागत संस्कृत शब्दावली के साथ सा ासिक ढांचा भी चला आया है। यह अवश्य है कि जहां ब्रज, अवधी आदि के पदरचनात्मक ढाँचे में संस्कृत की समास-प्रक्रिया फ़िट नहीं हो सकी है, ये शिथिल हो गए हैं तथा ऊपर से आरोपित लगते हैं। आगे नन्ददास और केशव जैसे कवियों में यह भाषागत कृत्रिमता अत्यधिक मिलती है। यह शिथिल समास प्रक्रिया मध्यकालीन हिन्दी की प्रमुख विशेषताओं में से है।

उत्तरकालीन अपभ्रंश में शुद्ध प्रातिपदिक रूपों का प्रयोग बहुत चल पड़ा। कर्त्ता, कर्म, करण, अधिकरण के साथ ही संबंध कारक में भी शुद्ध प्रातिपादक रूप मिलते हैं।[1] आगे नभाआ की यह प्रमुख प्रवृत्ति बन गई। इन निर्विभक्तिक प्रयोगों से समास रचना ढीली पड़ गई। संस्कृत के तत्पुरुष और द्वन्द समासों का वाक्य के अन्तर्गत प्रसंगानुसार कारकीय विभक्तियों के अध्याहार से स्वतंत्र अन्वय आसानी से किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में बहुत थोड़े प्रयोग शुद्ध समासों की कोटि में आते हैं।

कग्रं की भाषा समासों को लेकर कथ्य रूप के अधिक निकट है। वैसे यहां तत्सम और अर्धतत्सम शब्दों में संस्कृत समास के दर्शन होते है, किन्तु वे मूल समस्त पदों के अपरिवर्तित या किंचित् परिवर्तित रूप हैं। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से इन्हें एक ही पदग्रामिक इकाई माना जाना चाहिए। ये नई निर्मिति नहीं हैं।

---

१ भयाणी : संदेशरासक, भूमिका §७५.

कम्र के समास पूर्व और उत्तर पद के विचार से निम्नलिखित ढंग के मिलते हैं —

तद्०+तद्०, अध०+तद्०, तत्०+तद्०, तद्०+तत्०, तत्०+तत्०।

विदेशी शब्दों के योग से बने समास नहीं मिलते। नीचे ये विभिन्न प्रयोग दि, जा रहे हैं—

१ संस्कृत के समस्त पदों से विकसित—

तत्पुरुष :

कर्म—अमृतदाता ८३।२, अमृतभोगी २०४।१, दुषहरन ११०।४, दुषभंजना ११६।४, दुरतनिकंदना ११६।४।

करण—सुयप्रकास १५१।६, भैभीत २६६।७।

अपा०—ग्यांनहीन ब० अ० ५६

संबंध—अंतरधुनि १७२।५, आतमद्रिष्टि १८१।४, कवलाकंत ३२८।३, गोकलनाइक ५।२, गंगतट १७१।४, गढ़पति २६२।३।

अधि०—अंतरजांमी १३८।२, आतमलीन २०३।६, आतमाअनंदी २०४।१।

द्वन्द्व : मातापितासुत ३७४।४, भाईबध ३१४।६, बादबिबादं २४६।१।

कर्मधारय : अमरबेलि २०५।४, सतगुरु १।६।१, अजरावर १८०।३, सुंनिमंडल ७२।७।

द्विगु : अष्टदल ४।५, अष्टकुली ३३५।२, चतुरंग ग्रष्ट० ५०।

बहु० : जोतिसरूपी ६२।४, अमृतगुण २।३१।१।

अव्ययीभाव : जुगिजुगि २२।४, अहनिसि २।२८।२।

२. तीन पदों वाले समास—

अमृतरसनीझर ३४२।२, आतमसाधनसार ५।१६, रामरतनधन २३।८, हरितपरत ३४२।२, हरिसुमिरनतट ३४१।३, अभैपददाता ३४६।७, मातपितासुत ३७४।४।

३. संस्कृत के समस्त पदों से इकाई रूप में विकसित—

नैहर ६०।८, पीहर २३१।६, मजकण २०।२०।१, मड़हट ४५।३५।२,

बिजौरा २१४।२∠बीजपूरक।

४. नई सामासिक रचना—

भठछार २५।१।१, षैंचातानी ६१।५, आवागवन ३३२।२, मगरमच्छ ७७।६, सजीवनिमूरी दु० ५२, हथलेवा २४।२४।२, प्रेमआट ४५।३२।२, प्रेमपियारा ३।२७।२, भलेबुरे २०।१४।१।

५. शब्द भेद से रचना—

तद्०+तद्० : आसापास ४७।३, जमराई ३५१।२, सोवनकलस २५।७।१

अ०+तद्० : ग्यानतत २८८।५, भगतबछल १६१।८

अ०+तत्० : रिदापंकज ३२८।१०, रिदामंदिर ३९२।३

अ०+अर्घ० : जोतिमरूपी ६२।४, ग्यानद्रिष्टि दु० ६६

तत्०+तद्० : गोपालराइ २४३।९, नरनाहा ६५।३, परमपुरिष ४०३।८।

तद्०+तत्० : अभैपद ३४०।१७, अमीरस १५५।७, सिवनगरी १९६।७

तत्०+तत्० : अंकमाल ३०।९।२, अंतकाल १०५।७, अमरपद अष्ट० ५६, आदिनिधि सूहो० १९, हरिजन १।१।२, हरिपद १८७।७, हरिरस १८९।२।

कुछ प्रयोग ऐसे हैं जिनके दोनों पद तत्सम हैं। ये संस्कृत के समासों से इकाई रूप में विकसित होकर अर्घतत्सम कोटि के शब्द बन गए हैं—

जगजीवन ८५।८∠जगज्जीवन, जगदेव १७८।१∠जगद्देव,
जगनाथ ३४१।४∠जगन्नाथ, जगपति २६४।१∠जगत्पति,
मंगलचार १।१∠मंगलाचार, लोकचार ३५५।१∠लोकाचार।

२. ५. प्रातिपदिक

प्राभाआ के हलन्त प्रातिपदिक मभाआ में अजन्त हो गए हैं। आगे पुरानी हिन्दी और अन्य नभाआ भाषाओं में यही स्थिति बनी रही है। हिन्दी की पश्चिमी विभाषाओं में पदान्त अ के उच्चारण की प्रवृत्ति १७वीं शती तक मिलती है जब कि बंगला में पदान्त और विशेष परिस्थितियों में पदमध्यग

स्वरों का लोप १५वीं शती में ही होने लगा था। इसके विपरीत उड़िया में आज भी अन्त्य—अ सुरक्षित हैं। हिन्दी में अन्त्य—अ,—इ,—उ के लोप से व्यंजनांत प्रातिपदिक अस्तित्व में आए। यहां यह महत्त्वपूर्ण है कि मध्ययुगीन हिन्दी के कथ्य रूप का हमारे पास कोई प्रमाण न होने से यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि अंत्य स्वरों का अस्तित्व कब समाप्त हुआ। क्योंकि यह समस्या वहाँ अधिक जटिल हो जाती है जहाँ पदान्त—इ,—उ का लोप या अंत्य —आ का ह्रस्वीकरण पाया जाता है। अतएव, वर्तनी के आधार पर और छंद के मात्रा भार के विचार से कंग्र में अजंत प्रातिपदिकों की स्थिति स्वीकार की जा सकती है।[1]

अकारांत के अतिरिक्त अन्य स्वरों से अंत होने वाले प्रातिपदिकों का इतिहास स्पष्ट है। प्राभाआ के आकारांत, ईकारांत, ऊकारांत प्रातिपदिक अपभ्रंश काल में ह्रस्व अंत वाले हो गए जो नभाआ में भी इसी रूप में मिलते हैं। साथ ही नभाआ० में आकारांत, ईकारांत, ऊकारांत प्रातिपदिक भी मिलते हैं जो स्वार्थिक—क वाले रूपों से उद्भूत मान जाते हैं।[2] ए, ओ, ऐ, औ अंत वाले प्रातिपदिक नभाआ की स्वर संधि प्रक्रिया के परिणाम हैं। इन के प्रयोग निम्नलिखित हैं :

(क) पुल्लिग प्रातिपदिक

—अ : अंकुस १४९।२, अंगार ४६।२१।१, अषिर १३।२४।२, आंगुल ४।७, काग १२।४।२, गिर ५५।४।१∠गिरि, गुर १।१३।१∠गुरु।

—आ : अंधा २०।१७।१, अंधियारा ५।३५।२, आटा १२।४८।२, कूता ११।४१।१, षूंटा १०।५।

—इ : अरोगि १८३।३∠आरोग्य, असति ३६३।५∠असत्य, केहरि १४५।६, जग्गि २६५।२∠यज्ञ।

—ई : अग्यानी २३२।२, अहेड़ी ४।८।१, तेली ३८९।४।

—उ : गाउं ३०।१।२, ठाउं २।२०।२, पसु ३५।९।२, महु ३२।३।२

१. वे० पीछे अन्त्य स्वरों का प्रकरण—१.१६

२. भयाणी : संदेशरासक, § २८ तथा § ४१ (डी.)

—ऊ : अवधू १६३।१, आंसू ३।२६।१, कंदू ४।५।१, कछू १२।६∠कच्छप, साधू ३।१६।२।

—ए : पांडे ३६।१।

—ऐ : अनभै २११।१, अपरचै २६।१।१, उदै १५७।५, गै ३०।४।१।

—ओ : बैष्नों ३२।२।१, संसारो ३६८।५, सांठो ४०।६।२।

—औ : अचंभौ ३३५।१, अपनपौ अष्ट० ४८, केसौ २।१६।१, नेहरौ १८।७∠नवग्रह— कः बंचौ ३।२।१∠वत्स—कः, माघौ ३०५।७, लाहौ २३४।२∠लाभ – कः सूरौ ८५।६।

(ख) स्त्रीलिंग प्रातिपदिक

—अ : अगिन दु० २३, असनान ५।११।१, आस ११।११।२, ईंट १२।१८।१, गंग १०।३।१, घिरण १६२।१०।

—आ : आग्या ३।१८।७, इंछ्या १५२।५, इला ३२।४।

—इ : अगिग ३।११।२, अवधि १७२।७, अवनि १७२।७, पंषि ५।२०।१।

—ई : अंगुरी २४।२।१, अंजुरी २६६।२१, कसतूरी २६१।३, गाइत्री २६४।३।

—उ : आउ २४२।४∠आयु, गउ ४१।३।२, सासु २३०।३।

—ऊ : जोरू २०।१४।१, वारू ३११।७, बहू २८८।३।

—ऐ : जसवै बारह० ५२, देवै बार० ५२, नै ३२१।३∠नदी, परलै १३८।५, भ्वै १२।१०।२∠भूमि, लै ८।५∠लग्न।

—औ : छ्यौ २५०।८∠क्षय, सौ १३।२∠सौगन्ध।

२.६ लिंग

प्रकृत्या तीन लिंग होते हैं। प्राभाआ में लिंग विधान व्याकरणिक था। व्याकरणिक लिंग विधान से तात्पर्य है कि वहाँ कुछ निश्चित प्रत्यय थे जो अलग-अलग लिंगों के बोधक थे। प्राकृत में भी लिंग व्यवस्था व्याकरणिक ही बनी रही। परन्तु अपभ्रंश काल से लिंग संबंधी अनियमितता मिलती है। इससे हेमचन्द्र ने इसे 'अतंत्र' बताया है।[1] अपभ्रंश में शब्द रूपों में एकता लाने

१. हेम०: ८।४।४४५

दृष्टि से संस्कृत-प्राकृत के नपुं० शब्द कुछ पुं० और कुछ स्त्री० बना लिए गए हैं। आगे नभाआ में यही व्यवस्था मिलती है। नपुं० पूर्णतया लुप्त हैं। केवल कोंकणी और गुजराती में नपुं० शब्द पाए जाते हैं।

कग्रं की भाषा में दो लिंग हैं। संस्कृत-प्राकृत के अग्नि, वायु, आत्मा जैसे पुं० शब्द स्त्री० बन गए हैं, मित्र, काष्ठ, फल, ज्ञान आदि नपुं० शब्द पुं० हो गए हैं।

पुं० से स्त्री० बनाने के लिए कग्रं की भाषा में ध्वन्यात्मक विकास क्रम से आए स्त्री० प्रत्ययों का प्रयोग है। कहीं-कहीं ये प्रत्यय तत्सम रूप में भी मिलते हैं।[1]

कग्रं में कुछ फुटकल स्थानों को छोड़ लिंग व्यवस्था का विधिवत् पालन हुआ है। गींद २६०।३—अपनी मारी गींद चलाऊं, पंषि ५।२०।१—पंषि उड़ाणी गगन कूं, पंषि तिसाई जाइ ६।७।२, ये दो प्रयोग स्त्री० में हैं जबकि मूलतः कन्दुक या गेन्दुक और पक्षी शब्द पुं० थे और आज भी पुं० रूप में ही चलते हैं। इसी तरह धूरौ ८५।२∠धूलि का पुं० प्रयोग है। इसमें धूलि के अन्त्य – इ का लोप और विसर्गान्त रूप से विकसित—ओकारांत प्रातिपदिक रूप द्रष्टव्य है। हो सकता है यह धूलि > धूर + हु अवधारणार्थक प्रत्यय के योग और संधि से बना हो—'राम कहे बिन धूरौ रे।' एक स्थान पर फारसी 'दिल' का स्त्री० प्रयोग मिलता है—दिल अपणी का साछ १।५।१।

२. ६. वचन

प्राभाआ में तीन वचन मिलते हैं किन्तु प्राकृतकाल में द्विवचन लुप्त हो गया। अशोक के शिलालेखों में द्विवचन का निर्देश करने के लिए बहुवचन रूप के साथ संख्यावाची शब्द जोड़ा गया है—'दुवे मउला' (द्वौ मयूरौ)। इस प्रकार नभाआ को दो ही वचन उत्तराधिकार में मिले।

खड़ी बोली हिन्दी में बहुवचन रूप मूल तथा विकारी के भेद से बदल जाते हैं। मूल या अविकारी कारक में आकारांत पुं० शब्दों में – आ का—ए हो

---

१. दे० २.२.

जाता है तथा ईकारांत स्त्री० शब्दों में—ग्राँ लगता है जो उच्चारण में—याँ हो जाता है तथा जिसके फलस्वरूप पूर्ववर्ती दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है । इसके अतिरिक्त अन्य पु० शब्द अविकारी रूप में ही बहुवचन में प्रयुक्त होते हैं । उनके वचन का बोध वाक्य में क्रिया रूप से होता है । कभी-कभी बहु० के लिए समूह या संख्यावाचक शब्दों का प्रगोग भी होता है—लोग, सब, गण, वृन्द, दो, तीन, चार आदि । स्त्री० शब्दों में ईकारांत के अतिरिक्त—एँ या ऐँ जोड़कर बहु० बनाया जाता है । ब० व० ज्ञापक इनप्रत्ययों के अलावा शुद्ध प्रातिपदिक रूपों का प्रयोग विस्तार से होता है । कग्रं की भाषा अविकारी बहुवचन रूप प्रकट करने के संबंध में खड़ी बोली की प्रकृति को ही अपनाती प्रतीत होती है । विकारी कारकों में अनेक रूप अनेक भाषाओं—बोलियों के अनुसार मिलते हैं ।

आकारान्त पुं० बहुवचन—

—ए : तारे (तारा) ४५।२६।२, बनजारे (—जारा) ३८३।२, लरके (—का) २०।३ ।

—ऐ : सुपिनै (सुपिना) १२।२२।१, रोहै (देशी० रोह=नीलगाय) ६।६.

—ऐ वाले रूप लिपिगत विशिष्टता है । वास्तव में ये—ए अन्त वाले ही हैं ।

ईकारांत स्त्री० बहुवचन—

—याँ : अंषियां (आंषी) ३०४।१, नदियां (नदी) ४।१०।१ ।

—एँ, ऐँ : कूंपलें (कूंपल) १६३।७, बसतै (बसत) २३।५ ।

यहां पुं० शब्दों में—आ अंत वाले अविकारी ब० व० भी एकाध मिलते हैं जो राजस्थानी की प्रवृत्ति है—तारा (प्राति० तारो) १४१।२—'अंबर दीसै केता तारा ।' राज० में ओकारांत पुं० शब्दों का अविकारी बहु० रूप—आ बनाता है ।

इनके अतिरिक्त शुद्ध प्राति० ब० व० रूपों के लिए २.१० और विकारी ब० ब० के लिए २.१२ पर देखिए ।

समूह तथा सख्यावाचक शब्दों के कुछ प्रयोग ये हैं :

सब काहू २।२।२, नारदादि ३८४।४, सुकादि ३८४।४, कोटि चंद्रमा ३४०।४, पंचतत ब० अ० ३, दसूंदुआर २।२६।२।

व्युत्पत्ति : उपरोक्त —ए की व्युत्पत्ति संदिग्ध बताई जाती है। हार्नली ने इसे विकारी बहुवचन का रूप माना है जबकि चाटुर्ज्या इसे प्राभाआ तृतीया बहु० —एभिः > —अहि, > —अइ > —ए के क्रम से निष्पन्न बताते हैं। स्त्री० —आँ तथा —एँ सं० नपुं बहु० —आ नि > —आइँ, —आँ > —एँ के क्रम से निष्पन्न बताए गए हैं।[1]

२. ८. **कारकरचना**

प्राभाआ के कर्त्ता, कर्म आदि आठ कारकों में से सम्प्रदान के संबंध में तथा सम्बोधन के कर्त्ता में अन्तर्भुक्त हो जाने से प्राकृत में केवल छह बच रहे। प्राभाआ की जटिल कारक रचना का इस सीमा तक सरलीकरण हुआ कि नभाआ काल में केवल दो ही भेद रह गए — अविकारी या मूल रूप तथा विकारी या तिर्यक् रूप। अविकारी रूप कर्त्ता, अप्राणि कर्म तथा संबोधन के लिए और विकारी रूप तृतीयान्त कर्त्ता, करण, सम्प्रदान, अपादान, संबन्ध और अधिकरण के लिए प्रयुक्त होते हैं। नभाआ काल में अविकारी तथा विकारी रूपों के साथ तत्तत् परसर्गों का भी प्रयोग मिलता है।

प्राभाआ में आठ कारकों की तीन वचनों के अनुसार २४ विभक्तियाँ प्रचलित थीं। साथ ही तीन लिंग और विभिन्न अन्त वाले प्रातिपदिकों के भेद से इनका रूप बदलता रहता था। जैसा कि कहा गया है मभाआ काल में ये विभक्तियाँ घिस-पिटकर पाँच-छह बच रहीं जो नभाआ काल में भी पाई जाती हैं। ये अविशिष्ट विभक्तियाँ ही शब्दों के विकारी रूप बनाने में सहायक हुईं हैं।

नभाआ में विभिन्न कारक संबंधों को द्योतित करने के लिए शून्य विभक्ति (zero inflexion) का प्रयोग भी मिलता है। इन्हें निर्विभक्तिक रूप कहा जाता है। शून्य विभक्ति के बीज प्राभाआ में ही विद्यमान हैं। हलन्त शब्दों के अनेक रूपों में यह कर्त्ता एक० का चिह्न है जिसे वैयाकरणों ने सुप् चिह्न

---

१. तिवारी : हि० भा० उ० वि०, § २६६, पृ० ४३६.

का लोप मानकर सिद्ध किया हैं। इसके अतिरिक्त नपुं० इकारांत, उकारांत शब्दों के प्रथमा, द्वितीया एकवचन में भी यह चिह्न विद्यमान हैं।[1] वैदिक भाषाओं मे इसका प्रयोग सप्तमी एकवचन में भी मिलता है।[2] प्राभाआ की यह शून्य विभक्ति जो केवल कतिपय प्रातिपदिकों और कारक सम्बन्धों तक सीमित थी, मभाआ में आकर अन्य कारक सम्बन्वों का भी द्योतन कराने लगी जिसका प्रमाण अपभ्रंश में पाये जाने वाले कर्त्ता, कर्म, करण, अधि० और सम्बन्ध के एक तथा बहुवचन प्रयोग हैं।[3] पुरानी[4] तथा मध्यकालीन हिन्दी के निर्विभक्तिक रूपों का सम्बन्ध इन्हीं विभक्तिज रूपों से है।

इस प्रकार नभाआ के प्रारम्भ काल से कारक रचना की तीन पद्धतियाँ मिलती हैं—निर्विभक्तिक या प्रातिपदिक रूपों का प्रयोग, परसर्गो का प्रयोग और अवशिष्ट विभक्तियों का प्रयोग। कग्रं की भाषा कारक-रचना की दृष्टि से इन तीनों प्रवृत्तियों का परिचय देती हैं।

२. ६. **अविकारी एक वचन**

अ.० पुं० कर्त्ता : भींजि गया सब अंग १।३३।२, कबीर अंतर प्रजल्या ३।१।२, अंधियारा मिटि गया ५।३५ २, चंदन की कुटकी भली नां बंबूर की अंबराउं ३०।१।१, अचंभा ऐसा भया ३२६।१, अमींरस निकसै १५५।७, अनभै ह्वै तौ अर्थ बिचारै २११।१, आदि न अंत (है) ५४ २।२, पसू करै हरिहाई १३६।३।

आ. स्त्री० कर्त्ता : आंब चढ़ी अबली ७६।३, अगनि जु लागी ४।५।१, आउ घटै २४२।४, आई ग्यांन की आंधी १६।१, आसा एक जु राम की (है) ११।११।१, ईंट भई १२।१८।१, गंग जमुन उर अंतरै (हैं) १०।३।१, त्रिसनां नैं (है) ३२१।३।

इ. पुं० कर्म (अप्राणिवाचक) : अंकुस लावै १४६।२, देष्या एक अंग ५।३८।१, आदि अंत सब सोधिया २।५।१, भेरा देष्या १।२५।२,

---

१ व्यास : संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन, पृ० १६०

२. वही, पृ० १६४

३. तगारे, § ८० (बी.)

४. प्रा० पं०, § ४०, पृ० ११२

सुपिनां फुर करि जानां ब० ग्र० ५८ ।

ई. स्त्री० कर्म : अगनि परजारी ७१।३, लाइ लै कंथा ३१।२, गांठि हिरदा की षोइ २४।९।१, भुंइ लीजै ३६१।६, बांधि भुजा ३६५।२ ।

उ. पुं० सम्बो०: अलह रांम जिऊं तेरे नांई २५९।१, अवधू ग्यांन लहरि धुनि मांडी रे १०।१, मत आवै हो कंता २१२।२, कलंक उतारौ केसवा ५६।४।४, पांडे कौन कुमति तोहि लागी ३९।१ ।

सम्बो० में—ए अन्त वाले रूपों को अविकारी माना गया है[1] जबकि इनमें— ए विकार स्पष्ट है—गोव्यंदेतुम्ह थैं डरपौं भारी ११२ १, तू पाक परमानंदे ३२३।१, निसि अंधियारी जागहु बंदे ३६७।४ ।

ऊ स्त्री० सम्बो० : हरि जननी मैं बालिक तोरा १११।१, राखि परोसनि लरिका मोरा ३७१।४, तुम्ह घरि जाहु हमारी बहनां २७०।१, सासू कहै काति बहू ऐसैं २२८।३ ।

२. १०. **अविकारी बहुवचन**

अ. पुं० कर्त्ता : अंकूर जामैं मरै १९९।१५, बुझि गए अंगार ४६।२१।१, कंद्रप कोटि जाकै लांवन करैं ३४०।१६, सतरि काबे इक दिल भीतर २५५।६, जेते तारे रैंणि के (हैं) ४५।२९।१, तेते बैरी मुझ (हैं) ४५। २९।१, मोती बिषरे आइ ४९।२।१, सुपिनै रैनिके ऊघड़ि आये १२। २२।१ ।

आ. स्त्री० कर्त्ता : मेरी अंषियां ··भईं ३०४।१, कूपलें मेल्हीं १६३।७, नदियां जलि कोयला भईं ४।१०।१, बसतैं जागण लागीं २३।५, केती लहरि समंद की कत उपजै २८।११।१, सहेली मंगल गावैं २२६।४ ।

इ. पुं० कर्म : अंबर दीसै केता तारा १४१।२. पारब्रह्म बूठा मोतियां ५५ ३।१, लागि न सकौं पाइ ५।३६।२ चौंसठि दीवा जोइ करि १।१७।१, अपने औगुन कहूं न पारा दुप० १० ।

---

१. गुरु : हिन्दी व्याकरण § ३१०, पृ० २२६ तथा पांसे : ज्ञानेश्वरी की भाषा ।

ई. स्त्री० कर्म : साईं सेतीं चोरियां (करता है) २२।१०।१, चारि षूंटी दोइ चमरष लाइ २२८।२, डांडीं देहु लगाइ २२।३, तीनि डांडि किन सारै ४१।२

उ. पुं० सम्बो० : षेलौ संत विचारि १।३१।२, कहो संतों क्यूं पाइय २।२७।२, पीलक दौड़ी साइयां २९।१०।१, पीरां मुरीदां काजियां मुलां अरु दरबेस, कहां थे तुम्ह २५७।३,४, मीरां मुझसूं मिहर करि ५।१९।२, मीयां तुम्ह सौं बोल्यां बरिण नहीं आवै २२५।१।

२. ११. **विकारी एकवचन**

१. तृतीयांत कर्त्ता

—शून्य : सतगुर लई कमांण १।६।१, संसै षाया सकल जुग १।२२।१, ग्यांनी मूल गवाइया २०।२७।१।

—इ : जो गुरि दिया बताइ ४६।१२।२, लषमणि त्यागी गोरषि निवारी २३२।४, दादुरि षाये पच भवंगा १६०।३, घनकि पारवी मारयौ १६२।७।

—एँ : बनियें हाट पसारा १०३।४।

—ऐ : मूसै मजार षायौ १६०।६, अंधै अंधा ठेलिया १।१५।२, तहां कबीरै मठ रच्या १०।३।२, गुड़ गूंगै जांनां ६८।७, बिलाई मुरगै षाई ११।३, पवनैं पवन लिया संगि लाइ ४५।२, चतुराई सूवै पढ़ी १७।१४।२।

२. पुं० कर्म :

—शून्य : अंधै अंधा ठेलिया १।१५।२, ऊंट मारि १७७।५, गुर मिल्या १।१३।१, देव बहुरि न पूजों ६।१३, पिता......किस कहिये १७९।८।

—ए : अंधे कूप क दिया बताई १४३।३।

—ऐ : अंधै आगि न सूझई १२७।६।

—हि : रामहि थोड़ा जांणि करि १६।१८।१, बैलहि डारि गूंनि घरि आई ११।४।

—ओं : का पड़ी केदारों जाइ ३१७।४।

३. स्त्री कर्म :

— शून्य : कन्यां कंवारी जांणि २४।२४।१, कुकड़ी मारै बकरी मारै ६२।६, किनि फुरमाई गाइ २६।२१।२, बिलाई मुरगै षाई ११।३, नृप नारी नींदिये ३०।६।१।

विशेष (क) इसका स्पष्ट संकेत किया गया है कि अप्राणिवाचक कर्म अविकारी रहता है किन्तु अप्राणिवाचक कर्म के विकार युक्त प्रयोग कथ्य भाषाओं में बराबर मिलते हैं। कग्रं में भी ऐसे प्रयोग अधिकता से हैं। यहाँ एक० तथा बहु० के विभिन्न विभक्तियों वाले प्रयोग दिए जा रहे हैं—

—आँ : समंद आकासां धावा १२।८, षंषी चले दिसावरां ४७।७।२, कुरानां कतेबां अस पढ़ि पढ़ि २५७।५, बीस पषां इम राषियो ३१।१।३, पारब्रह्म बूठा मोतियां ५५।३।१।

—ए : चकवा बैसि अगारे निगलै १२।८, बहु विधि भांडे घड़ै कुंभारा ५४।२।

—ऐ : क्या हज काबै जाइ २२।११।१, हीरै हीरा कैसे बेधै २०२।१०।

—ऐं : ए दोइ बातैं धोइ १२।४१।१।

—ओं : केसों मूंड़े कांइ २४।१३।१।

—हि : अंनहि छांड़ि इक दूध पियत हैं ३८०।६, धरती उलटि अकासहि ग्रासै १६२।६।

—हिं : जो या अरथहिं बूझै १५७।१०, नरकहिं जाइ २०।२४।१।

(ख) विशिष्ट स्थिति में कर्म का प्रयोग कर्त्ताकारक में होता है— घोड़े को घास अच्छी लगती है। किन्तु रूप रचना की दृष्टि से इस प्रकार के प्रयोग यहाँ कर्मकारक के अंतर्गत ही रखे गए हैं—अंधै आगि न सूझई १२७।६।

४. पुं० करण :

—शून्य : रांम नांम सींच्या अमीं ३५।१६।२, करम किस लागे ४४.७,

काल गहे कर केस १२।१२।१, दाधा दुष कलेस संसारा दु० ८४ ।

—इ : घाइल घूमैं गहि भर्‌या ४५।१६।१, सतगुर के प्रसादि ३१।६।२, पाइ कुहाड़ा मारिया गाफिल अपणीं हाथि ४५।१२।२ ।

—ए : ऊंकारे जग ऊपजै बिकारे जग जाइ १२१।२. संजोगे मिलियांह १२।५६।२।

—ऐ : कूड़ै चित्त न लाव ४६।२७।१, जनम लिष्यी सब चोटैं १०८।४ मैं डोरैं डोरैं जाऊंगा ३१।१, फाटै दीदैं मैं फिरौं २६।१७ १,

—ऐं : गुर परसादैं २११।७, मृग नादैं बेध्यौ जाइ ३९३।२, प्रेम ताजनैं मारूं २५।३ ।

—ह : तुलह न वोली गजह न मापी १९३।४, मुषह न बोलै २९४।२

—हि : अंगहि अंग न छुवाऊं २३१।७, धरती उलटि अकासहि मिली ३२९।६ ।

परसर्ग युक्त प्रयोग—

—ए : बंदे थैं ३८।१२।२, पूरे सूं १।३५।२ ।

५. स्त्री० करण :

—शून्य : तुम्हारी आग्या मुसियत नगर तुम्हारा २९२।४, कड़छी अंन परोस्या २५११।५, किहि बिधि राषिये १६।३२।२, रसनां चाषौं २।२ ।

—ऐ : आवागवन मिटै धापै १८३।१०, कलस मुरै भर्‌या २५।७।२ ।

—ऐं : साधैं सिधि ऐसी पाइये ५।९, हथलेवा हौसैं लिया २४।२४:२

६. पुं० सम्प्रदान :

—शून्य : भ्रम जेवड़ी जग कीयौ सांप ३२६।५, पर निंद्या पर धन पर दारा पर अपपादैं सूरा १९१।४ ।

—इ : इन्द्री स्वारथि सब किया चौ० २१ ।

—ऐ : चाकरी चोर निवालै हाजिर ३२३।६ ।

—ऐं : पर अपवादैं सूरा १९१।३ ।

परसर्ग युक्त प्रयोग—

—इ : लालचि लागि ब० अ० ४९ ।

७. स्त्री० सम्प्रदान :

—शून्य : चाकरी चोर ३२३।६, कहा नर गबरसि थोरी बात ४००।१, बिरहन्य रजनी जुग प्रति भइया दु० २० ।

८. पुं० अपादान :

—शून्य : धुंनि निमसि ले कंसा १५४।५, गगन गरजि अंमृत चवै ५।४०।१, ज्यूं जल टुटैं मंछली २९।५।२।

—इ : चिंता चिति निवारिये १३।२।१।

—ह : मनह उतारी झूठ करि १६।६।२।

—हु : रांम नांम जिनि मनहु बिसार्‌या २४२।६।

९. स्त्री० अपादान :

—शून्य : संध्या गाइत्री अरु षट करमां तिनथैंदूरि...२६४।३, त्रिसनां अरु अभिमांन । रहित है १८४।८, जे वेलि बिछोहा होइ ५८।५।२, मुकति अतीत ६।६।२।

१०. पुं० संबंध :

—शून्य : अनभै कथा कवन सौं कहिये ८।७, कउवा ज्यूं १३३।८, कंकर कूईं ७६।५, कंवल कुवां १०।२।२, गगन गरिज ४।१३, बलिहारी गुर आपणौं १।२।१ ।

—ए : जैसी षंडे धारा १७०।६, लाहे कारनि २३४।८ ।

—ऐ : बिन षंडै संग्राम है २९।८।२, बिन धंधै १२।२१।१, बिन नीरै १५८।८, बिन पालड़ै ३८।८।२, लाहै कारनि ३१२।४, तब लेषै वार न पार २२।४।१ ।

—ऐं : स्यूं सरपैं बिष पाइ ५५।९।२, सुपिनैं तरंग म ३१।४।१, बिना चोलनैं १५९।७ ।

—ह : जलह बिन ५।६।२ ।

—हिं : जलहिं बिन १२०।४ ।

परसर्ग युक्त प्रयोग—

—ए : षांडे की ४५।२५।१, गूंगे का ६८।७ ।

—ऐं : सुपिनैं केर व०ग्र ० ५८ ।

११. स्त्री० सम्बन्ध :

—शून्य : घरी अबिद्या मैंड चौं० ५, अहरणि बिच १२।५१।२, बिन ही गांठि १७६।२, गंगा जमुनां संधि बिचारि ३२६।४, देवै कूष बारह० ५२, निस अंधियारी कारणैं १।१८।१।

—ऐं : बिन प्रतीतैं १३५।२ ।

१२. पुं० अधिकरण :

—शून्य : मधि अंग जे को रहै ३१।११।१, घर अंगना फिरि आवै २०७।३, रही कलेजा छाइ ३।१३।२, षटोलवा कसि कसि बांध्यौ ७७।३, सो भेद कहूं कहूं ठाउं २८।५ ।

—आं : अनल अकासां घर किया ३१।३।१, बिनसत एक छिनां ३९९।३, पड़्या भुलांवां १२।२६।२, घण मेहां कुमिलाइ १६।१५।१, राज दुवारां यौं फिरै १७।६।२ ।

—आंह : जिनि नर हरि जठरांह उदिकथैं पंड प्रगट कियौ ३५।१।१ ।

—इ : अंबरि दीसै केता तारा १४।१।२, चंदा बसै अकासि ४४।१।१, आंगणि वेलि अकासि फल ५८।४।१, पांहण टांकि न तोलिये २६।५।१, तोरणि आया बींद ४६।४।२ ।

—ए : आकासे मुषि औंधा कुवां पाताले पनिहारि ५।४५।१, भगद्वारे आवा चौ० ७, पुहपे बिष्णु १९८।६, ब्रह्मंडे सो प्यंडे जांनि ३२८।१४ ।

—ऐ : अंधियारै दीपक चहिये २६२।४, सिर कंगुरै ४८।२६।२, करवै रहै न पांनी ३६०।२, कूंवै पड़ै १३।७।२, जब लग दीवै बाति २।१०।१, द्वारै ठाढ़ा १२५।३ ।

—ऐं : आदैं गगनां अंतैं गगनां ४४।६ ।

—औं : हांसी षेलौं हरि मिलैं ३।३०।१ ।

—ह : चात्रिग चितह उदास ११९।२, बनह बसे का कीजिये ३००।२ त्रिवेणी मनाह न्हवाइये ४।११, (छंदो० दीर्घ) ।

—हि : करगहि बैठि कबीरा नाचै १९।९, गगनहि मारै १५४।४,

जल जलहि समांनां ६।१२ ।

—हिँ : जोतहि जोति मिलांऊंगा ३१।६, जाणौं हेत हियांहि ३।२६।२ ।

—हु : मनहु न कीजै झूठी आस १२१।११ ।

परसर्ग युक्त प्रयोग—

—इ : संपाट मांहि ३६।१।१ ।

—ए : कलेजे मांहि ४०।५।२ ।

—ऐँ : सुपिनैं मांहि ३।४।१ ।

—हि : सुंनिहि मांहि १५०।६ ।

२३. स्त्री० अधिकरण :

—शून्य : पूजा अरचा......जग बीरांना ३४।५, जग जलता देषिये अपणीं अपणीं आगि ४३।५।२, उतपति प्रलै न आवै १५७।७, कसौटी सो टिकै ४१।६।२, हांसी षेलौं हरि मिलै ३।३०।१, जास हियाली तू वसै २८।१०।१ ।

—आँ : बैठा माड़ियां ४६।१५।२, जीभड़ियां छाला पड्या ३।२२।२ ।

—इ : आये सरनि तुम्हारी २६६।७ ।

—ए : ज्यूं नाले रांषी रस मइया २०२।१६ ।

—ऐ : चौपड़ि मांडी चौहटै १।३१।१ ।

—ऐँ : रांम कै सरनैं १८७।८ ।

२. १२. **विकारी बहुवचन**

१. तृतीयांत कर्त्ता :

—आँ : मीरां मुझसौं यौं कह्या २६।२१।२, भगति बिगाड़ी कामियां २०।१८।१ ।

—ऐँ : चिड़ियें षाया षेत १२।१५।१ ।

—औँ : केसौं कहा बिगाड़िया २४।१२।१ ।

—औँ : केसौं कीया नांहि २४।१३।२ ।

—नि : मिर्गनि षेत सबनि का षाघा ३५३।१, लोगनि लादे बैल

१४।७।२, संवनि एक ग्रहेरा लाधा ३५३।१ ।

—ह : जिनह न पाया ग्यांन ५४।१।१ ।

२. पु० कर्म :

—शून्य : परसरांम ह्वै षत्री न संतावा बारह० ५६, मुनियर पीरडिगंबर मारे १८७।४, जंगम मारे १८७।४, लादे बल १४।७।२ ।

—ए : चतुर चिकारे चुणि चुणि मारे १८७।२, पंच जने सो संग करि लीन्हें ७४।७ ।

—ह : तिनह उछाह सोक नहीं व्यापै १८३।१० ।

परसर्ग युक्त प्रयोग—

—आँ : जीवां कौं १६।१८।२ ।

३. स्त्री० कर्म :

—शून्य : ठाढ़ा सिंह चरावै गाई ११।१, दस दुहिये गाइ ५३।३ ।

परसर्ग युक्त प्रयोग—

—अन : सषियन कौं २८४।७ ।

४. पुं० करण :

—शून्य : चेला के गुर लागै पाइ ११।२, पाती पंच पुहुप करि पूजा ४०३।३ ।

—आँ : जे वेधे गुर अष्षिरां १।२२।२, मुषां न बोलै पीर ५६।६।२ ।

—इ : जिंनि लोइनि मन मोहिया २८।३ ।

—ऊँ : नैनूं कबहूं न दीठ ८।१।२, गुर के सबदूं मार्यो डरै ३७०।६ ।

—ऐ : इनि झूठै जीव हत्या गियांना ब० ग्र० ९ ।

—नि : चरननि लागि करौं बरियाई ३।३, इन पंचनि मिलि लुटी हूं १४।२, डरौं जम दूतनि २६६।७ ।

परसर्गयुक्त रूप

—आँ : चोरां सेती २२।१०।१ ।

—न : दिनन थैं २।१ ।

—नि : भगतनि सूं ४०।१, लोगनि सूं १२४।१ ।

५. स्त्री० करण :

—शून्य : कर पकरैं अंगुरी गिनैं २४।२।१ .

—इ : चषि चाहन मांहि बिनांन २८।२ ।

—ऊँ : प्रेम न लाजूं मारि ३।३६।२ ।

—औं : लातौं छड़ी १६।१०:२ ।

परसर्गयुक्त रूप—

—आँ : इंद्र्यां सूं ४५:२।२ ।

६. पुं० सम्प्रदान :

—शून्य : यहु सुष दिन चारि ८७।१०, केसू फूले दिवस चारि १२।८।२ ।

—आं : काया मजसि कौन गुनां २७७।१, कपट भगति कीजै कौंन गुनां ३६३।१ ।

—नि : संतनि बिष बिलसै संसार ३७०।४ ।

७. पुं० अपादान :

—शून्य : नैंन नीर अस राल बहै २४३।६, जे लोइण लोहीं चुवै ३।२६।१ ।

—औं : पाप सरीरौं जांहि २८।६।२ ।

परसर्गयुक्त रूप—

—औं : लाषौं मांहि तैं ६७।६ ।

८. पुं० सम्बन्ध :

—शून्य : सब घट अंतरि ३०।४, घट घट भीतरि ३४०।१६, पांचौ पांडौ सरिषी जोड़ी २४७।२, ज्यूं पाऊं तलि घास ४१।१३।२

—आं : करां विन बाजै १६५।४, स्यूं तारां छिपि जाइ १७।१६।२, तिणां ज्यूं तोरी १०१।३, नैनां अंतरि ३।३३।१, बिन पाषां भंवर बिलंबिया १५८।७, बिन फूलां १६५।२ ।

—ऐ : रतन प्रवालै परम ज्योति ३७८।३ ।

—औं : संतौं नेड़ी १६।२१।२

—न : बिन हाथनि पांइन १५६।२ ।

—नि : बिन हाथनि पांइन बिन काननि १५६।२, बिन फूलनि १२१।१५

परसर्गयुक्त रूप—

—आं : जनां की २०७।४, दुषां की ४६।२६।१, बगां कै ४८।१।२, सिषां की १७।४।२।

—औं : करमौं के २६३।३

—न : चोरन को ३५०।३, जनन के १७३।१०, भगतन कै १८७।७।

—नि : दासनि का ४१।१३।१, भगतनि कौ ८५।५।

९. स्त्री० संबंध :

—शून्य : इंद्री पसर मिटाइये १३।२।२, बिधि बिंधि बांणीं ३४।३।२

—आं : दुहु कात्यां बिचि जीव है ३४।५।२, बिन ही तालां ताल बजावै १५६।२।

—इ : चषि बिन दिवस २८५।२

—नि : बिन सासनि है सोई १७२।५

परसर्गयुक्त रूप —

आं : देव्यां कौ ३८०।५, बातां की २४।२२।१।

—नि : रांडनि कौ १३२।१०

१०. पुं० अधिकरण :

—शून्य : घर घर बारि ३३।५।१, पंच पदारथ भरिहै षेहा ३६७।७, तात मात सुत लोग कुटंब मैं ३६६।५।

आं : हरि चरणां राचिया २०।२।२, जिहि जिहि भेषां हरि मिलै ३।४१।२, भरी मुहां मुह भूष १२।४७।१।

—आंह : गिर डूंगर सिषरांह ५५।३।२, चूक पड़ी निगुरांह ५५।३।१, ना ऊंचा परड़ांह ५५।४।२ < देशी० परड=पहाड़ी भूमि।

—इ : देवलि देवलि धाहड़ी ३।४४।२, परबति परबति मैं फिर्या ३।४०।१, लोका पंथि लगाई ८८।५।

—ऊं : नैनूं रह्या समाइ ५।३८।२।, जिनि पंषूं तुझ चालणां १२।१४।२, हरि सुमिरण हाथूं घड़ा २।३२।२।

—एं : आनंद ठांयें ठांइ ३०।२।१।

—ऐं : फिरता ठांवैं ठांउं ५०।८।२।

ओं : काठौं सेज बिछाइ ४५।३४।१, प्रेम न षेतौं नीपजै ४५।२१।१,
चरणौं चल्या ४७।३।१, पातौं पातौं दुष ३८।११।१ ।

—नि : काननि पहरि मंजूसा १३४।३ ।

परसर्गयुक्त रूप—

—आँ : चार्‌यूं बेदां मांहि १७।१०।२ ।

—ऊँ : चर्णूं मैं ४७।५।२ ।

—न : फूलन पर ३१३।६ ।

—नि : भूठनि मैं ब० अ० १३ ।

११. स्त्री० अधिकरण :

—शून्य : दसहूं दिसि पूरि रह्या रांम ५८।८ ।

—आँ : अंषड़ियां झांईं पड़ी ३।२२।१।

—ऊँ : रात्यूं रूनीं बिरहनी ३।१।१

—हि : दस दिसही फिरि आवै १५९।४ (छंदो० दीर्घ०)

—नि : बातनि ही बैकुंठ बषांनै २४।२ ।

२.१३. तिर्यक् रूपों की व्युत्पत्ति

पीछे कहा गया है कि कर्त्ता, अप्राणिवाचक कर्म तथा सम्बोधन में अविकारी या मूल रूप का प्रयोग होता है । इनके अतिरिक्त अन्य कारक संबंधों का बोध कराने के लिए विकारी या तिर्यक् रूप प्रयुक्त होते हैं । अप्राणिवाचक कर्म और सम्बोधन में भी कभी-कभी विकारी रूप पाये जाते हैं । विकारी रूपों के अन्तर्गत दुहरे प्रयोग मिलते हैं : कुछ ऐसे जिनमें मूल प्रातिपदिक के साथ कोई निश्चित ध्वन्यात्मक प्रत्यय या पदग्राम नहीं जोड़ा जाता । ऐसे पदों में सुविधा के लिए शून्य पदग्राम की कल्पना की जाती है । कर्म, करण आदि विकारी कारक रूपों में इस तरह के निर्विभक्तिक या शून्य विकारी रूप बहुतायत से मिलते हैं जिनके साथ परसर्गों का प्रयोग नहीं मिलता । ऐसे स्थानों पर अर्थान्विति के लिए तत्तत् परसर्गों का अध्याहार कर लिया जाता है । अन्य कोटि के विकारी रूप वे हैं जिनमें मूल शब्द या प्रकृतिभूत पदग्राम के साथ कोई स्पष्ट ध्वन्यात्मक पदग्राम जोड़ा जाता है, जैसे आकारान्त पुं० प्रातिपदिकों के एक वचन में—ए और बहुवचन में ओं

(लड़का-लड़के, लड़कों)। इस प्रकार के विकारी रूपों का वाक्यगत प्रयोग कई कोटियों का मिलता हैं : (क) वे विकारी रूप जिनके साथ परसर्ग प्रयुक्त मिलते हैं, (ख) वे विकारी रूप जिनके साथ परसर्ग तो नहीं प्रयुक्त हैं किन्तु उनका आक्षेप आवश्यक होता है क्योंकि ऐसे रूप केवल काव्य भाषा में मिलते हैं, कथ्य भाषा में परसर्ग का प्रयोग आवश्यक होता है, (ग) वे विकारी रूप जिनके साथ न तो परसर्गों का प्रयोग ही मिलता है और न उनके आक्षेप की आवश्यकता ही रहती है। इन तीसरी कोटि के रूपों को मूलतः संकृत-प्राकृत तथा अपभ्रंश के उन सविभक्तिक रूपों के समकक्ष माना जा सकता है जिनमें प्रकृति के साथ जुड़ा हुआ प्रत्ययांश स्वयं ही विशेष कारक संबंधों का बोध कराने में सक्षम है। भोजपुरी, अवधी, ब्रज आदि बोलियों में ऐसे प्रयोग आज भी उपलब्ध है जहाँ करण अथवा अधिकरण का अर्थ प्रकृति के साथ जुड़ा हुआ अंश स्वयं देता है। ऐसी स्थिति में इन रूपों (घरे, द्वारे, भूखैं) को विकारी रूपों के अन्तर्गत मानते हुए भी विशेष कोटि में स्वीकार करना होगा। हिन्दी के विकारी रूप प्रायः प्राभाआ तथा मभाआ के किन्हीं-न-किन्हीं सविभक्तिक रूपों से माने जाते हैं। चूंकि अपभ्रंश में आकर कुछ विभक्तिज रूप एक से अधिक कारक संबधों का बोध कराने लगे थे इसलिए अर्थ की स्पष्टता के लिए उनके साथ अन्य शब्द भी प्रयुक्त होने लगे जिनसे आगे चलकर परसर्गों का विकास हुआ। लेकिन जहाँ ये सविभक्तिक रूप अभिप्रेत कारक संबंध का बोध कराने में समर्थ थे, परसर्गों की आवश्यकता न थी। ऐसे प्रयोग मध्यकालीन हिन्दी और आज भी फुटकल रूप से बोलियों में उपलब्ध हैं। इन अन्तिम कोटि के विकारी रूपों की यद्यपि हिन्दी के भाषा वैज्ञानिकों ने कोई अलग कोटि नहीं मानी है किन्तु ऐतहासिक दृष्टि से यदि इन्हें विभक्तियों का अवशेष माना जाये तो अधिक वैज्ञानिक होगा। कभी-कभी ऐसे रूप भी मिलते हैं जिनमें प्रथम कोटि के विकारी रूपों और इन विभक्तिज रूपों में आकृति साम्य मिलता है। ऐसी स्थिति में यह समस्या उठती है कि इन्हें विभक्तिज अवशेष माना जाए या नहीं। हमारी दृष्टि में ऐसे स्थलों पर जहाँ परसर्गों का प्रयोग या आक्षेप किए बिना ही कारक संबंधों का वाक्यगत अर्थ स्पष्ट हो जाता है, बिभक्तिज अवशेष मानना अधिक ठीक होगा।

ऊपर दी गई विविध विकारी रूपों की तालिका में आए विभक्ति चिह्नों

का ऐतिहासिक विकास क्रम प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. —ग्राँ,—ग्राँह —ऊँ,—ग्रों,—ग्रौं

इन चिह्नों के प्रयोग निम्नलिखित कारकों में हुए हैं—

—ग्राँ : कर्ता बहु०, कर्म एक० तथा बहु०, करण बहु०, सम्प्र० बहु०, संबंध बहु०, ग्रधि० एक० तथा बहु०। इसका विकास सं०—ग्रनाम् > *ग्राणं > —ग्राँ के क्रम से हुग्रा है।

—ग्राँह : ग्रधि० एक० तथा बहु०। यह—ग्राँ का विस्तारित रूप प्रतीत होता है। सम्भव है कि—ह ग्रंश षष्ठी एक वचन—ह > —हँ वाला हो जिसे ग्राँ के साथ जोड़ दिया गया हो। —ग्राँह को ग्रपभ्रंश के संबंध—सम्प्र० बहु०—ग्राँह < सं० णाम् से भी संबद्ध माना जा सकता है।[1]

—ऊँ : करण—संबंध—ग्रधि० बहु०।

—ग्राँ : कर्त्ता० बहु०।

—ग्रौं : कर्त्ता,—कर्म—ग्रपा०—संबंध—ग्रधि० बहु०।

ये सभी रूप भी सं०—ग्रनाम् > —*ग्रणं > - *ग्राउणं > —ग्रौं,—ग्रों, ऊँ के क्रम से निष्पन्न हुए हैं।

राज० के ग्रोकारान्त ग्रौर दक्खिनी के ग्राकारान्त प्रातिपदिकों का विकारी बहु० रूप—ग्राँ है। खड़ी बोली में ग्राकारान्त प्राति० के वि० बहु० रूप जहाँ—ग्रों ग्रौर—ग्रौं (पुराना रूप) बनते हैं वहीं राजस्थानी में ऐसे ग्रोकारान्त प्राति० में यदि ग्रन्त्य ग्रक्षर में कोई ग्रनुनासिक ध्वनि होती है तो —ग्रों (राज०—ग्राँ) के स्थान पर —ऊँ हो जाता है। —ग्राँह पश्चिमी राज० का रूप है जो पुराने प्रयोग का संकेत देता है।

२. —इ

इसका प्रयोग कर्त्ता—करण—सम्प्र०—ग्रधि० एक वचन में हुआ है। इसे सं. के सप्तमी एक वचन के चिह्न—ए > प्रा०—ए > ग्रप०—इ > —इ के क्रम से व्युत्पन्न माना गया है। सं० का सप्तमी बहु० प्राकृत में भी सप्तमी बहु० में चलता रहा परन्तु ग्रपभ्रंश में तृतीया ग्रौर सप्तमी एक० के रूपों के परस्पर मिल जाने से यह चिह्न करण—ग्रधि० दोनोंके एक वचन का बोध कराने लगा। कर्त्ता० में प्रयोग सकर्मकभूत क्रिया के साथ तृतीयान्त वाला है।

---

१. पिशेल § ३७०

३. —ए, —एँ

—ए : कर्म एक० तथा बहु०, करण, संबंध, अधि० एक० ।

—ऐं : कर्त्ता० एक० ।

इनका संबंध सं० की सप्तमी एक० के चिह्न—ए से है । अप० में तृतीया एक० के—एन तथा सप्तमी एक०—ए के योग से बने करण—अधि० में प्रयुक्त १२ चिह्न मिलते हैं- स्वरान्त शब्दों में लगने वाले —इ,—इं,—इँ, ए,—एं,—एँ,तथा अन्य शब्दों के लिए—अइ,—अइं, —अइँ,—अए,— अएं,—अएँ । कअ॰० के – ए,—एँ रूप स्पष्ट ही अपभ्रंश—ए तथा —एँ के अवशेष हैं जो करण—अधि० के अतिरिक्त कर्म—सबंध में भी पाए जाते हैं ।

४. —ऐ,—ऐँ

—ऐ : कर्त्ता० बहु०, कर्म एक०, करण एक० तथा बहु०, सम्प्र० एक०, संबंध एक० तथा बहु०, अधि० एक०

—ऐँ : कर्त्ता० बहु०, कर्म बहु०, करण० एक०, सम्प्र० एक०, संबंध० एक०, अधि० एक० ।

इनका सबंध अपभ्रंश की करण—अधि० की विभक्ति—हि से है जिसके वैकल्पिक रूप—हिं और —हिँ भी मिलते हैं । हि का संबंध सं० की तृतीया बहु०—भिस् (—एभिः) से जोड़ा जाता है । —हि का प्रयोग अपभ्रंश में कर्त्ता में भी पाया जाता है । आगे चलकर नभाआ काल में —हि के 'ह' अंश का लोप और संधि प्रक्रिया से उत्पन्न संश्लिष्ट रूप—ऐ मिलता है । किन्तु अवधी, ब्रज आदि में —हिं,—हिँ वाले रूप भी साथ-साथ चलते रहे हैं जो काव्य भाषा की प्रकृति के अनुकूल है । एँ रूप —हिँ से सम्बद्ध है ।

५.—न, —नि, —न्ह

—न : कर्म बहु०, करण बहु०, सम्बन्ध बहु०, अधि० बहु० ।

—नि : कर्त्ता बहु०, करण बहु०, सम्प्र० बहु०, सम्बन्ध बहु०, अधि० बहु० ।

—न्ह : केवल सर्वनामों में प्राप्त ।

इन रूपों का संबन्ध प्रत्यक्ष ही अप० की—ण्हि विभक्ति से है । अप० ण्हि का विकास चाटुर्ज्या संस्कृत के षष्ठी० बहु० आणाम् के 'ण' तथा तृतीया बहु०—भिः के 'हि' के योग से मानते हैं—ण+हि=ण्हि । अपभ्रंश में

इसका प्रयोग केवल सार्वनामिक रूपों के साथ होता था तथा यह करण और कर्मवाच्य कर्त्ता की विभक्ति थी। आगे चलकर संज्ञा शब्दों में भी यह विभक्ति जुड़ने लगी तथा इसके साथ परसर्गों का प्रयोग भी चल पड़ा जिससे करण तथा कर्मवाच्य कर्त्ता बहु० के अतिरिक्त अन्य कई कारकों का बोध भी होने लगा।

अप०—ण्हि की उत्पत्ति के सिलसिले में अब तक सर्वप्रमुख मत चाटुर्ज्या का ही माना जाता रहा है। इसकी एक सम्भावित व्युत्पत्ति इस प्रकार भी हो सकती है—'अपभ्रंश के सर्वनाम शब्दों में तृतीया एक०—एण,—इण चिह्न जोड़कर जेण, तेण, जिण, तिण जैसे रूप बनाये जाते हैं जो आगे सावर्ण्य प्रक्रिया से जिणि, तिणि रूपों में विकसित हो गये। तृतीया बहु० के—एहि,—इहि विभक्ति चिह्न जोड़ कर जेहि, जिहि, तेहि, तिहि रूप बनाये जाते हैं। सम्भवत: इन एकवचनान्त रूपों के साथ बहु० रूपों का—हि,—ह अंश जोड़कर जिण्हि, तिण्हि, जिण्ह, तिण्ह जैसे रूपों का विकास परवर्ती अपभ्रंश काल में हो गया था। तिण्ह रूप प्राकृत पैंगलम् में भी मिलता है। यही—ण्हि,—ण्ह चिह्न मध्ययुगीन हिन्दी के विकारी बहुवचन रूप—न्हि, न्ह बन गए जिनसे आगे चलकर—नि—न का विकास हुआ।'[1] इस दृष्टि से अपभ्रंश—ण्हि की व्युत्पत्ति चाटुर्ज्या की तरह सं० के षष्ठी तथा तृतीया के बहु० प्रत्ययों के मिश्रण से मानने की कल्पना के स्थान पर अपभ्रंश के ही तृतीया एक० तथा बहु० का योग मानना अधिक संगत लगता है।

अपभ्रंश—ण्हि से—न,—नि,—न्ह का विकास इस प्रकार हुआ है—

अप० ण्हि > न्हि > नि > नि (न्+इ) > न।

अप० ण्हि > न्हि > न्हि > न्ह

—न तथा—न्ह में अन्त्य इ का लोप फुसफुसाहट (व्हिस्पर्ड) वाली ध्वनि (इ) की स्थिति से गुज़र कर संभव है। यहां यह संकेत आवश्यक है कि हिन्दी में—न्ह,—न्हि वाले रूप पूर्वी विभाषाओं में ही मिलते हैं। जायसी और तुलसी की भाषा में ऐसे रूपों की बहुतायत है।[2]—न,—नि में प्राणता लुप्त हो गई है जो पश्चिमी विभाषाओं की प्रवृत्ति है। प्राणता वाले रूप

१. डा० भोलाशंकर व्यास से मौखिक रूप में प्राप्त।

२. सक्सेना : Evolution cf Avadhi, § 209, P. 104.

पश्चिमी हिन्दी में मिलते अवश्य हैं पर केवल सर्वनाम शब्दों में। कग्र की भाषा में—न,—नि तथा—न्ह चिह्न प्राप्त होते हैं जिनमें—न्ह केवल सर्वनाम में मिलता है।[1] संज्ञा शब्दों के साथ नियत रूप से केवल—न,—नि रूप मिलते हैं। यह इसका संकेत है कि कग्र की भाषा इस संदर्भ में पश्चिमी विभाषाओं की प्रकृति का परिचय देती है तथा उसमें अपभ्रंश का अवशिष्ट सार्वनामिक चिह्न—न्ह शेष है। सूर की भाषा में भी—न्ह वाले रूप केवल सर्वनामों में मिलते हैं।[2] जब कि पूर्वी हिन्दी में संज्ञाओं के साथ—न्ह चिह्न का प्रयोग पुरानी हिन्दी से ही प्राप्त होने लगता है।[3]

६.—ह—हु

—ह: कर्त्ता बहु०, कर्म बहु०, करण एक०, अपा० एक०, सम्बन्ध एक०, अधि० एक०

—हु: अपा० एक०, अधि० एक०

इन चिह्नों का सम्बन्ध संस्कृत के अकारान्त पुं० तथा नपुं० शब्दों की षष्ठी एक वचन की विभक्ति—स्य > प्रा० स्स से है। प्राकृत में सम्प्र० सम्बन्ध में अन्तर्भुक्त हो गया। अपभ्रंश में अपा० के रूप भी सम्प्र०—संबन्ध में मिल गए और सम्बन्ध—सम्प्र०—अपा० जैसे एक कारक की स्थिति पैदा हो गई।[4] संस्कृत—स्य के अपभ्रंश में पांच विकास मिलते हैं: —ह,—हो,—हु,—हि और—हे। —ह नभाआ भाषाओं में आकर सम्बन्ध—सम्प्र०—अपा० के अतिरिक्त कर्त्ता—कर्म—करण—अधि० में भी मिलने लगा। कर्त्ता बहु० के—ह वाले रूप संदेशराशक[5], वर्णरत्नाकर[6], प्रा० पैं०[7] में भी उपलब्ध होते हैं। प्रा० पैं में यह कुछ स्थानों पर अधि० एक० में भी मिलता है।[8] कग्र में इसके कर्त्ता—कर्म बहु० के प्रयोग केवल सर्वनामों के साथ है।

---

१. दे० आगे २.२१ तथा २२.
२. टंडन : सूर की भाषा, पृ० २२९ तथा २३५.
३. चाटुर्ज्या : वर्णरत्नाकर की भूमिका, § २७.
४. तगारे : § ७८.
५. भयाणी : § ७१ (३).
६. वर्णरत्नाकर : § २६,
७. प्रा० पैं० : § ८३.
८. वही, § ८२.

७. हि,—हिँ,—हीँ

—हि : कर्म एक०, करण एक० अधि० एक० ।

—हिँ : कर्म एक०, सम्बन्ध एक०, अधि० एक० तथा बहु० ।

इनका सम्बन्ध अपभ्रंश की अधि० एक० की विभक्तियों —हि, —हिं, —हिँ से है जो संस्कृत —स्मिन् से विकसित मानी जाती है—सं०—स्मिन् > म्हि >—हि,—हिँ,—हि । अपभ्रंश की करण —अधि० बहु० की विभक्ति —हि,—हिँ का सम्बन्ध संस्कृत की तृतीया बहु०—एभि : से जोड़ा जाता है । प्राकृत की करण बहु०—हि तथा हिँ अपभ्रंश में अधि० बहु० में भी चलने लगीं । आगे चलकर नभाआ काल में —हि,—हिँ विभक्तियाँ अन्य कारकों में भी मिलती हैं । इस प्रकार —हि, —हिँ का विकास दुहरे स्रोतों से हुआ है : एक वचन वाला रूप सप्तमी एक०—स्मिन् से तथा बहुवचन वाला रूप तृथीया बहु०—एभि : से । कग्रं में ये चिहन करण —अधि० के अलावा कर्म—संबन्ध में भी मिलते हैं । अधि० बहु० में केवल एक प्रयोग है—दस दिसिहीं फिरि आवै १५६.४। यह रूप छंदोनुरोध से दीर्घ हो गया प्रतीत होता है ।

८. सम्बोधन प्रत्यय —ए,—औं,—आँ

एक वचन रूप—ए का संबंध आकारान्त पुं० शब्दों के तिर्यक रूप—ए से बताया गया है । सम्भव है कि संस्कृत का आकारान्त स्त्री० तथा इकारान्त पुं० का सम्बोधन चिह्न—ए मध्यकालीन हिन्दी में ईश्वरवाची नामों के साथ जुड़ने लगा हो, जैसे हे हरे (तुल० कग्रं के गोव्यंदे, परमानंदे) । इस तरह आकारान्त पुं० शब्दों के सम्बो० चिहन —ए (बंदा-बंदे) को तो तिर्यक् रूप —ए से जोड़ा जा सकता है किन्तु अकारान्त या अन्य शब्दों के सम्बो० चिह्न—ए को संस्कृत के हरे, गंगे आदि के सादृश्य पर मानना ठीक होगा ।

तेस्सितोरी ने प्रा० प० रा० के सम्बो० बहु०—ओ के बारे में बताया है कि यह अकारान्त प्रातिपदिकों के अन्त्य स्वर के साथ अप०का सम्बो० प्रत्यय—हो जोड़कर स्वर संकोचन से उत्पन्न हुआ है— अहो > अहु > अउ > ओ । राममचरितमानस में—अहु वाले सम्बो० बहु० के

चिहन मिलते हैं— दिसि कुंजरहु कमठ अहि कोला १।२६०।[1] एक मत यह भी है कि तिर्यक् बहु०— ओं का अनुनासिकत्व लोप करके सम्बो० बहु० का रूप बनाया गया है —लड़का—लड़कों—लड़को। हिन्दी में —ओ वाले रूप पश्चिमी विभाषाओं में मिलते हैं जबकि पूर्वी विभाषाओं में— औ, — औं वाले संयुक्त स्वर मूलक रूप पाए जाते हैं। —औं का अनुनासिकत्व अकारण प्रतीत होता है। कग्रं में इसके एकाध ही उदाहरण हैं।

बहु० —आँ कग्रं में अधिक विस्तार से मिलता है। यह रूप राज० के ओकारान्त पुं० बहुवचन के विकारी रूप —आँ के समान है और उसी स्रोत से आया प्रतीत होता है।

२.१४. परसर्ग

परसर्ग मूलतः अव्यय शब्द थे या फिर करण—अधि०—अपा० कारक की संज्ञाएं थे अथवा बिशेषण या कृदन्त[2] जिनमें अन्य सामान्य शब्दों से अधिक ध्वन्यात्मक परिवर्तन दिखाई पड़ता है तथा जो अपना मूल अर्थ छोड़ चुके हैं। परसर्गों का उदय अपभ्रंश काल से दिखाई पड़ता है। पुरानी हिन्दी की रचनाओं में, जो संक्रान्ति कालीन भाषा का स्वरूप उपस्थित करती हैं, पुरानी अवशिष्ट संश्लेषणात्मक कारक रचना के साथ-साथ निर्विभक्तिक रूपों तथा परसर्गों का प्रयोग विस्तार से पाया जाता है। कग्रं में तीनों प्रवृत्तियां समानान्तर रूप में मिलती हैं। यहाँ परसर्गों के प्रयोग और उनकी व्युत्पति पर विचार किया जा रहा है।

२.१५. कर्म तथा संप्रदान परसर्ग

का : कर्म—सिर कसदम का पारै २२।६

कूं : कर्म—मेरा मन सुमिरै रांम कूं २।८।१

सम्प्र०—बिरहनि कूं मींच दै ३।३५।१, तुझ मिलन कूं ३।६।१

के : सम्प्र०—देषण के सबको भले १७।१७।१

---

१. तेस्सितोरी : § ६७.

२. वही, § ६८.

कै : सम्प्र०—भवसागर कै ताईं ५६।५।१

कर्म—तीस बरस कै रांम न सुमिर्यो २३८।५

को : कर्म—तन को जोगी सब करैं २४।१७।१

कौं : कर्म—इस मन कौं बिसमल करौं १३।६।१

सम्प्र०—दिन दस के व्योहार कौं १२।१३।२

२.१६. संबंध परसर्ग

क : एक०—फूस क जौड़ा दूरि करि ४५।३९।२

कर : एक०—मूवा मरम को काकर जानां १३१।३

करि : स्त्री०—सालिगराम सिला करि पूजा चौ० २८

का : एक० पुं० दिल अपणीं का साछ १।५।१

की : स्त्री०—सतगुरु की महिमा अनंत १।३।१

कूं : एक०—ताकूं वार न पार ३४।६।२

बहु०—तिन कूं आदर होइ १७।८।२

के : एक० विकारी —लोक वेद के साथि १।११।२

बहु०—उत्तर दषिण के पंडिता ४।५।२

केरा : एक० वेस्वा केरा पूत २।२२।२

केरी : स्त्री०—दरिया केरी नाव १२।५६।२

केरे, केरै : विकारी—ताकू केरे सूत १३।१।२, इंद्री केरै स्वादि २०।१८।१

कै, कैं : एक०—पारोसनि कैं हुलरायें १३९।२

बहु०—सुपिनै रैनि कै १२।२२।१

को : एक०—परनारी को राचणौं २०।६।१

कौ, कौं : एक०—भांति भांति कौ नाज ३५।१३।१

पूतपियारे पिता कौं ३।३१।१

तणां : बहु०—सब आसरण आसा तणां १६।२७।१

दा : एक०—उसदा षोज न जानां ६२।८

हंदा : एक०—साईं हंदा सैंण ४३।१०।२

व्युत्पत्ति : उपर्युक्त तीन कारकों—कर्म—सम्प्र०—सम्बन्ध के परसर्ग व्युत्पत्ति की दृष्टि से एक वर्ग के हैं। संबंध के तणां, दा और हंदा रूप इस वर्ग से अलग पड़ते हैं। बाकी सभी में 'क्' ध्वनि सर्वत्र है। तणां का संबंध अप० तणउ से है जो संस्कृत आत्मनकः से विकसित बताया जाता है।[1] तणां विसर्गान्त रूप से न होकर केवल आत्मनक से सम्भव है। दा परसर्ग संबंध कारक में पंजाबी में चलता है। हंदा राज० रूप है। ढोला मारू० की भाषा में हंदउ, हुंदउ तथा संदा, संदउ जैसे रूप मिलते हैं।[2] ये सभी अप० हिंतो से संबद्ध हैं। इसी से पंजाबी दा का भी संबंध है जिसमें प्राणध्वनि का लोप हो गया है।

अन्य रूप जिनमें 'क्' ध्वनि सर्वत्र है सं० √कृ के किसी न किसी रूप से सम्बद्ध माने जाते हैं। इनकी पुरानी व्युत्पत्ति बीम्स और हार्नली के अनुसार सं० कक्षे से दी जाती थी, जो अब उचित नहीं मानी जाती।[3] चाटुर्ज्या इन्हें स्वार्थे प्रत्यय—क से मानते हैं, वे √कृ वाली व्युत्पत्ति का खण्डन करते हैं।[4] इनके सम्भावित विकास निम्नलिखित हैं—

१. क, का, की : सं० कृत >कअ >का। क इसका दुर्बल उच्चारण है। अवधी में का ऐसे एकाक्षर शब्दों में जुड़ता है जिनके अन्त में या तो दीर्घ स्वर हैं या वे व्यंजनान्त हैं—जी का, घर का आदि अथवा ऐसे द्वयक्षर शब्दों में इसका प्रयोग होता है जिनके दोनों अक्षर दीर्घ स्वरान्त हैं—केही का। अन्यत्र दुर्बल रूप क का प्रयोग होता है।[5] अवधी में का कर्म में भी प्रयुक्त है। कग्रं में एक स्थान पर इसके दुर्बल रूप क के प्रयोग में स्थान व्यत्यय

---

१. तेस्सितोरी, § ७३,

२. ढोला मारूरा दूहा, भूमिका, ५०१४५, नाप्र० संस्करण

३. हिं तिवारी : हिं० भा० उ० वि०, § १०५, पृ० ४४१ तथा सक्सेना § २७७, पु० २२१

४. ODBL., Vol II. P. 756

५. सक्सेना, § २७२,;

मिलता है—ग्रंधे कूप क दिया बताई १५६।४=ग्रंधे क कूप दिया बताई। की इसका स्त्री० रूप है। 'के' 'का' का विकारी रूप है। ग्रवधी की पूर्वी बोलियों में यह मूल रूप में भी मिलता है।[1]

२. कर, करि : सं० कारक > कार > कर। करि स्त्री० रूप। ये रूप ग्रवधी में ही प्रमुखत: पाए जाते हैं।

३. कूँ : स० कृत :> कग्रो > कउ > कूँ। राज०—ब्रज का समान रूप।

४. केर, केरा, केरी, केरे, केरै : सक्सेना ने इन रूपों की व्युत्पत्ति सं० कार्य —क से वर्ण व्यत्यय के द्वारा कायर—ग्र > कइर—ग्र > केरा के क्रम से बताई है।[2] परन्तु हमारी समझ से इसे सं० कृत—क से मानने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। ऋ का 'इर' सीधा विकास है। 'इर' का गुण 'एर' होना भी स्वाभाविक है। ग्रत: कृत—क > *किरग्र ग्र > प्रा०—ग्रप० केरग्र > केरा के क्रम में इसे देखा जा सकता है। केरी स्त्री० रूप। केरे, केरैं विकारी। ये रूप ग्रवधी में ही पाए जाते हैं।

५. कै, कैँ : सं० कृत > कग्र > कय > कइ > कै, कैँ। ये स्त्री० रूप हैं। ग्रवधी में इनका नियत स्त्री० प्रयोग है।[3] कग्रं में ये पुं० शब्दों में भी पाया जाता है।

६. को कौ कौँ : सं० कृत :> कग्रो > कउ > को, कौ। ग्रनुनासिकत्व ग्रकारण ग्रागया है।

२.१७. **करण तथा ग्रपादान परसर्ग**

तैँ : करण—काल कंठ तैं गहैगा २।२६।२।

ग्रपा०—जाका संग तैं बीछुड़्या २।१२।२।

लाषौं मांहि तैं लेत ग्रचांनक ६७।६।

थैं : करण—पानी की बूंद थें जिनि प्यंड साज्या ३०४।५।

थैँ : करण—गुर ग्यांन थैं एक ग्राध उबरंत १।२०।२।

ग्रपा०—तरवर थैं फल झड़ि पड़्या १२।३४।२।

---

१. सक्सेना § २७७

२. वही २७७

३. वही § २७७

पै,पैं: करण—इन पै जो न बंधावई १८८।४।

मो पैं सह्या न जाइ १।३५।२।

अपा०—जिन पै गोबिंद बीछुटे ३।२।२।

सन: करण—मिलावा हरि सनां २६।१ (छंदो० दीर्घ०)

सनिः करण—का सनि कहीं कसाई ३६।८।

सूं : करण—बाह्या प्रीति सूं १।६।२

अपा०—बिछुटे रांम सूं ३।३।२।

से : करण—सकति से नेह ५६।३।

सेती: करण—पंडित सेती कहि रहे ६।१।१।

सौं : करण—जिभ्या सौं करि म्यंत २।३०।१।

अपा०—दीन गंवाया दुनी सौं १२।४३।१।

स्यूं : करण—हम स्यूं लड़ि पड़्या १।५।२।

व्युत्पत्ति—

इन रूपों में 'स् त् थ्' वाले रूपों की व्युत्पत्ति स्पष्ट है। पै, पैं रूप सं० प्रति से विकसित हैं। प्रा० प० रा० में प्रति, प्रतिं, प्रतइं, प्रतिइं जैसे रूप मिलते हैं जो सामान्य अर्थ वाली क्रिया के साथ गौण कर्म का संकेत करते हैं।[1] प्रति का पुराना प्रयोग सम्प्रदान का ही अर्थ देता है। कग्रं में पै, पैं कर्मवाच्य क्रिया के साथ ही मिलते हैं जहाँ लिए का अर्थ निकलता है।

१. तैं : सं० √भू—7 अप० होन्तहिं > *तहिं > तइं 7 तैं।
२. थें, थैं : अप० होन्तहिं > *तहिं > थें, थैं।
३. पै, पैं : सं० प्रति > पइ > पै, पैं।
४. सन, सनि : स० सम + एन > सएण > सन, सनि।
५. सूं, सौं : स० समं > समं > सवँ > सउँ > सूं, सौं।
६. स्यूं : सं० समं > समं > सवँ > सउँ > *सिउँ > स्यूं।
७. से : सम + एन > सएँ > सइँ > से।

---

१. तेस्सितारी § ७१, पृ० ७४

८. सेती : सन्तकेन > पालि० संतको, प्रा० संतग्रो > संतग्र > *सॅतग्र > सेत + ई ।[1]

उपर्युक्त रूपों में सन, सनि, सेती अवधी के विशिष्ट रूप हैं। स्यूँ केवल राज० में मिलता है। तैं, से, सौं रूप ब्रज के हैं तथा अवधी की बोलियों में इनका वैकल्पिक प्रयोग मिलता है। से खड़ी बोली का विशिष्ट रूप है। सूँ ब्रज, राज० में समान रूप से मिलता है। पैं, पैं ब्रज के हैं। थे थैं भी ब्रज के रूप हैं।

२.१८. **अधिकरण परसर्ग**

पर, परि : कौड़ी पर बीका १७८।७, हम परि बरष्या १।३४।१।

पैं : आइ न सकौं तुझ पैं ३।१०।१।

म: बासुरि गमि नां रैनि गमि नां सुपिनैं तरंग म ३१।४।१।

मंझा : गढ़ मंझा २६२।३।

मँझारा : कलू मंझारा २७८।५ (छंदो० दीर्घ)

मंझारि : अगनि मंझारी दुप० ८१ (छंदो० दीर्घ०)

मंझि : गुर बचना मंझि १७३।६।

मंझै : सोलह मंझै पवन झकोरै १६६।६।

मधे,मधैं : काया मधे कोटि तीरथ १७१।२, काया मधै १७१।३।

महिं : जंगल महिं के जंगम १८७।४, गुर ग्यांन मही रे २१२.७ (छंदो० दीर्घ०)

माँ : इनकै आश्र (आसर) मां अष्ट० ३४।

माँझे : आपण मांझै सत० २।

माहाँ : मुवाले माहां ६५।३।

माहिं : मनमांहि १.४।१।

माहैं : सिष ही मांहैं १।२१।१।

में : इस संसार में २।१७।२

---

१. सक्सेना § २८०

मैं : बूड़े धार मैं ११।१६।२।

म्यांनैं : पलक म्यांनै २५७।८, असमान म्यांनैं २५८।७।

व्युत्पत्ति—

इस तालिका में म्यांनैं शब्द फ़ारसी का है—∠मियान (=बीच)। इसमें —ऐं अंश अधि० का चिह्न है। शेष रूप सं० उपरि या मध्य से संबद्ध हैं। म रूप मा का दुर्बल उच्चारण है जो क (का) की तरह वैकल्पिक रूप से अवधी में चलता है। शेष रूपों का विकासक्रम इस प्रकार है—

१. पैं : सं० उपरि > परि > पइ > पै > पैं।

२. पर, परि : उपरि > परि > परि, पर।

३. म, माँ : मध्य > मज्झ > माँह > माँ, म।

४. मंझा, मंझि, मंझै, माँझै : मध्य > मज्झ > मंझ > माँझ।—आ स्वार्थिक,—इ,—ऐ अधि० के चिह्न।

५. मँझार, मँझारि : मध्यकार > मज्झआर > मँझार।—इ अधि० चिह्न।

७. मधे, मधैं : सं० मध्ये > मद्धे > मधे।—ऐ रूप मध्य > मध + इ की संधि से।

७. महि, माँहि, माँहै : सं० मध्य > मज्झ > माँझ > माँह, मँह।—इ, —ऐं अधि० चिह्न।

८. मे, मैं : दे० महि > मइं > मेँ, मैं।

२.१९.

सर्वनाम

उत्तम पुरुष वाचक

उत्तम पुरुष सर्वनाम के निम्नलिखित रूप मिलते हैं—

अविकारी एक० ब०

मैं : मैं कथि गया २।२।१,

हमः हम जाणों अरु दुष ११।६।२,

हूँ : हूँ रह्या ३१।६।२,

हौं : हौं देषौं ११।२।२।

अविकारी बहुवचन

हम : कहा कीयौ हम आइ करि कहा कहैंगे जाइ १२।२५।१।

विकारी एकवचन

मुझ : ऐसी वेदन मुझ ३।४२।२।

मो : मो देष्या जलहरि जलै ३।२६।२।

हम : जिनि हम जाए ते मुए ४६।३२।१।

कर्म तथा संप्रदान

मोंहि : सो दिन आवै मोंहि ३।३३।२, कहै कबीर क्या करि करिहौ मोही १०७।४।

मेरे : भिस्त न मेरे चाहिये ११।७।२।

हमह : इनके गुनह हमह का पकरौ २९२।२।

हमहि: हमहि छाड़ि कत चले हौ ३९४।४।

हमैं : आज क कालिह क निसि हमैं मारगि माल्हंतां ४६।२।१।

संबंध

मेरा : मुहकम मेरा बाछ १।५।२, मेरी अंषियां ३०४।१—स्त्री०।

मेरौ : मेरौ मन ५।१।

मोर : मोर किसांनां १४।४, पति मोरी ७८।१—स्त्री०।

हमार: भाग हमार १।५।

हमरौ: हमरौ का करिहौ १४३।१।

हमारा: हमारा हम बलू १६।२६।२, सासति करौं हमारी १९१।६—स्त्री०

हमारौ : हमारौ नांउं ५०।७।

संबंध के विकारी

मेरे : मेरे मन बस्या ३।१७।१।

मेरै : मेरै मन में ३७।१।१।

मोरै : रांमदेव मोरै पांहुनैं आये १।३।

हमरै : ना हमरै चिलकाई हो ५०।३।

हमारे: भाग हमारे हरि रषवाले २१६।६ ।

हमारैं : हमारैं रांम बिना न सरै २१६।१ ।

विकारी बहुवचन

हमारे : नैंन हमारे जलि गये ३।४२।१ ।

व्युत्पत्ति :

हम का प्रयोग एक वचन में खुलकर हुआ है ।

मैं : सं० मया > मइ > मइँ > मैं । इसका प्रयोग कर्त्ता एकवचन में ही मिलता है । इसके अनुनासिक अंश को चाटुर्ज्या तृतीया—एण का प्रभाव मानते हैं ।[1]

हम : सं० अस्म > अम्ह > *हम्ह > हम ।

हूँ : सं० अहम् > *अहकं > *हअँ > *हवँ > हउँ > हूँ ।

हौं : अहम् > हउँ > हौं । हौं रूप ब्रज तथा अवधी में समान है । हूँ ब्रज, राज०, गुजराती में मिलता है ।[2]

मुझ : सं० मह्यं > मज्झं > अप० मज्झु > मुज्झ > मुझ । अपभ्रंश काल में उकार का आगम तुभ्यम् > तुज्झ के सादृश्य पर हुआ है ।

मो : सं० मम > प्रा० मह > अप० मह्नु > मउ > मो ।

मेरा : मम—केरक > *मम एरअ > *मएरअ > मेरा ।

मेरौ : विसर्गान्त रूप से ।

मोर : मम—कर > मो—कर > मोअर > मोर ।

हमारा : अस्म—कारक ।

शेष रूपों में कारक विभक्तियों या स्त्री० प्रत्ययों की व्युत्पत्ति तत्तत् स्थानों पर देखिए ।

२.२०. **मध्यम पुरुष वाचक**

अविकारी एक० व०

---

१. ODBI, vol II, P 539 ,

२. तेस्सितोरी, § ८३, पृ० १०६

तू : तू मति दे रे पूठि १६।२६।१ ।

तूं : जास हियाली तूं बसै २८।१०।१ ।

तुम : हम तुम रहे निदांनि ४५।३३।२, (अशुद्ध मुद्रण—तुझ)

तुम्ह : तुम्ह जिनि जानौं गीत है ५।१५ ।

तैं : रतन कौ थाल कियौ तैं रंधनां ८७।४ ।

विकारी ए० व०—

तुझ : सकूं न तुझ बुलाइ ३।१०।१ ।

तुम्ह : हम तुम्ह बिनसि रहैगा सोई १०३।६ ।

तो : अकलि भई तो कौं ८।२ ।

कर्म तथा सम्प्रदान

तुमहि : हमहि कहा यहु तुम्हहि बड़ाई २।४ ।

तोंहि : निस दिन निरखौं तोंहि ३।३३।१ ।

करण

तोहि : हौं तोहि पूछौं हे सषी ४५।३८।१ ।

संबंध

तुम्हरा : तुम्हरा जस मन भावै २५५।२ ।

तुम्हारा: मुसियत नगर तुम्हारा २६२।४, बाट तुम्हारी ३।६।१—स्त्री० ।

तुम्हारौ: तुम्हारौ कछु बल नांहीं २५४।५ ।

तेरा : तेरा तुझकौं सौंपतां ११।३।२, तेरी दसा ३७।६।१—स्त्री० ।

तेरो : तेरो कोई नांहीं १२२।२ ।

तेरौ : संग कियौ है तेरौ २६६।८ ।

तोर : तोर हेत ६४।४, कबीर तालिब तोरा ३१।१४—वैक० रूप० ।

तोहि : कहै कबीर चरन तोहि बंदा ७६।४—विशिष्ट प्रयोग ।

संबंध के विकारी

तुम्हारै : मुरसिद पीर तुम्हारै को है २५५।४ ।

तेरे : तेरे सिर पर जम षड़ा २।१४।२, अब न कोई तेरँ अंकुस लाव १४६।२—वैक० रूप।

अधिकरण

तुम्हि : इन औगुन सब तुम्हि समाई दुप० ८।

संबंध बहुवचन

तुम्हारे : तुम्हारे चरन कंवल दिषला।वौ ७८।४—'अपने' अर्थ में।

व्युत्पत्ति :

तुम का प्रयोग अत्यन्त सीमित है। इसके लिए तुम्ह प्रयुक्त मिलता है। हम की भाँति इसका भी प्रयोग सर्वत्र एक वचन में हुआ है।

तू, तूँ : सं० त्वं > अप० तुहुँ > तुउँ > तूँ, तू।

तुम, तुम्ह : सं०*तुष्म > तुम्ह > तुम्ह, तुम। तुम के लिए तुम्ह का प्रयोग मभाआ रूप की ओर झुकाव सिद्ध करता है।

तैं : सं० त्वया – एन > तइँ > तैं।

तुझ : सं० तुभ्यं – *तुह्यं > तुज्झ > तुझ। इसे तगारे ने सं० मह्यं के मिथ्या सादृश्य का निर्मित पालि—तुह्यं से माना है।[1]

तो : सं० त्वत् > तुहुँ > तुउँ > तुउ > तो।

तोर : सं० त्वत्–कर > तोअर > तोर।

तुम्हारा : *तुष्म–कारक > तुम्ह आरअ > तुम्हआरा > तुम्हारा।

तेरा : तव—केरक > तअ–एरअ > तएरा > तेरा।

शेष रूप विसर्गान्त, स्वार्थे, स्त्री० या विभक्ति प्रत्ययों से हैं।

२.२१. अन्यपुरुष या परोक्ष उल्लेख सूचक तथा नित्य संबंधी

अविकारी एक व०

ऊँ : काया हांडी काठ ना ऊं चढ़ै बहोड़ि १२।३१।२।

वह : वह न मुवा ४२।५।

---

१. तगारे : § १२०, पृ० २१४

वहु : वहु तपति है ३१।२।२ ।

वा : वा मांग संवारै पीव कौं ३०।६।२ । स्त्री० रूप ।

वो : वो हालै वो चीरिये २५।४।२, वोही जानैं बारह० १८ अवधा०, ओही आहि बारह० १८—वै० रूप, अवधा० ।

वौ : वौ भौंकत जाई २२१।४ ।

स : बूझि रे ग्यांनी मूवा स कीनां ४२।४ ।

सु : पढ़ै सु पंडित होइ १६।४।२ ।

सेई : सेई तुम्ह सेई हम एकै कहियत २६२।६—अवधा० ।

सो : सो जिनि बीसरि जाइ १।१३।१ ।

सोइ : कै जिहि लागी सोइ ३।१४।२ अवधा०

सौ : जाकै लागी सौ लषै ४।३।२—वै० रूप ।

अविकारी बहुवचन

ते : ते दिन मिले न राति ३।३।२, तेई मुए जिनि रांम न जांना ४३।२ —अवधा०, तेऊ न आयै छूटे १६२।६—अवधा० ।

वै : वै भी गए १०२।२, वै क्यूं मिलैं ११।१०।२—आदरार्थे ।

सोइ : सोइ मूवे धन संचते १६।१२।२ ।

विकारी एक व०

उस : उस रषवाला औरै होवै ३७०।२ ।

उह : कै मरि जाइ कै उहै पियावै दुप० १२—अवधा० ।

उहि : उहि बन कान्ह अहीरा रे ७६।६ ।

उहु : उहु मार्ग पावै नहीं १४।१।२

ओ : जे ओ एक न जांणियां ११।८।२

ता : ता गति लषी न जाइ ६।२।१ ।

तास : तास पटंतर ३०।५।२ ।

ताहि : ताहि सूझै ३०।६ ।

तिस : जिस तूं तिस सब कोइ ३८।३।१ ।

तिसहि: जिसहि न कोई तिसहि तू ३८।३।१ ।

तिह : तिह कूं हरि दीन्हा दुप० ३८ ।

तिहिं : तिहिं घरि किसको चांनिणौं १।१७।२ ।

तेणि : कौतिग दीठा तेणि ५।१।२ ।

त्यांह : बाण न लागे त्यांह ५५।५।२ ।

वहि : न को वहि जावा बारह०१७ ।

वा : वा का भेऊ बारह०१५ ।

वोह : पांहण वोही तेह ५५।२।२ ।=उसी तरह--अवधा० ।

विकारी बहु वचन

उन : भांडै उन ही घड़िया २६८।३, मन उनहुं न जांना ३३।२, जे होते उन पास ३८।७।२ ।

उनि : उनि माला उनि तसबी लई ५६।४ ।

तिन : फूल तिन भीतरि १७६।६ ।

तिनह : तिनह उछाह सोक नहीं व्यापै १८३।१० ।

तिनहि: तिनहि परम पद पाया १८४।४ ।

तिनहुं : तिनहुं न भावै आंन ५४।१।२—अवधा० ।

तिनि : तिनि संसा चुणिचुणि षद्ध १।२२।२, तिन्य सुष दुष दोऊ बिसरावा बारह० ११—वैक० रु० ।

तिन्ह : तिन्ह सुष नींदड़ी बिहाइ २६।६।१, कुदरति षोजि तिन्हूं नहीं पावा अष्ट० २०—अवधा०, गए पार तिन्हौं सुष लहिया बारह० २६—अवधा० ।

ते : ते बिधना बागुल रचे १२।२८।२ ।

व्युत्पत्ति :

उपर्युक्त रूपों में ते, उन और वैं का एक वचन में आदरार्थे प्रयोग भी मिलता है ।

ऊ, वह, वहि, वहु, वा, वो, वोह, वौ, वै तथा उह, उहि, उहु, ओ :

ये सभी रूप सं० असौ (अदस) से संबद्ध हैं—सं० असौ > असो > अहो > ओह > ओ, उह, वह। शेष रूप संधि प्रक्रिया, प्राणता लोप, विभक्त्यंश, स्त्री० प्रत्यय के योग आदि से बने हैं। वहु और वौ रूप कुछ अलग पड़ते हैं—असौ > पालि० असु > अहु > वहु —प्राणता लोप और संधि से —वौ।

उस : सं० अमुष्य > पालि० अमुस्स, प्रा०* अउस्स > उस।

उन : सं० अमुष्याम् > अमूणाम > अउण > उन। परन्तु ऐसा लगता है कि सर्वनाम अंश उ में —न, —नि करण - अधि० की विभक्तियाँ जुड़कर ये रूप बने हैं। क्योंकि षष्ठी बहु० के रूप से—न, —नि की व्युत्पत्ति संभव नहीं है—देखिए २०.१३(५)।

स, सु, सो, सौ, सोइ : इनका संबंध सं० सः से है—सः > प्रा० सो > अप० सउ > सु, सो। सौ वैक० रूप०, स दुर्बल उच्चारण और सोइ में—इ अवधारण प्रत्यय—हि।

सेई : यह पालि० सगे से उत्पन्न है जो सं० स + के से निष्पन्न बताया जाता है—स + के > सगे > सए > से।—ई अवधारण।

ता, ताहि : सं० तत् > तअ > ता।—हि कारक विभक्ति।

तिस, तिह : सं० तस्य > तस्स > *तिस्स > तिस।—हि विभक्त्यंश।

तिह, तिहिं में सर्वनाम ति + विभक्त्यंश।

ते, तेणि : से की भाँति ही सं० के सर्वनाम अंश त + के > *तगे < तए > ते के क्रम से। तेणि में—णि विभक्त्यंश।

तिन, तिनि, तिन्ह : सर्वनाम अंश ति और तृतीया एकवचन —ण (—एण) तथा बहुवचन —हि (—एभिः) के योग से —ण्हि > —न्हि > —न्ह तथा —नि > —न। अन्य रूप—तिन्हूँ, तिन्हौं में अवधारण प्रत्यय का योग। तिनह, तिनहि, तिनहु में—ह, —हि, —हु अतिरिक्त कारक विभक्तियों का योग। यहां तिन प्रातिपदिक बन गया है। ऊपर तेणि रूप भी इसी क्रम से बना है—सर्वनाम अंश त + ण + इ (—हि)। इन रूपों मे सर्वनाम अंश त का ति हो जाता है जो विभक्त्यंश —ण्हि, —न्हि, —नि के सादृश्य पर हुआ प्रतीत होता है।

तास : सं० तस्य > तस्स > तास। तास विशुद्ध संबंध कारक का रूप है। किन्तु इससे प्रातिपदिक के तौर पर स्वीकार करके परसर्गों के योग से या बिना ही अन्य कारकों का भी बोध कराया गया है—

कर्म—कबीर तास मिलाय जास हियाली तूं बसै २८।१०।१, तास कौं १९९।७, कबीर सेवै तास कूं २६।२।२।

सम्प्र०—जीभ मुष तास दीयो ३५।१।३।

२.२२. **संबंध वाचक**

अविकारी एकवचन

जु : या जोगी की जुगति जु जानैं ३१९।७।

जे : जे रहै रांम की ओट २८।१२।२।

जो : जो आगे कूं होइ १६।१३।१, जो जीवत मृतक होइ ४१।९।२—वैं० रू०।

अविकारी बहुवचन

जे : जे होते उन पास २८।७।२, जे लागे बेहद! सूं १२।५०।२।

विकारी एकवचन

ज : कहूं ज कहणां होइ ५४।९।२।

जू : जन जू जू बाचवंत ३३।७।१।

जो : जो देवै सो षाउं ११।१५।२।

जा : जा का गुर भी अंधला १।१५।१।

जाहि : जाहि फिरांयां हरि मिलै २४।२।२।

जिहि : जिहि हरि जैसा जांणिया २।२१।१।

जिहिं : जिहिं लागी ३।१४।२।

जिस : राजा परजा जिस रुचै ४५।२१।२।

जिसहि: जिसहि चलावै पंथ तू ३८।९।२।

ज्यांह : नष सिष पाषर ज्यांह ५५।५।१।

जास : जास हियाली तूं बसै २८।१०।१, जास का सेवक १९९।७।

विकारी बहुवचन

जे : जे बेधे गुर अष्षिरां १।२२।२।

जिन : जिन दिल बंधी एक सूं ११।१३।२।

जिनि : जिनि मानिष तैं देवता करत १।२।२, जिन्य कुछ जाण्यां नहीं २९।६।२—वैं० रू०, ज्यनि प्यंड बांध्या २४०।३ वैक०।

जिन्ह : जिन्ह सहजैं बिषिया तजी २१।१।२।

जिन्हैं : जिन्हैं विष षावा ब० अ० ७३।

जिनह: जिनह न पाया ग्यांन ५४।१।१

व्युत्पत्ति :

ये सभी रूप सं० यत् से या इससे बने अन्य रूपों से संबद्ध हैं—

ज, जु, जू, जो, जौ : सं० यः—यो > प्रा० जा > अप० जउ > जु, जो। जू रूप बलात्मक उच्चारणगत है और जौ संधि से बना वैकल्पिक रूप है।

जे : सं० ये > प्रा० जे > जे। जे का प्रयोग मूलतः बहुवचन वाला है, किन्तु पूर्वी हिन्दी में इसे एकवचन में भी प्रयुक्त किया जाता है।

जा : सं० यत् > जअ > जा। जाहि में—हि कारक चिह्न।

जिस: सं० यस्य > जस्स > जिस। जिसहि में—हि विभक्त्यंश। इसी क्रम में सर्वनाम अंश जि में—हि,—हिं विभक्तयाँ जुड़ कर जिहि, जिहिं रूप बने हैं।

जिन, जिनि, जिन्ह : तिन, तिनि, तिन्ह के सादृश्य पर—देखिए—२.२१. तथा २.१३ (५)। जिन्हैं में—ऐं अतिरिक्त विभक्ति। इसी प्रकार जिनह में—ह। जिन्य, ज्यनि लिपिगत अथवा उच्चारणगत जिनि के वैक० रूप हैं।

ज्यांह : नित्य संबंधी त्यांह रूप भी इसी के समान है। ये सं० येषाम् > अप० जाँह > ज्याँह, तेषाम् > अप० ताँह > त्याँह के क्रम से आए हैं। प्रा० प० रा० में जीआँ, तीआँ जैसे रूप मिलते हैं और इन्हीं से संबद्ध मारवाड़ी के ज्याँ, त्याँ रूप हैं।[1] इनमें—ह अंश षष्ठी विभक्ति वाला है।

जास : सं० यस्य > जस्स > जास। तास की ही भाँति जास भी प्रातिपदिक बना दिया गया है—जास का सेवक।

---

१. तेस्सितोरी, § ९०, पृ० ११४।

२२३. **प्रत्यक्ष उल्लेख सूचक**

अविकारी एकवचन

यहु : यहु कहिये काहि २४।५

यहै : हरि जी यहै बिचारिया ३४।१।१—अवधा० ।

या : या मंजारी ६७।३—स्त्री० ।

ये : भागा भ्रम ये कही कहंता ६।१४, जगत गुर ये ही ६१।२—अवधा० ।

ए : ए बातां की बात २४।२२।१, ऐ सबही अहला गया ३५।१४।२ वैक० ।

एह : गुड़ी ज बांधी एह १२।२०।१, एही लाहु ३४८।१—अवधा० ।

अबिकारी बहुवचन

ए : ए जाहिगे किस ठौर १४।४।२, ऐ जु कहैं सिधि पाई १३३।४—वै० रू०, ऐई षेत सबनि का चरिगा ३५३।२—अवधा० ।

ये : ये ले जारे १०३।५ ।

विकारी एकवचन

इस : ते नर इस संसार में २।१७।२, इसहि मराऊं ३६५।४—अबधा०

इहि : इहि औसर १२।२६।२, इही उदर के कारणै १७।२।१—अवधा०, इनका इहै विजोग १६।३।२—अवधा० ।

इहिं : इहिं पद नरहरि भेटिये ५।६ ।

या : जो या पदहि बिचारै १३।११

विकारी बहुवचन

इन : इनका इहै विजोग १६।३।२।

इनि : इनि झूठै जीव हत्या गियांनां ब० अ० ६ ।

व्युत्पत्ति :

यह : सं० एष :>प्रा० एसो>एहो>एहु>एह>यह । यहै, यहु, तथा ये, ए, एह आदि सभी रूप इसी से संबद्ध है । ऐ लिपिगत है—ए के लिए । ए, ये का प्रयोग एकवचन और बहुवचन दोनों में है । एकवचन रूप एष>एह का प्राणता रहित रूप है जबकि बहुबचन

ए सं० एते > एए > ए के क्रम से आया जान पड़ता है। ये श्रुति-गत है।

या : सं० एषा > एसा > एहा > एआ > या। अवधी में या का प्रयोग वा की तरह नियत रूप से स्त्री० में होता है।[1] या स्त्री० मूल रूप है जबकि या पुं० विकारी है।

इस : सं० एतस्य > एअस्स > *अस्स > इस। इसी से संबद्ध इह वाले रूप हैं जिनमें —इ, —इँ कारक विभक्तियां हैं।

इन. इनि : सर्वनाम अंश इ में —न, नि विभक्ति चिह्न के योग से।

२.२४. **प्रश्न वाचक**

अविकारी एकवचन

को : सतगुर सवांन को सगा १।१।१।

कौंण : तिसहि भुलावै कौंण ३८।९।२।

कौंन : कौंन मरै कौंन जनमै आई ४४।१।

कवन : सुचि कवन ठांवं २५१।१।

अविकारी बहुवचन

के : के बांधे के छूटे १७५।४।

विकारी एकवचन

का : का तू चितवै ३५।६।२।

कांइ : राम कह्या तौ कांइ ३३।२।२।

काह : ताको अचिरज काहा ४०२।५ (छंदो० दीर्घ०)।

काहि : सीस नवावौं काहि २।८।२।

काहू : माया काहू न षाई १००।५।

काहे : काहे की कुसलात १३।७।२।

कहा : कहा सुनावै लोग ३५।२।१।

किस : किसको चांनिणौं १।१७।२।

---

१ सक्सेना, § २४४, पृ० १८४

किसौं : किसौं भरोसो त्यांह १६।३१।२ ।

किहि: मैं किहि गुहराऊं ३८५।४ ।

कौनैं : कौनैं गति पाई ४४।१ ।

विकारी बहुवचन

किनहु: संसा किनहु न षध्ध १।२२।१—अवधा०

किनि: किनि फुरमाई गाइ २६।२१।२ ।

सबकाहू : सबकाहू उपदेस २।२।२ ।

व्युत्पत्ति :

को : सं० कः > प्रा० को > अप० कउ > को ।

कौँन, कौँण : सं० कः—पुणः > कपुण > कवुण > कउण > कौँन, कौँण ।
कउण से 'व' के आगम से कवन रूप बनता है । अवधी की पश्चिमी बोलियों में यह संयुक्त स्वर मूलक कौन (कउन) का स्थानापन्न है । कौँण राजस्थानी प्रभावित रूप हैं जहाँ कूँण, कुण, कौंण जैसे रूप मिलते हैं ।[1]

के : सं० के > प्रा० के > के ।

का : सं० किम् के सर्वनाम अंश 'क' और 'आ' के योग से । सक्सेना ने इसे कस्य से माना है ।[2]

काँइ : सं० कानि > अप० काँइ > काँइ ।

काह : सर्वनाम अंश 'क' में—आह,—आहि, आहु—के योग से ।—आह और—आहु अपभ्रंश में संबंध एकवचन की विभक्तियाँ हैं । काहि में—हि कर्म—करण की विभक्ति है । काहे विकारी रूप जिसके साथ परसर्ग का नियत प्रयोग है । कहा काह का बलाघात के स्थान परिवर्तन से बना रूप ।

किस : सं० कस्य > कस्स > किस । किहि में सर्वनाम अंश कि + हि कारक विभक्ति है ।

---

१. ढोलामारू०, भूमिका, पृ० १४६

२. सक्सेना, § २५१, पृ० १६५

किन, किनि : सर्वनाम अंश कि + —न,—नि विभक्ति चिह्नों के योग
से ।

सब लगाकर भी विकारी बहु० का बोध कराया गया है ।

२.२५ अनिश्चय वाचक

अविकारी एकवचन

कछू : कछू एक मन में और १३।४।२

कुछ : देवे कौं कुछ नांहि १।४।१

केऊ : केऊ केऊ तीरथ व्रत लपटांना अष्ट० १

को : मधि अंग जे को रहै ३१।१।१, साषत को नहीं ३२।२।१

कोई : और न कोई सुणि सकै ३।२०।२

और : और सकल जंजाल २।५।२

बिकारी एकबचन

कछू : अब कछू कह्या न जाइ १३।१७।२

कुछ : जे कुछ चितवैं २।६।२

कोइ : फिरि बूझिये न कोइ १३।२।१

विकारी बहुवचन

औरन : औरन की सुष होइ ३४।६।२

औरनि: औरनि मैं हूं ५०।१

औरां : औरां राम कहाइ २।२३।१

औरूं : औरूं कौं परमोघता १७।१३।२

औरों : औरों को प्रमोघता १७।१५।२

व्युत्पत्ति :

अविकारी और विकारी एकवचन के रूपों में साम्य है। वास्तव में इनका अन्तर रूपगत न होकर अर्थगत है। अपरिवर्तित मूलरूप विकारी कारकों में मुख्यतया अप्राणिवाचक पदार्थों के लिए प्रयुक्त हैं ।

कोइ : सं० कोपि > कोवि > कोइ । इसी से को संबद्ध है, अन्त्य — इ के लोप से ।

केऊ : सं० के (बहु० रूप) > के + उ > केऊ । इसमें — उ अंश कर्त्ता-कर्म एकवचन की विभक्ति-उ है[1] जो अपभ्रंश काल से ही मिलती है और जिसका प्रयोग अवधी में इसी कारक में नियमत: किया जाता है । अपभ्रंश की उकार बहुलता का कारण यही विभक्ति रही है । 'केहु' पुरानी अवधी में विकारी रूप है[2] लेकिन वर्तमान अवधी की पूर्वी बोलियों में केऊ मूलवत् प्रयुक्त है—केऊ आवा है (=कोई आया है) ।

कछु, कुछ : सं० किंचित् > किंछि > किंछ > किछ, किछु > कछु—कुछ । शिलालेखी प्राकृत में किंछ और किछि रूप मिलते हैं । इनमें इ के लोप और विभक्त्यश—उ के योग से कछु रूप । उ का व्यत्यय—कुछ । कछू में अतिरिक्त—उ < —हु अवधारणार्थक ।

और : सं० अपर > अवर > अउर > और । —आँ,—ऊँ,—ओं,—न,—नि विकारी बहुवचन के प्रत्यय ।

२.२६. **साकल्य वाचक**

सब : एक तें सव होत है ११।६।२

सबनि : मैं सबनि में ५०।३

सबहिन : देष्या सबहिन मैं ५२।६

ये सभी रूप सं० सर्व > सब > स०व के क्रम से हैं । —नि,—नि, विभक्तियाँ है । सबहिन में—हि अवधारणार्थक अन्तर्विभक्ति (इनफ़िक्स) है ।

२.२७. **निजवाचक**

अविकारी

अपना : कहत पुनि अपना ६।१६

---

१. सक्सेना, § २६१, पृ० २०५

२. वही, § २५६ पृ० २०१

आप : आप आप कूं करिहै १२।४४।२

आपण: आपण राम कहि २।२३।१

आपन : आपन तो मुनि जन ह्वै बैठे ३६।८

संबंध

आपण : आपण देही १४४।३

आपणा : सिर राषौं आपणां १३।६।२, नौबति आपणी १२।१।१—स्त्री०, दिल अपणी का १।५।२—विशिष्ट प्रयोग ।

आपन : आपन यौं न सराहिए ५४।७।१

अपना : अपना तन ३४।६।२

आपनौं : आपनौं करहा ७६।८, जनम आपनौं अष्ट० ४२ ।

संबंध के विकारी

अपन : अपन पै आपा सूझ्या ६।१५

अपने : अपनें बिचारि २५।१, अपनैं जन २७।१

अपणे :अपणें रूप १५८।२, अपणौं कारणैं ३।२५।२

आपणें : गुर आपणें १।२।१

व्युत्पत्ति :

आपन, आपण जैसे रूप संबंध के होकर भी मूल रूप में प्रयुक्त हैं ।

आप : सं० आत्म > अप्प > आप ।

आपन: आत्मन् > अप्पण > आपण, आपन । इसी क्रम में अन्य रूप । दीर्घ स्वरान्त—क स्वार्थे से, औकारान्त विसर्गान्त रूपों से । अपन, अपना रूपों में बलाघात के स्थान परिवर्तन से आद्यक्षर ह्रस्व हो गया है ।

२.२८. सार्वनामिक विशेषण

उपर्युक्त सार्वनामिक रूपों में उत्तम और मध्यम पुरुष के रूपों को छोड़कर शेष सभी का विशेषणवत् भी प्रयोग पाया जाता है। इनके अतिरिक्त सार्व-

नामिक रूपों से कुछ ऐसे शब्द भी बनते हैं जिनका प्रयोग बिशेषण के लिए सीमित हो जाता है। ये दो प्रकार के हैं—

प्रकारवाचक : अस ३६।३, इसौ २३३।२, इसी ४६।१४।१, ऐसा ८।३।१, ऐसो ४८।६, ऐसौ १२२।८, ऐसैं १३७।४, ऐसी ३।४२।२, कस ८।२।१, किसा २६।५।२, जिसे १७।१७।१, जिसी २०।६।१, जैसा २।२१।१, जैसो ३१३।४, जैसी १६।१७।१, जैसि ४५।२५।१, तै।ा २।२१।१, तैसे २६।७।२, तैसो १८।२।१।

परिमाणवाचक : इतना ६२।२, इती ३२७।७, एता ६४।३, एती ३२७।५, किता ८८।३, किती ४६।२७।२, कितेक ३५।१, केता २०।५।२, केते ३६६।४, केती २८।११।१, केतेक ३६६।४, केतेएक ३६६।४, जिता १६।२८।२, जेता ३३६।८, जेती २३।५।१, जेते ४५।२६।१, तिता १६।२८।२, तेता २३।५।१, तेते ४५।२६।१।

व्युत्पत्ति :

—स अन्त वाले प्रकारवाचक रूपों की उत्पत्ति सं०—दृश, —दृशक से बताई जाती है—तादृशक > तइसअ > तैसा। इसी वज़न पर ऐसा, जैसा, किसा रूप ईदृशक, यादृशक, कीदृशक से आए हैं।—ओ, —औ अन्त वाले रूप विसर्गान्त रूपों से हैं।—ई अन्त वाले स्त्री० रूप हैं तथा—ए, —ऐ अन्त वाले बहुवचन या विकार के बोधक हैं।

—त अन्तवाले परिमाणवाचक रूप सर्वनाम अंश + वतुप् प्रत्यय के योग से बने संस्कृत के विशेषण शब्दों—यावत्, तावत् से आए हैं। मभाआ काल में इनके जेत्तिअ, तेत्तिअ रूप मिलते हैं। इन्हीं से इन सभी रूपों का विकास हुआ है।—ई स्त्री० प्रत्यय हैं,—ए बहुवचन का रूप है। केतेक तथा केतेएक में—एक का योग है जो अनिश्चय का बोधक है।

२.२९. संख्यावाचक शब्द

(क) पूर्ण संख्यावाचक

इसके निम्नलिखित रूप प्राप्त होते हैं :

एक : ५६ ३, एको १७।२।२, एकौ २६।४।१--अवधा०, इक्क ३५।२०।२ दुर्बल उच्चारण ।

दोइ : ५।२५।२, दुइ<द्वि । दोई १४।६।५ अवधा० । दोऊ २०।१२।१—अवधा० । द्वै ८१।७∠*द्वइ∠द्वि । दुहु ३४।५।२ ∠दु+हु∠दु—∠द्वि । दुहू ११।१२।२, दुहूं ३४।६।२, दिहूं ब० अ० ३०, दहूं ५८।५—सभी अवधा० रूप । दून्यूं १।१५।१∠ दूनि+हु∠प्रा०दोण्णि∠द्वि ।

तीनि : २०।१०।१∠तिण्णि∠त्रीणि । तीनूं ३०।३।३, तीन्यूं ४।१।२—अवधा० । —त्रि (अस्थांन) ३२८।४, त्री (षंड) १५३।३, त्रे २०।६, त्रै (लोक) ३८०।१∠सं० त्रय ।

चारि : १२।८।२∠चआरि∠चत्तारि∠चत्वारि । चार्यूं १७।१०।१—अवधा०, चहु ४।३—अवधा० ।

पांच : १००।२∠पंच∠पंच । पांचू २१।२।२, पांचौं १५७।८—अवधा०। पंच २।७।१, पंचू ४३।४।२—अवधा०, पंचू १४।४—अल्पा०∠—उक ।

छह : ३४।४∠छह∠छ∠षष् । छहूं ४०।१।३ अवधा० । षट (दल) ४।३ ।

सात : ३८।५।१∠सत्त∠सप्त । सातौं १२।४।१—अवधा० ।

आठ : ३।३५।२∠अट्ठ∠अष्ट । अठ (सिधि) ११३।७, अठि (सिधि) २६६।५, अष्ट (कंवल) ४।५—सभी रूप समस्त पदों में ।

नौ : ३३।५।१∠णव∠नव । नवैं २६६।५, नऊं ३११।२—अवधा० ।

दस : ११।१८।१∠दस∠दश । दसहूं ५८।८, दसूं २।२६।२, दसौं ६।४—अवधा० ।

ग्यारह : १५६।७∠एगारह∠एगादस∠एकादश ।

बारह : ४७।६।१∠बारस∠द्वादश । बारा १६६।५, दुवादस ४।८ द्वादस १८।५ ।

चौदह : १।१७।१∠चउद्दह∠चतुर्दश । चतुरदस १५५।५ ।

सोलह: ३९।६∠सोलस∠षोडष । षोडस (कंवल) ४।१५ ।

अठारह : ३४०।११ ∠अट्ठादह∠अष्टादश ।

उगनींसा : १९३।२∠एगोणवीसअ∠एकोनविंशत्—छंदो० दीर्घ० ।

बीस : ३५।३।१∠बीसअ∠विंशत् ।

चौबीसो : २५९।६∠चउबिस्सअ∠चतुर्विंशत्—अवघा० ।

पचीस : ३८३।२∠पच्चीसअ∠पंचविंशत् ।

तीस : २४३।३∠तिस्स∠त्रिंशत् ।

बतीस : १९५।५∠बतिस्स—∠द्वात्रिंशत् ।

तेतीस् : १।६∠तेत्तीस∠त्रयस्त्रिंशत्—अवधा० ।

पचास : १७।४।२∠पच्चासअ∠पंचाशत् ।

बांवन : १९।२।२∠वावण्ण∠द्वापंचाशत् ।

छपन : ३३९।३∠छप्पण्ण∠षट्पंचाशत् ।

चौंसठि : १।१७।१∠चउसट्ठि∠चतुर्षष्ठि ।

अठसठि : २७७।३∠अट्ठसट्ठि∠अष्टाषष्ठि ।

सतरि : २५५।६∠सत्तरि∠सप्तति ।

बहत्तरि : १९३।३∠बासत्तरि∠द्वासप्तति ।

असी : ३३९।३∠असीइ∠अशीति ।

चोरासी : १।१८।१∠चउरासीइ∠चतुरशीति ।

अठ्यासी : ३३९।३∠अट्ठासीइ∠अष्टाशीति ।

छयांनबै : ३३।४∠छण्णवई∠षट्नवति ।

सो : १६।३१।१∠सउ∠सव∠सअ∠शत । सै ६९।६∠सइ∠सय∠शत, सत २४।२३।१ ।

पांसै : २८९।५∠पंचशत, छसै २८९।५ ।

सहस : १।६∠सहस्स∠सहस्र । सहंस ६९।६, सहंसो १२७।७—अवघा०

—अनुनासिकत्व अकारण । हजारी २८।१३।१, हजरी १३।२∠ फा० हज़ार ।

लाष : १२।३७।२∠लक्ख∠लक्ष । लाषौं ६७।६—विकारी बहु० का प्रत्यय । लष १।१८।१—समस्त पदों में – चौरासी लष चंद ।

करोड़ि : १२।३७।२∠*क्रोडि∠*क्रोटि—कोटि । कोटि २।१६।२, कोटिक २६।२।१—इक स्वार्थ में, कोड़ी २४७।२, कोड़ि ३३६।४ ।

(ख) अपूर्ण संख्यावाचक

पाव : १६३।५∠पाअ∠पाद ।

आधा : ६७।५∠अद्ध—∠अर्द्ध—। आधी ३३।६।१—स्त्री०, अघ(षाधा) ३५३।३—समस्तपदों में । अर्घ ६३।२, अरध ५६।६ ।

सवाया : अष्ट० ४१∠सवाअ—∠सपाद–क । सवा (लष) ६८।२ समस्त पदों में, सवाई ६७।४—स्त्री० ।

साढ़े : ३६१।३∠सड्ढ∠सार्द्ध ।—ए विकारी चिह्न ।

अढ़ाई : १६३।४∠अड्ढाईय∠अर्द्धतृतीय ।

(ग) क्रमवाचक

अवलि : २५५।३∠अर० अव्वल—अलह अवलि दीन का साहब ।

पहली : २२६।३∠पढिल्ल—*प्रथिल्ल—स्त्री० रूप ।

दूसर : ५४।२∠दुस्सर∠द्वि—सर । दूसरा ३३२।१, दुसरी ७६।७ ।

दूजा : २२।१७।१∠दुइज्ज—∠द्वितीय—क ।, दूजी ११।११।१—स्त्री०, दूजें २६।२।२—ऐ विकारी चिह्न ।

चौथे : ३६५।६∠चउत्थ –∠चतुर्थ । चौथै ४३।६।१—ए,–ऐ विकारी ।

छठा : २।७।१∠छट्ठ—∠षष्ठ–क ।

दसवां : २३।१०।२>दशम्—क । दसवैं १३।२३।१—विकारी ।

क्रिया—पद

२.३०. धातु रूप

प्राभाआ में धातुएँ दस गणों में विभक्त थीं। इनमें द्वितीय (अदादि) गण को छोड़कर सभी गणों में कोई न कोई विकरण जोड़ा जाता था। मभाआ में आकर यह गण विधान समाप्त हो गया और सभी धातुएँ प्रथम (भ्वादि) गण की भाँति चलने लगीं। इस प्रकार 'अ' विकरण वाली धातुएँ ही मभाआ के एकमात्र गण का संकेत करती हैं। गण विधान के समान ही संस्कृत धातुओं का आत्मने पदी और परस्मैपदी भेद भी समाप्त हो गया। साथ ही नाम शब्दों की भाँति द्विवचन भी लुप्त हो गया।

प्राभाआ की सभी धातुएँ एकाक्षर थीं। इनमें कुछ स्वरान्त थीं कुछ व्यंजनान्त। मभाआ में सभी धातुएँ स्वरान्त हो गईं और यही स्थिति नभाआ काल में भी चली आई। कग्र की सभी धातुएँ स्वरान्त हैं। ये निम्नलिखित अन्त वाली मिलती हैं—

—अ : √अटक (अटक्यो ३०६।२), √अवतर (अवतरिया अष्ट०२२), √उचर (उचरैं २।२३।२), √कर (करउं १०७ १), √चूक (चूका १२।२६।२), √तज (तजूं ८४।१), √मिल (मिलौं ५। १६।२)।

—आ : √आ (आऊं ६।१४), √षा (षाउं ११।१५।२), √गा (गाऊं २५६।४), √जा (जाऊं ३।३६।१), √बिग्रा (बिआइ ८०।२)।

—ई : √जी (जीऊं २५६।१), √पी (पीऊं ५०।५।१), √सी (सीवत २११।३)।

—ए : √दे (देऊं ११।२।२), √ले (लेइ ३५।१६।१), √से (सेइ १६६।१)।

—ऐ : √षै (षै ३४०।१६ पूर्व रूप), √दै (दैनां २७०।२ √दे का वै० रूप०)।

—ओ : √षो (षोऊं ३८६।३), √जो (जोऊं ३७१।५), √धो (धोऊं ३८६।२), √पो (पोयो २८०।४), √बो (बोवै १६।३०।२),

√रो (रोऊं ३७१.५), √हो (होइ २।१।२)।

२.३१. **विकरण युक्त रूपों से आई धातुएं**

जैसा कि कहा जा चुका है मभाआ में धातुओं का गण विधान समाप्त हो गया था और सभी धातुएँ भ्वादि गण की भाँति चलने लगी थीं। परन्तु मभाआ काल में अनेक धातुएँ ऐसी भी मिलती हैं जो संस्कृत के विकरण युक्त रूपों से विकसित हैं। और वे ही आगे ध्वन्यात्मक परिवर्तन के साथ नभाआ में मिलती हैं। कग्र में इनके उदाहरण निम्नलिखित हैं—

√झूझ (झूझैं ४५।४।१) ∠ √जुज्झ ∠ √युध् + य + ति।

√नाच (नाचै १२।४) ∠ √णच्च ∠ √नृत् + य + ति।

√बूझ (बूझैं ३।५।१) ∠ √बुज्झ ∠ √बुध् + य + ति।

√समझ (समझैं १७।१४।२) ∠ √संबुज्झ > सं + √बुध् + य + ति।

√चुण (चुणि १।२२।२) ∠ चुण ∠ √चि + नो + ति।

√चिण (चिणिया ४६।११।२) ∠ √चिण ∠ √चि + नो + ति।

√सुन (सुन ४५।३३।१) ∠ √सुण ∠ √श्रु + णो + ति।

√धुन (धुनै २५।६।२) ∠ √धुण ∠ √धु + नो + ति।

२.३२. **कृदन्तज धातुएं**

मभाआ काल से ही संस्कृत के कृदन्त रूपों से अनेक धातुओं का विकास हो गया है। कग्र में इस कोटि के कुछ उदाहरण ये हैं—

√काढ़ (काढ़ौ ४६.१७।२), √छीन (छीनी १७७।२) ∠ छिन्न, √पकड़ (पकड़ै १२।१०।२) > प्रकृष्ट, √मिट (मिटै १८३।९) ∠ मृष्ट, ∠ सूत (सूतां ३८।४।२) ∠ सुप्त।

२.३३. **अनुकरणात्मक धातुएं**

उपलब्ध उदाहरण ये हैं—

√चिहुट (चिहुटै २०२.४), √चीर (चीरिये ३५।४।२), √जगमग (जगमगै ५।४।१), √झबूक (झबूकती ४६।१७।१), √झमका (झमकावै १३९।३),

√ठठक (ठठकी ३७०।५,) √बबक (बबकि २८।१२।२), √भुस (भुसैं ३५।१३।२), √भूंक (भूंका २०।२)∠सं√बुक्क ?, √मुलक (मुलकिया ४५।२३।२)।

कुछ धातुएँ अनुगूँज पर बनी हैं—

√पुरझ (पुरझि १७।१०।२)√उरझ की अनु०, √हिल (हिलि ५१।१।२) √मिल की अनु०।

२.३४ **सप्रत्यय धातुएँ**

कहीं कहीं धातु में अलग से कोई प्रत्यय लगा पाया जाता है। यह प्रवृत्ति नभाआ में ही मिलती है।[1] कग्रं में इसके उदाहरण ये हैं—

—क : √कूक (कूकिये २।१६।१)∠सं√कू, √पटक (पटककरि ३।३२।१) ∠√पड∠√पत्, √फरक (फरंकि १।२५।२)∠सं√स्फुर—अनु०छंदोनु०, √फूक (फूक १।२१।२—पूर्व०)∠फूत्+√कृ, √बहक (बहकि ४५।१४।१)∠√वह्, √मुसका (मुसकाउं १५६।२)∠स्मय+√कृ, √रोक (रोक्यो ६२।६)∠√रुत्र>√रुह ∠√रुध्।

—ड़ : √अमड़ (अमड़ेंगे ८।५।१)∠सं०√अम् भजने।

—र : √बिडर (बिडरत ३६।२)∠√बिड√विट्।

—ल : √कुरल (कुरलियां ३।२।१)∠सं०√कुर्—तुल० नेपा०√कुर्ल।

—ओट : √धबलोट (धबलोटैं २५३।६)∠√ववलय्।

एकाध स्थानों पर अ—निषेधार्थक उपसर्ग लगाकर मूल से उलटा अर्थ लिया गया है—√अचीन्ह (जे चीन्हा ते निर्मल अंगा, जे अचीन्ह ते रहे पतंगा—बारह० ३०), √अबोल (अबोलैं ३१६।५—क्रि० सं०)।

एक प्रयोग धातु में अ—के पदादि आगम का भी मिलता हैं—√अहला (ए सब ही अहला गया—३५।१४।२)<√देशी०√हल्ल=हिलना। यहाँ 'समाप्त होने' का अर्थ लिया गया है।

---

१. तिवारी : हिं० भा० उ० वि०, § ३७१, पृ० ४८८

२.३५. णिजन्त रूपों से बनी सकर्मक धातुएँ

ऐतिहासिक दृष्टि से संस्कृत की णिजन्त धातुएँ प्राकृत काल से ही प्रेरणा वाला अर्थ छोड़कर अन्य सकर्मक धातुओं के समान प्रयुक्त होने लगी थीं। उदाहरण के लिए सं० √ज्वालय् का प्राकृत रूप√जाल बनता है जिसका अर्थ जलवाने के बजाय जलाना है। हिन्दी आदि नभाआ भाषाओं में णिजन्त धातुएँ सकर्मक बन गई हैं। कग्रं में इस कोटि की धातुएँ – अय् अथवा— आपय् के योग से बनी हैं—

—अय् : √उघाड़ (उघाड़िया १।३।२) < उत् + √घाटय्, √उतार (उतारी ५६।४।२) ∠ उत् √तारय्, √नास (नासा २३५।८) ∠ √नाशय्, √पसार (पसारा २०।३)√प्र + √सारय्, √पाट (पाटौं १६६।४) ∠ √पातय्, √बांट (बांटैं १।३०।२) ∠ √वर्तय्, √मूंद (मूंदे ७४४) ∠ √मुद्रय्, √मोड़ (मोड़ही ३।१६।२) ∠ √मोटय्, √लोच (लोचैं ३४८।२) ∠ √रोचय्, √सोच (सोचै ६६।१) ∠ √शोचय्, √हार (हारूं ३८६।६) ∠ √हारय्।

—आपय् : √षिला (षिलावा बारह० ५२) ∠ √खेलापय्, √उठा (उठाइ २८।१०।२) ∠ उत् + √स्थापय्, √उड़ा (उड़ावत ३६०।४) ∠ उत् + √डापय्, √संता (संतावा बारह० ५१) ∠ √संतापय्।

२.३६. प्रेरणार्थक

णिजन्त रूपों से प्रेरणा का अर्थ लुप्त हो जाने पर नए सिरे से प्रेरणार्थक रूप बनाने के लिए नभाआ में अतिरिक्त प्रत्ययों का योग किया जाने लगा। कग्रं में इस अर्थ में छह प्रत्ययों का प्रयोग मिलता है—

– आ : √कटा (कटावै २२।१२।२), √जिमा (जिमाऊं ७६।८), √नचा (नचावैं २३६।४), √बंधा (बंधावै २४३।४), √मंगा (मंगावै ३५।१५।२), √मुंडा (मुंडावत २४।२४।१), √लषा (लषावै १५४।७)

—या : √पिया (पियावै दुप० १२)।

—वा : √षवा (षवाई ९७।२), √छुवा (छुवाऊं २३१।७)।

—ला : √पिला (पिलायें २२१।३), √दिला (दिलाई २३९ ५), √दिषला (दिषलाइ ३।३५।१)।

—आव : √दिषाव (दिषावनहार १।३।२), √चलाव (चलावै २०७।४)।

—लाव : √दिषलाव (दिषलावहिंगे १५०।७), √पिलाव (पिलावत ३७।७।१)।

व्युत्पत्ति : —आ ∠—अअ ∠—अय् ; —आव ∠—आवअ ∠ —आपय् ; —वा∠—आवाव∠—आप्+—आप्; —या ∠—आ∠—अअ ∠—अय् ;—ला ∠—आल ∠—आल्; —लाव∠—आलाव∠—आल्+—आप्।

इनमें—ला, —वा तथा —लाव की व्युत्पत्ति के बारे में महत्त्वपूर्ण यह है कि—ला का विकास केलाग के अनुसार सं० √पा में लगने वाले —णिच् प्रत्यय—आल् से हुई है।[1] —वा णिच् के द्वित्व रूप—आप्+—आप् से माना गया है।[2] —लाव दो प्रप्ययों—आल्+आप् से संयुक्त रूप में आया है। द्विगुणित णिच् वाले रूप अवधी, भोजपुरी और असमिया में मिलते हैं।[3]

२.३७ **नाम धातु**

प्राकृत काल में संस्कृत की व्यंजनान्त धातुओं के स्वरान्त हो जाने से स्वरान्त संज्ञा, विशेषण आदि शब्दों के क्रियावत् व्यवहार में सुविधा होने लगी और बड़े पैमाने पर नाम धातुओं का प्रयोग बढ़ा वैसे नाम धातु बनाने की प्रथा प्राचीन है। सं० में नाम शब्दों में—आप् (—आपय्) जोड़ कर ना० धा० बनाई जाती थी। वहाँ प्रेरणार्थक और नाम धातु के प्रत्यय एक ही थे। नभाआ में भी यही प्रवृत्ति दोनों जगह पाई जाती है। यहाँ—आ प्रेरणार्थक और ना० धा० दोनों में लगता है। साथ ही नभाआ में अन्य प्रकार

---

१. केलाग : § ६०९।

२. तिवारी : हिं० भा० उ० वि०, § ३६३, पृ० ४८५।

३. वही § ३६३।

की नाम धातुएँ भी मिलती हैं । कुछ तो संस्कृत के भूत कृदन्त रूपों से विकसित हैं और अधिकांश प्रातिपदिक रूप का धातुवत् प्रयोग हैं । वैसे मभाआ काल में कृदन्त रूपों का धातुवत् प्रयोग चल पड़ा था । किन्तु जो कृदन्तज रूप मभाआ में विशेषणवत् ही चलते रहे हैं, उनसे बने नभाआ के क्रियापद ना० धा० की कोटि में आते हैं । उदा० के लिए सं० कृष्ट का प्रा० रूप कड्ढ मभाआ में धातु रूप में ग्रहीत हो चुका था और हिन्दी √काढ़ में नामिक अर्थ की प्रतीत शेष नहीं रही किन्तु इसके विपरीत सं० दग्ध से प्रा० दद्ध हिं० दाध या सीधे अ० तत्० रूप दग्ध से दगध रूप विशेषणीय प्रयोग तक ही सीमित रहे हैं । अतः इनसे बने क्रियापद ना० धा० ही कहे जाने चाहिए । कग्रं से ना० धा० के उदाहरण ये हैं—

—आ युक्त रूप : √ पिरा (पिरांनी ३६०।४—पीर), √ बता (बतावै ४५।१५।२—बात), √ बिलला (बिललाई ३८।४।१ —विलाप > बिलाल—तुल० अव० बिललाति है), √ मंदा (मंदानी ४०१।१०—मंद), √ सिरा (सिराई ब० अ० ७२— शीतल > सीयर > सीर), √ सुहा (सुहाइ ३०२।३—शोभा > सोहा), √ दुरा (दुराई १०१।२—दूर) ।

कृदन्त रूप से : √ दाध (दाधा ४।७।१) √ दगध (दगध्या २४।६।१) ।

प्रतिपदिक रूप से : अंग (अंगिया ११।७।१), √ अनंद (अनंदिए ३६८।३), √ उदय (उदया ६।६), √ उपदेस (उपदेसा ८८।५), √ ओप (ओपै ३३५।२—देशी० ओप्प = चमक), √ काछ (काछ्यो २७८।२—काछ < सं० कक्ष = बनाना, सवारना), √ गरब (गरबियो १२ ८।१), √ चपेट (चपेटसी २७।२।२), √ चीन्ह (चीन्हैं १७।५।२), √ चोघ (चोघतां ४७।७।१—चोघ ∠ चक्खु ∠ चक्षु), √ त्याग (त्यागी २४६।७), √ घंघ (घंघं १२।२१ १), √ धीज (धीजौं १३।२३।१—धीज < धिज्ज < धैर्य), √ नमसकार (नमसकारूं ३३८।३) ।

इनके अतिरिक्त एक-आध उदा०- आव वाला भी मिल जाता है—

√अपणाव (अपणावै ३१३।३), √चितव (चितवैं २।६।२—चित्त) चितवै में —अव प्रत्यय है।

ना० धा० बनाने की प्रवृत्ति विदेशी शब्दों में भी है— √क़ाह (ऋाहै २८४।५=कराहै—क़राहत), √निवाज (निवाजे २७०।१०—नवाज़), √फुरमा (फुरमाया २५५।३=फ़र्माइश), √बकस (बकसहु १११।२ बख़्श)।

२.३८ सहायक तथा सत्तार्थक क्रिया

रूप रचना की दृष्टि से सहायक तथा सत्तार्थक क्रियाएं समान होने पर भी इनका प्रयोग भिन्न हैं। सहायक क्रिया (एक्ज़लरी वर्ब) जिस मुख्य क्रिया के साथ प्रयुक्त होती है, उसके द्वारा संकेतित कार्य की विधि, काल या प्रकार को व्यक्त करती है[१] तथा सत्तार्थक क्रिया (कपुला) वाक्य में उद्देश्य और विधेय के बीच के संबंध को व्यक्त करती है।[२] इस दृष्टि से कुछ लोगों द्वारा सत्तार्थक क्रिया (सहायक क्रिया से इसके प्रयोग भेद को मानते हुए भी) को सहायक क्रिया नाम देना भ्रमोत्पादक है।[३] कग्रं में इनके उदा० निम्नलिखित हैं —

सहायक क्रिया : इसके उपलब्ध रूप √अस् तथा √स्था धातुओं से संबद्ध हैं। √अस् वाले रूप तिङन्त हैं तथा √स्था वाले कृदन्त हैं।

'ह' मूलक तिङन्त रूप

हूं : वर्तमान उ० एक०। इसका विकास सं० अस्मि > आम्हि > हूँ के क्रम से हुआ है—कबीर कहता जात हूं २।१।१।

हौं : वर्त उ० एक० (<अस्मि)—कहता जात हौं २०।२५।१

हौ : वर्त० मध्य० एक० – कहत हौ ३६।७, षून करत हौ ५६।७। इसका

---

1. A verb used in combination with another verb, to express the mood, tense and aspect of action denoted by the main verb.'--Mario A. Pei : Dectionary of Linguistics, P. 23.
2. 'A word expressing the relationship between the subject and predicate of a sentence (The various forms of the verbs—to be or its equivelents are typical examples of copulas.)—ibid, P. 48.

३. सक्सेना, § २६०, पृ० २३३ तथा नामवर सिंह : पृथ्वी राज रासो की भाषा, प० ११६

प्रयोग 'तुम' कर्त्ता के साथ है जिसे मध्यम पुरुष बहुवचन का रूप माना जाता है ।[1] किन्तु 'तुम' एक वचन में खुलकर प्रयुक्त होता है ।

है : वर्त० अन्य० एक० (सं० अस्ति)—सब होत है ११।६।२, यह तन जात है १२।३६।१ ।

हैं : वर्त० अन्य० बहु०— कहते हैं २२।८।१, भीजत हैं ४१।४ ।

'थ' मूलक कृदन्त रूप

था : पीछैं लागा जाइ था १।११।१

थौ : आयी थी इहि हाटि ३१३।८ ।

सहायक क्रिया का एक प्रयोग 'बूद' (?) भी मिलता है—तहं गुसल करदा बूद २५८।७ । यह बिदेशी शब्द बहुल पद में मिलता है । सम्भवत: इसका मूल भारत-ईरानी कोई ऐसा रूप होगा जिससे एक ओर सं० भूत और दूसरी तरफ़ फ़ा० बूद का विकास हुआ है ।

सत्तार्थक क्रिया

सत्तार्थक क्रियागत √हो और √रह से संबद्ध रूपों का प्रयोग विस्तार से मिलता है—रांम कहे भला होइगा नहिं तर भला न होइ २।१।२, हौंस रही मन मांहि १।४।२, रहै निराला मांड थैं ३६।२।१; मन तो मैगंज ह्वै रह्या १३।२६।२, करता था तो क्यूं रह्या १३ २७।१—आदि ।

सं√अस् तथा √ऋक्ष् से बने रूप केवल वर्तमान तथा विधि काल में मिलते हैं—

उस संम्रथ का दास हौं ११।१७।१, समरथ हौ रांम राइ ३०६।४, इब तू हसि प्रभु मैं कुछ नांही ६५।१, गुरु गोविंद तौ एक है १।२६।१, भव सागर मैं जीव हैं । ३४।१।२, लोक बेद थैं अछै नियारा बारह० ३४, तन देवल ज्यूं धज आछै २९६।६, दांम छै पणि रांम नांही ३९०।३, देह छतां तुम मिलहु कृपा करि ३०५।८, अनेक बिगूचे मैं को आहि ३८४।३, अवर जीव जंत जे आहीं ब० अ० ८ ।

---

१. गुरु : हिन्दी ध्याकरण, § ३८७, पृ० २८२ ।

सं√भू से बने रूप केवल भूतकाल में प्रयुक्त हैं—

पंगुल भया १।१०।२, कहा भयौ १०८।२, पंवन सहाय लोभ अति भइया ब० अ० ६३—छंदोनु०, भली भई १।१६।१, षंषर भये पलास १२।८।२, जीव धरम हता २२२।२, जा दिन कृतम नां हुता ५।२८।१ ।

सं० √अस्था वाले रूप भी भूतकाल में अस्तित्व बोधक अर्थ में हैं—

नंद कहां थौ ४८।२, बूड़े थे १।२५।१, बिरहणि थी ३।३६।१, लीर लीर लोई थई २६।३।२ ।

उपर्युक्त सामान्य प्रयोगों के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट प्रयोग भी पाये जाते हैं—

सं०√स्था वाले रूप ब्रज—खड़ी० में भूत कृदन्त वाले ही मिलते हैं पर राज० में इससे बने अन्य कालों के रूप भी मिलते हैं। कग्रं में 'थासी' भविष्यत् का प्रयोग है—पड़सी काया गढ़ माटी थासी २४७।१ ।

सं०√भू वाले रूप भी हिन्दी की सभी विभाषाओं में भूतकालमें प्रयुक्त हैं पर कग्रं में √भू के धात्वंश 'भ' में भवि० अन्य०एक० का चिह्न—ला जोड़ कर 'भैला' रूप बनाया गया है—चंदन के ढिग बिरष जु भैला २७४।२।

सं० √ भू के निष्ठा रूप भूत से विकसित 'हता', 'हुता' जैसे रूपों के साथ 'होत', 'होता' जैसे रूप भी भूतकाल में प्रयुक्त हैं—जा दिन कृतम ना हुता होता हट न पट ५।२८।१ (=जिस दिन किया हुआ (संसार) नहीं था (और) हाट-पाट (भी) नहीं था), रावन होत लंक कौ छत्रपति पल मैं गई बिहात ४००।५ (=रावण लंका का छत्रपति था (किन्तु समृद्धि अथवा माया) पल (भर) में छोड़ते (हुए चली) गई ।) इन रूपों को —ता (शतृ) प्रत्ययान्त न मानकर सं० भूत > हूत > होत के क्रम से मानना ठीक होगा ।

२.३६ क्रियापदों की रचना

समापिका :

तिङन्तवर्ग—वतमान, आज्ञा, विधि, संभावना तथा भविष्यत्

कृदन्तवर्ग : वर्तमान कृदन्त+सहायक क्रिया भूतकृदन्त तथा भू०कृ०+सहायक क्रिया।

असमापिका : अपूर्ण क्रिया द्योतक, पूर्णक्रिया द्योतक, पूर्वकालिक तथा क्रियार्थक संज्ञा।

२.४०. वर्तमान निर्देशक प्रकार (प्रेजेंट इण्डिकेटिव)

१. उत्तम पुरुष एकवचन :—उँ,—हुँ,—ऊँ, —औँ तथा बैक०—ओँ, —यूँ,—हौँ।

प्राभाआ में वर्त० उ० पु० एक० का चिह्न—मि या —आमि मिलता है जो प्राकृत में भी—अमि, —आमि रूप में प्राप्त है। अप० में ये रूप—अउँ —अउ में विकसित हो गए। नभाआ में अप० —अउँ के भाषा भेद से कई विकास मिलते हैं। चाटुर्ज्या ने —मि या —आमि से—अउँ की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है[१]—

—आमि > प्रा०—आमि, —अमि > अप०*अविँ, —*अउइँ,—अउँ। (उदा० करोमि,*करामि > प्रा० करामि, करमि > अप०*करविँ,*करउइँ, करउँ)। बीम्स—अउँ की व्युत्पत्ति उ० पु० एक० से न मानकर ब० वचन—आमः से मानते हैं। वे उ० पु० एक० और बहुवचनों में व्यत्यय स्वीकार करके बहु० —एँ की व्युत्पत्ति—आमि से मानते हैं।

इनमें—मि वाले रूप प्राकृत काल तक सीमित रहे। अप० में—अउँ —अउ मिलने लगते हैं। पुरानी हिन्दी में—मि और —अउँ वाले दोनों रूप, मिल जाते हैं[२]। —मि वाले रूप निश्चय ही पुराने प्रयोग हैं। पुरानी हिन्दी की रचना उक्ति० व्यक्ति० में केवल—अउँ मिलता है।[३] मध्यकालीन हिन्दी में ब्रज में इसके चिह्न—औँ, —ऊँ, —ओँ हैं।[४] अवधी में —अउँ,—औँ,

१. चाटुर्ज्या : उक्ति०, स्टडी, § ८१, पृ० ५७।

२. संदेशरासक, § ६२ तथा प्रा० पैं० § १०४ (५)

३. उक्ति०, § ७१

४. ब्रजभाषा § २११

—अहुँ है।[1] पूर्वी राज०, ढोला मारू०[2] और खड़ी० में—ऊँ रूप मिलता है।

इस दृष्टि से कग्रं की भाषा पूर्वी तथा पश्चिमी हिन्दी के दोनों रूपों का परिचय देती है। यहां राज०, ब्रज, खड़ी० के समान रूप—ऊँ : आऊं ६।१४, आचरूं ३।३३।१, करूं १।५।१, जीऊं २५६।१, धरऊं १०७।१, जाऊं ३।३६।१, पढ़ूं १४७।५, पाऊं ३।१७।२, पीऊं ५०।५।१; अवधी तथा ब्रज के समान रूप—औं (अवधी के प्रसंग में संयुक्त स्वर अउँ) : आवौं १।१२।२ करौं ३।१२।१, चाषौं २।२, पठवौं २२।६ (तथा लिपि भेद से करउं १०७।१, जाउं ११।१४।२, देउं ११।२।२) मिलते हैं।—ओं का अत्यन्त सीमित प्रयोग है जो अवधी का संकेत है—ल्यावों २२।५।

इन मुख्य प्रयोगों के अतिरिक्त —हौं : आहौं ७७।२; —हुँ : कन्हुं १६६।५ तथा—यूँ : मेल्यूं ३।२३।१ जैसे रूप मिलते हैं। इनमें—हौं रूप लिपि की अशुद्धता जनित है—सम्भवतः आइहौं (भवि०)। —हुँ तथा—यूँ रूप क्रमशः अवधी तथा राज० के विशिष्ट प्रयोग हैं।

२. **उत्तम पुरुष बहु वचन** : उ० पु० बहु० सर्वनाम हम एक आध स्थलों पर ही बहु० में प्रयुक्त हैं—१२।२५।१, ४३।८।१। इनमें एक प्रयोग—हम जांह ४३।८।१ मिलता है जो वास्तव में जाहिं हैं जिसे बांह का तुक मिलाने के लिए जांह कर दिया गया है। यह —हिँ चिह्न और वर्त० अन्य० बहु० के चिह्न—हिँ में रूप की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है।

३. **मध्यम पुरुष एक वचन** : —इ,—ए,—ऐ,—सि,—हि,—हु,—ओ,—ह।

हिन्दी में मध्य० पु० एक० और बहु० के रूपों का घालमेल हो गया है, पुरानी ब्रज के प्रसंग में डा० वर्मा ने इसका संकेत किया है।[3] इस दृष्टि से कग्रं के मध्य० पु० एक० के रूपों में—सि,—हि,—इ,—ए,—ऐ ऐतिहासिक दृष्टि से एक० के हैं जबकि—हु,—ओ,—ह रूप बहुवचन के हैं।

प्राभाआ में मध्य० एक० का चिह्न —सि है जो मभाआ की प्रथम अवस्था तक अपरिवर्तित रहा लेकिन अप० में —हि हो गया। तगारे ने

१ सक्सेना § ३०१

२. ढोला०, पृ० ३८६, ५०७, ५१०

३. ब्रज भाषा, § २११, पृ० ९५

बताया है कि पूर्वी अप० में —सि रूप मिलता हैं जबकि दक्षिणी में—हि वाले रूप अधिक हैं। बाद में संस्कृत के प्रभाव से मराठी में भी —सि वाले रूपों का चलन बढ़ गया।[1] उक्ति०[2] और प्रा० पै०[3] में—सि रूप ही प्राप्त होता है। दूसरी ओर प्रा० प० रा० में—अइ,—अइँ वाले रूप अधिक हैं,—सि वाले कम। इसे तेस्सितोरी ने जैन प्राकृत का प्रभाव माना है।[4] मध्य० हिन्दी में —सि वाले रूप पुरानी अवधी में मिलते हैं[5] जब कि वर्तमान अवधी में ये लुप्त हो चुके हैं।[6] ब्रज में पुराना रूप—अहि और वर्तमान—ऐ मिलता है।[7] खड़ी० में इसका रूप—ए वाला है।

इस दृष्टि से कग्रं में मध्य० पु० एक० की क्रिया में पूर्वी हिन्दी के —सि: कथिसि ब० अ० ४८, करसि २४९।१, जरसि सत० ३५, भूलसि २९६।४ तथा पश्चिमी हिन्दी के —इ : जोइ ३९१।२, धोइ १२।५३।२; —हि : जपहि ३९।२;—ए : करे २१११।१;—ऐ : करै २।१२।१ रूप मिलते हैं। —इ रूप —सि > —हि > —इ के क्रम से तथा —ए,—ऐ वाले रूप धातु के अन्त्य स्वर—अ + —इ की संधि से बने हैं। —ए—ऐ वाले रूप —सि तथा —इ की अपेक्षा आनुपातिक दृष्टि से बहुत कम हैं।

प्राभाआ मध्य० बहु० का चिह्न—थ प्राकृत में—ह हो गया। अप० में—अहँ,—अह,—अहु में इसका विकास हुआ। नभाआ काल में पुरानी अवधी में —अहु[8] तथा ब्रज में —ओ,—औ[9] वाले रूप मिलते हैं। कग्रं में अवधी वाले—हु : जपहु १२८।१, देहु अष्ट० ५, बकसहु १११।२, बजावहु ब० अ० ५३, बसहु १६४।७ तथा ब्रज वाले—औ : दरबौ दुप० १०, चाहौ १७०।१, पूजौ १२७।७ पकरौ २९२।५ दोनों ही रूप मिलते हैं। अप०—अह से बने रूप—ह वाले प्रयोग भी एकाध स्थलों पर मिल जाते हैं—लेह २९२।१। —ह रूप निश्चय ही पुराना प्रयोग है।

४. अन्य पुरुष एकवचन : —शून्य,—इ,—हि,—ए,—ऐ।

प्राभाआ में वर्त० अन्य० एक० का तिङ् चिह्न—ति है। इसका—अइ और—इ विकास प्राकृत में हुआ और यही रूप अप० तथा पुरानी हिन्दी में

---

१. तगारे, § १३६, पृ० २८८; २ उक्ति०, § ७१; ३. प्रा० पैं० § १०४ (३); ४. तेस्सितोरी, § ११७; ५ सक्सेना, § ३०१; ६. वही, § ३०२; ७. ब्रजभाषा, § २११; ८. सक्सेना, § ३०१; ९. ब्रजभाषा, § २११.

में चले आए। संदेशरासक,[१] उक्ति०[२] वर्ण०[३], प्रा० पैं०[४] में—अइ रूप मिलता है :—अइ रूप प्रा० प० रा०[५] और अवधी[६] में भी प्राप्त हैं। सक्सेना ने बताया है कि तुलसी और जायसी में—अहि वाले सप्राण रूप अधिक हैं जबकि परवर्ती सूफ़ी कवि नूर मुहम्मद में केवल—अइ प्राप्त है।[७] पुरानी व्रज में भी —अइ तथा—ऐ रूप मिलते हैं।[८]

कग्र इन रूपों की दृष्टि से पूर्वी और पश्चिमी दोनों विभाषाओं का परिचय देती है। यहाँ ठेठ अवधी वाले —हि : कथहि ३३६।५, देहि १७।७।२, परहि दु० ४१, मोड़ही ३।१९।२ (छंदो० दीर्घ०), आहि १४।२ और खड़ी० वाले धातु के अन्त्य —अ+—इ की संधि से बने—ए : जाने २८५।१, पड़े ३।७।१, सुमिरे २।७।१ दोनों ही मिलते हैं। साथ ही पूर्वी और पश्चिमी हिन्दी के समान रूप—इ तथा—ऐ (व्रज के संदर्भ में विवृत उच्चारण और अवधी के संदर्भ में संयुक्त स्वरमूलक) भी प्राप्त हैं: षाइ ३।२८।२, बिकाइ १२।५८।१, आइ १२।५८।२, होइ १२।५५।२, पतियाइ ८।३।२, भोगइ १६।३।२ तथा आवै २६।२।२, आंणै ४५।१०।२, आदरै ५८।२।२, उच्चरै ३३०।८, उठै ५।४६।१, उपजै ५।४४।१, ऊगै ३१।१०, बोलै ६१।३, डोलै ६१।३।

इस वर्ग में —शून्य रूप भी पाया जाता है। ऐसे रूप उक्ति०[९] तथा अवधी[१०] में प्राप्त हैं। इनके बारे में बताया गया है कि या तो ये शुद्ध धातु रूप का वर्त० अन्य० एक० के लिए प्रयोग हैं या —ति >—इ >—अ के क्रम में —इ का लोप हुआ है। चाटुर्ज्या दूसरा मत मानने की सलाह देते हैं।[११] कग्र में ये कुछ ही प्राप्त होते हैं—उचार १।४, रह ५८।७।

—ऐ रूप प्रयोग में सर्वाधिक हैं, —हि,—इ वाले काफ़ी कम हैं —शून्य की संख्या नगण्य है तथा—ए रूप केवल नमूने के प्राप्त होते हैं।

अन्य० एक० की तिङन्त क्रिया के साथ सहायक क्रिया 'है' तथा 'था' के योग से सामान्य वर्तमान और अपूर्ण भूतकालों के निर्माण की पद्धति भी कग्र में पाई जाती है। लेकिन इसके केवल तीन ही उदाहरण मिल सके हैं। ऐसे

---

१. संदेश०, § ६२; २. उक्ति० § ७१, ३. वर्णरत्नाकर § ४७; ४. प्रा० पैं० § १०४; ५. तेस्सितोरी, § ११७; ६. सक्सेना, § ३०१; ७. वही § ३०१; ८. व्रजभाषा § २१०; ९. उक्ति० § ७१; १०. सक्सेना, § ३०१; ११. उक्ति § ७१।

प्रयोग पुरानी राज०[1] (भमइ छइ) तथा व्रज[2] (चलै है) में मिलते हैं। मध्य-काल में पछांही विभाषा में तिङन्त और कृदन्त दोनों रूपों के साथ सहायक क्रिया का प्रयोग मिलता है जबकि अवधी में यह प्रवृत्ति स्वल्प है। अवधी में केवल कृदन्तों के साथ सहायक क्रिया प्रयुक्त मिलती है। दो तिङन्तों का प्रयोग पश्चिमी विभाषाओं की खास विशेषता है। कग्रं के उदा० ये हैं—ब्यंद राषि जे षेलै है भाई १३२।४, लागा जाइ था १।११।१, मैं जाइ था ५।३७।१।

५. अन्य पुरुष बहुवचन : – ईं, — हिं, — हीं, — एं, — ऐं

प्राभाआ में अन्य० बहु० का चिह्न—अन्ति मिलता है जो प्राकृत में अपरिवर्तित रहा और अप० में—अहिं रूप में दिखाई देता है। पुरानी हिन्दी तक आते-आते क्षेत्र भेद से इसके रूपान्तर चल पड़े। प्रा०प०रा०में—इं,—हि और—अइ रूप मिलते हैं।[3] पुरानी व्रज भाषा में—ऐं मिलता है और अवधी में—अहिं तथा—अइं। यहाँ भी सप्राण रूप एक वचन रूपों की भाँति जायसी—तुलसी में अधिक हैं, नूरमुहम्मद में कम।[4] कग्रं मैं—हिं,—हीं वाले अवधी रूपों के साथ—ऐं वाले विवृत स्वर मूलक व्रज के रूप भी मिलते हैं। एकाव स्थलों पर—एँ खड़ी० का रूप भी प्राप्त है। —इं वाले रूप अवधी में परवर्ती विकास है इसलिए कबीर के सदर्भ में इन्हें प्रा०प०रा० से जोड़ना होगा क्योंकि उस समय तक इन रूपों की प्राणता लुप्त नहीं हुई थी, तुलसी—जायसी के प्रयोग इसके प्रमाण हैं।

—हिं : आवैंहि १३७।१, करहिं ३७।४, जाहि ५।३६।२, पढ़हि ३८६।२।

—हीं : जाहीं ४२।६, अनषाहीं १६०।८—ये रूप—हिं के बलाघात जनित उच्चारण हैं।

—ऐं : आवैं सत० २४, उनवैं ब० अ० २२, उपजैं १७६।४, करैं १६।१६।२, कहैं ६।१।१, पुकारैं १९७।५।

—इं : जाईं २६६।१८, पावईं ३।११।२। ये रूप भी बलाघात जनित हैं।

---

१. तेस्सि० ,§ ११७; २. ब्रजभाषा, § २१०; ३. तेस्सितोरी, § ११७; ४. सक्सेना, § ३०१।

—एँ : पीवें १७।१२।१ ।

२.४१. **आज्ञा प्रकार** (इम्परेटिव मूड)

कग्रं में इसके मध्यम पुरुष एक वचन के निम्नलिखित रूप मिलते हैं : —शून्य, —इ, —हि, —ह, —हु, —उ, —व, —ओ, —औ । ऐतिहासिक विकास क्रम में मध्य० एक० के रूपों में बहु० के रूप भी मिल गए हैं ।

१.—शून्य : धातु रूप तथा वर्तमान आज्ञार्थ के मध्य० एक० रूपों की एकता समस्त भारतीय आर्य भाषाओं में पाई जाती है ।[1] शून्य रूपों का विकास वर्त० अन्य० एक० के शून्य रूपों की भाँति—ति >—इ >—अ के क्रम में माना जाता है । यह भी सम्भव है कि ये प्राभाआ—अ (√पठ्—पठ, √भू—भव) से विकसित हों। प्राकृत काल में धातु के अजन्त होने से—अ >—शून्य हो गया है । कग्रं में इनके उदा० ये हैं : चयंत ३६।१, दे ३।३५ १, धार ५।८, रह २५८।१०, लाद २३४।५ ।

२. - इ तथा—हि : इसकी उत्पत्ति प्राभाआ के विकरण हीन धातु (एथेमेटिक रूट) के आज्ञा० मध्य० एक० के तिङ् चिह्न—धि (जुहुधि) से मानी जाती है ।[2]—इ—हि का प्राणता रहित रूप है । प्रा० पैं० में—इ तथा हि दोनों रूप मिलते हैं[3], अवधी में—हि रूप तुलसी में प्राप्त हैं[4], प्राचीन ब्रज में—इ तथा—हि दोनों तरह के रूप हैं[5] जिनमें—हि रूप केवल दीर्घ स्वरांत धातुओं में ही मिलते हैं जबकि तुलसी में ह्रस्व स्वरांत धातुओं में भी यह पाया जाता है—"बेगि प्रिया परिहरहि कुवेसू ।" कग्रं में—हि केवल दीर्घ स्वरांत धातुओं में प्राप्त हैं—आंणि ३५।५।१, उठाइ २८।१० २, करि ११।१८।२, ग्रहि ३२६।६, चढ़ि १२६.८, पाइ ५।१८, बिलोइ ३५४।१, न्हांहि ३६१।६, सबाहि ४५।१।२ ।

३.—ह,—हु,—उ : —ह तथा—हु का संबंध संस्कृत के आत्मने पदी आज्ञा० मध्य० एक० के रूप—स्व (—ष्व) से जोड़ा जाता है ।[6]

---

१. ब्रजभाषा § २१५ २. तगारे, § १३८;

३. प्रा० पैं० § १०५; ४. सक्सेना, § ३०८,

५. ब्रजभाषा § २१५, ६. प्रा० पैं० § १०५,

तगारे ने इन्हें प्राभाग्रा के कल्पित रूप—*अथु (—थ वर्तमान मध्य० बहु० तथा—तु आज्ञा० उ० एक० के योग से) से जोड़ा है।[1] सक्सेना अवधी—उ,—अहु को सं० वर्त० मध्य० बहु०—थ >—ह>—हु>—उ के क्रम से विकसित मानते हैं।[2]—हु और —उ प्रत्यय प्राचीन व्रज में भी पाये जाते हैं जहाँ वे केवल दीर्घ स्वरान्त धातुओं में ही मिलते हैं।[3] ऐसा अनुमान होता है कि —हु,—उ वाले रूप सं—स्व०>प्रा० स्सु>—सु>—हु>—उ के क्रम से आए हैं।[4] तथा—ह वाले रूपों का विकास सं० —थ>—ह के क्रम से हुआ है। कग्र' में इनके उदा० ये हैं: —ह : देह ३५।१४।२, होह ३।१; —हु : लेहु २६६।३, करहु १४६।१०, गावहु १।१, चलहु ३७८।४;—उ : चलु ३०२।१, कहु १६।३२।२, देहु २८।६।२, रहुरहु ३।३६।२।

४. —ओ तथा—औ : ये दोनों रूप—उ वाले रूपों से संधि प्रक्रिया से बने हैं। संवृत स्वर मूलक—ओ खड़ी० तथा पूर्वी राज० के हैं तथा विवृत स्वर मूलक—औ व्रज की प्रवृत्ति के संकेत हैं: —ओ : जलावो २३६।१, बताओ ५२।३;—औ : उठावौ ७८।४, उतारौ ५६।४।२, करौ ३४।२।१, कहौ ३।२१।१, चलौ १३४।१, छावौ ७८।३।

५. —व : ये रूप—उ वाले रूपों के श्रुतिगत प्रयोग हैं जो अवधी की विशेषता हैं: आव ११।२।१, षाव ३।१६।२, जाव २।१८।२ पीव ५०।५।१, लाव ४६।२७।१।

आज्ञा के रूपों का कहीं-कहीं अवधारण के लिए द्वित्व भी कर दिया गया है: चलि-चलि ३८८।१, चलौ-चलौ १४४।१, रहु रहु ३।३६।२

२.४२. **विधि प्रकार (आप्टेटिव मूड)**

	एक०	बहु०
उ०पु० :	—ऊँ, —औं	×
मध्य०पु० :	—इयै, —इये, —इए, —ईजै,	×

---

१. तगारे § १३८ २. सक्सेना § ३०८
३. व्रजभाषा, § २१६ ४. पिशेल, § ४६७

—ईजो,—ईजिए,—ईजियै,
—ऐ,—हि

अन्य०पु० :—शून्य,—ए,—ऐ,—इ—हि, —हिँ,—हीं

उपर्युक्त रूपों के ऐतिहासिक विकासक्रम पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि उत्तम पुरुष एक तथा बहुवचन और अन्य पुरुष एक तथा बहुवचन के रूप वर्तमान निर्देशक प्रकार के इन रूपों से भिन्न नहीं हैं। इसी तरह मध्य०एक० के रूपों में भी—ऐ,—हि, रूप भी वर्त० निर्देशक के हैं।

इन सभी का सम्बन्ध सीधे वर्त०निर्दे० के रूपों से है जो आगे चल कर विध्यर्थ में भी प्रयुक्त होने लगे। कग्रं में इनके उदा० ये हैं—

उ०एक०—डरौं ६६ १,छाऊं ३६१।३। मध्य०एक०—डरै ३५।१२।१, जाहि १४६।१ ; अन्य०एक०—दे ४३।१।१, उतरे ५०।६।२, उतारै ४५।१६।२, षाइ ५५।६।२, होय अप्ट०४१, जाहि अन्य०बहु०—जाहिं ५०।७।२, लहैं १६६।१७। ११।६।२ ;

ऐतिहासिक दृष्टि से विधि के रूप प्राभाआ के विधि चिह्न—या से सबंद्ध हैं जिसका मभाआ में दुहरा विकास मिलता है। परिनिष्ठित प्राकृत तथा परिनिष्ठित अपभ्रंश में पिशेल ने—ऐज्ज रूप बताया है पर वैभाषिक प्रवृत्ति—ऐय्य वाले रूपों की भी रही है।[1] ये—ऐज्ज,—ऐय्य रूप ही—इज्ज,—इय्य होकर अप० में मिलते हैं।[2] अप० में आकर विधि और कर्मवाच्य के रूप एक हो गए क्योंकि प्राभाआ कर्मवाच्य चिह्न—य भी—ऐय्य,—ऐज्ज के क्रम से—इय्य,—इज्ज रूप में मिलता है। इससे आगे चलकर विधि और कर्मवाच्य के रूपों में स्पष्टता नहीं रह गई। खड़ी में—इय,—इज, वाले रूप कर्मवाच्य में नहीं आए। ये रूप केवल विधि तक ही सीमित रहे। अवधी, ब्रज आदि सभी जगह इन्हीं—इय्य और—इज्ज के दुहरे स्रोतों वाले रूप मिलते हैं। कग्रं में इनके उदा० ये हैं—

—इये : ∠—इयइ∠—इय्य+—इ∠—ऐय्य+इ∠—य+ति
कहिये ३१।२।२, चालिये १३।१।१, ठगिये ५४।८।१, षइये १७८।३
—इयै : ∠इयइ (संधिज विवृत रूप)

---

१. पिशेल, § ४६२,   २. तगारे, § १४१

अनंदियै ३६८।।३, जरियै ब० अ० १०३।

—इए : श्रुति रहित रूप

करिए २६।३।१, चीन्हिए ५।५, जाइए ४२।१।१

—ईजिए : ∠ईज+अइ∠—इज्ज--∠—ऐज्ज—<—य+ति

कीजिए २५।२।१

—ईजियै : <ईज+अइ (संधिज रूप)

पीजियै ४।१०

—ईजै : <—ईज+इ

करीजै २८।२।१, कीजै २६।५।१, कहीजै २१।१।१, जांणीजै ३३।६।४, लीजै ५।७।

—ईजो : <ईज+उ<—य+तु:

लीजो २७५।७

२.४३ संभावना प्रकार (सब्जंक्टिव मूड)

इसके सभी पुरुष और वचनों के रूप वर्तमान निर्देशक से अभिन्न हैं। केवल वाक्यगत अर्थ का अन्तर है। वाक्य में जो, जे (यदि) आदि जोड़कर संयोजक प्रकार की व्यंजना कराई जाती है। यह प्रवृत्ति पुरानी हिन्दी की रचनाओं में भी पाई जाती है—एक सेर जइ पावउँ घित्ता, मंडा बीस पकावउँ तित्त (प्रा० पैं० १.१३०)। कग्रं से उसके कुछ उदाहरण ये हैं—

उ० एक० : ऊबरौं ४६।८।२, सीचौं ५८।३।१, कहूं ८।१।१; मध्य० एक० चीन्हसि १३२।१, राषिए ३६२।१३, सकहु २८९।१ अन्य० एक० : आवै २।२०।१, षूटै २१५।२; जाइ ६।४।१, अन्य० बहु० : चढ़ैं ५।४६।२, मरें ४१।८।२।

२.४४. भविष्यत् (फ़्यूचर)

१. 'ह' मूलक

उ० एक० : हौं : करिहौं ३८९।।४, डूबिहौं ३।४३।२

हूँ : षैहूं २२७।२, चढ़िहूं २३०।६, जैहूं २९०।५, दैहूं ३।१

उ० बहु० हैं : मरिहैं ४३।४

मध्य० एक० : हौ : करिहौ १०७।४, जैहौ ५२।१, धरिहौ ५७।६, छूटियौ ४५। २।१-वैक०

अन्य० एक० : है : करिहै ६२।४, षैहै ७७।६, दैहै १०८।६, पाइहै १६६।७

अन्य० बहु० : हैं : षैहैं ८५।६, गैहैं ८५।६

२. 'स' मूलक

उ० एक० : स्यूं : षेलिस्यूं ५६।१।२

अन्य० एक० : सी : आइसी २४७।२, जासी २४७।२, देसी ७।१, लेसी ४५। २५।२, होसी २८।२।२

३. 'ब' मूलक

मध्य० एक० : बौ : कहिबौ १३१।१, रहिबौ १३१।१

४. 'ग' मूलक

उ० एक० : गा : आऊँगा ३११।१, कहूँगा ५६।१।२
गी : देषौंगी ३०५।१

उ० बहु० गे : कहैंगे ८।५।१

मध्य एक० : गा : सोवैगा २।१०।२, पछिताइगा २०।६।२
गौ : चलैगौ ३१३।२, पछितावैगौ २४४ १
गी : करौगी २७०।६

मध्य०बहु० : गे : छूटौगे २१७।१, देहुगे ३।७।२, लेहुगे ३।१०।२ आदर०।

अन्य०एक० : गा : आवैगे ३४८।६, जाइगा ४१।११।२ ।
गौ : जाहिगौ ८८।१ ।
गी : जांणैंगी ३।३८ २ लागैगी ३८८।५ ।

अन्य०बहु० : गे : आवैंगे ३०६ १ ।

५. 'ल' मूलक

अन्य०एक० : ला : कहैला २७४।५, ह्वैला २७४।२, भैला २७४।२ ।

भविष्यत् के रूपों की दृष्टि से कग्रं की भाषा बड़ी समृद्ध है। उपर्युक्त तालिका में अवधी, व्रज के 'ह' वाले, अवधी, भोजपुरी के 'ब' वाले, राजस्थानी के 'स' तथा 'ल' वाले और खड़ी०, व्रज के 'ग' वाले रूप मिलते हैं।

'ह' मूलक रूप सं० लृट्—ष्य > प्रा० स्स > स > ह के क्रम से आए हैं। भवि० चिह्न 'ह' के बाद पुरुष और वचन के अनुसार तत्तत् प्रत्ययों का योग है।

'ब' मूलक रूप सं० के कर्मवाच्य के भविष्यत् कृदन्त—तव्य या—इतव्य > प्रा० अव्व > अब्ब > अब > ब के क्रम से आए हैं। —बौ० रूप अवधी का मध्य० एक० का है।[1] कग्रं में ये दो-चार प्रयोग ही हैं।

'स' मूलक रूप सं० —ष्य > स्स > स के क्रम से आए हैं। इनमें उ० एक० रूप—स्यूँ < सं० ष्यामि तथा अन्य० एक० रूप—सी < ष्यति से संबद्ध है।

'ल' मूलक रूप राजस्थानी में मिलते हैं। ढोला० की भाषा में इनका प्रचुर प्रयोग है।[2] ये मभाआ के —इल्ल प्रत्यय से संबद्ध बताए जाते हैं। कग्रं में ये नमूने के तौर पर मिलते हैं।

'ग' मूलक खड़ी० के रूप हैं।—गौ प्राचीन व्रज का संकेत देता है तथा यें दक्खिनी की रचनाओं भी पाए जाते हैं।[3] ये वर्त० की क्रिया के साथ स √ गम् के भकृ० रूप गत > गअ > गा के योग से बने हैं—वर्त० उ० एक०—आऊँ + गा।—गा पुं०, —गी स्त्री० तथा—गे बहु० के रूप हैं।

२.४५ **कर्मवाच्य**

(१) संस्कृत में भूत० कृ० से बने रूप कर्मवाच्य के होते थे। आगे चलकर सकर्मक क्रियाओं के रूप तो कर्मवाच्य के बने रहे पर अकर्मक भूत० कृ० रूप कर्तृवाच्य में भी प्रयुक्त होने लगे। नभाआ काल में क्रियाओं के भूतकाल में तीन रूप मिलते हैं—अकर्मक क्रियाओं का कर्त्तरि प्रयोग जिसमें—क्रिया कर्त्ता के विशेषण का कार्य करती है, सकर्मक क्रियाओं का कर्मणि प्रयोग जिसमें क्रिया कर्म के विशेषण का कार्य करती है तथा भावे प्रयोग जिसमें क्रिया

१. सक्सेना, § ३०५; २. ढोला०, भूमिका, पृ० १५५;
३. सक्सेना : दक्खिनी हिन्दी, पृ० ५८

स्वतंत्र रूप में रहती है और उसका कोई कर्म न रहने के कारण कर्म की जगह सम्प्रदान का प्रयोग होता है।[1] सकर्मक भूत के कर्मणि प्रयोग मध्य देशीय तथा पश्चिमी नभाश्रा भाषाश्रों की प्रमुख विशेषता हैं। हिन्दी के संदर्भ में कर्मणि प्रयोग पूर्वी और पश्चिमी विभाषा के बीच प्रमुख भेदक तत्त्व है। पश्चिमी हिन्दी में कर्मणि प्रयोग चलते हैं जबकि पूर्वी में भूतकृ० के साथ पुरुषवाची प्रत्यय जोड़कर कर्त्तरि प्रयोग बना लिए जाते हैं। कग्र की भाषा का झुकाव ऐसे कर्मणि प्रयोगों की ओर है जबकि नमूने के लिए पुरुषवाची प्रत्ययों के योग वाले कर्त्तरि प्रयोग भी मिल जाते हैं—

कर्त्तरि प्रयोग : रांम नांम जाण्यौं नहीं १२।३१।२, कहै कबीर सरनाई आयौं ११२।८, पूत जन्यूं ब्यौहारी २३१।२--स्त्री० प्रयोग।

कर्मणि प्रयोग : पुं० एक० कर्म० : उतारा सूहौ० १०, उठावा सूहो ० ६, कह्यौ २६५।१; छाड़यौ ६२।६, छाया १०४।१, छावा १७३।१३, जोर्यौ ६२।५।

पुं० बहु० कर्म० : कीये ११।१३।१, काटे ३४२।४, काढ़े २४।२६।१, षाये १२।१, घड़िया २६८।३, घड़े ५५।४।

स्त्री० एक० कर्म० : उतारी १६।६।२, करी ४।८।२, कीन्हीं १।३५।२, कही ३१।५।२, काढ़ी २५१।६, षाई ११।३. छाड़ी ४५।२३।१, दीठी सत० १३।

भूकृ० के अनेक चिह्न मिलते हैं जिनका पूरा विवरण भूतकृ० के अनुच्छेद में दिया गया है।

भावे प्रयोग : सकर्मक क्रियाओं के भूतकालिक कृदन्तों का भावे प्रयोग भी मिलता हैं जहाँ क्रिया सदैव पुं० एक० में रहती है : दीन गरीबी दीन कौं दूंदर कौ अभिमांन ४१।१२।१।

(२) प्राभाश्रा के कर्मवाच्य चिह्न—य का विधि वाले चिह्न की भाँति दुहरा विकास मिलता है—ऐय्य और ऐज्ज। इन्हीं से अप० के इय्य और इज्ज रूप विकसित होकर नभाश्रा में कहियइ, लीजियइ जैसे रूपों में मिलते हैं।

---

१. चाटुर्ज्या : भा० आ० हिं, पृ० १३१।

पुरानी हिन्दी में—इय,—इज्ज रूप प्रा० पैं० में मिलते हैं।[1] संदेशरासक में—इय, —ईय,— इज्ज तीन प्रकार के रूप हैं।[2] इन्ही प्रत्ययों के आधार पर चाटुर्ज्या ने क्षेत्र भेद से मिलने के कारण दो वर्ग बनाए हैं—इज्ज वर्ग में राजस्थानी और—ईय वर्ग में पंजाबी, पुरानी बंगला और पुरानी कोसली आदि।[3] कग्रं में मिलने वाले —इय रूप कोसली और पुरानी खड़ी बोली से संबद्ध हैं। इज्ज वाले रूप कर्मवाच्य में बहुत कम मिलते हैं। इन प्रत्ययों के योग से अकर्मक क्रियाओं से भाववाच्य और सकर्मक से कर्मवाच्य का निर्माण होता है :

—इये : कथिये १८०।६, ग्रबइये ९३।१, चीरिये २५।४।२, दाझिये ३६८।२, निस्तरिये २६७।१, परिये २६७।१, पाइये, २।२७।२, पइये १९२।४, पेषिये अष्ट० १२, बहिये १८०।२, बिगूचिये ३६८।२।

—इए : पठाइए १४।२।२, रोइए ७५।४।

—इयै : जरियै ब० अ० ९०, जांनियै १२१।१३।

—ईजै : कीजै २७५।५, पूजीजै २७५।५, दीजै २७६।५।

(३)—इय प्रत्यय वाले रूपों के दो भेद मिलते हैं—एक—ति >—इ से युक्त जिनकी चर्चा ऊपर की गई है और दूसरे—त (शतृ) से युक्त। शतृ प्रत्यय युक्त रूप मध्यकालीन ब्रज, अवधी में बहुत मिलते हैं। वर्तमान कन्नौजी तथा कन्नौजी से लगे हुए अवधी क्षेत्र—हरदोई से पूर्व नैमिषारण्य तक—त युक्त कर्मवाच्य रूपों का प्रयोग वर्तमान निर्देशक की भाँति होता है।[4] कग्रं में इसके कुछ उदा० ये हैं—

कहियत २५४।४, देषियत १४९।५. पईयत ८७।५, मुसियत २९२।४।

(४) कग्रं में—आन, —आना, —आनी, —आनिया, —आनी, —आनै प्रत्ययों के योग से भी कर्मवाच्य का निर्माण किया गया है—

—आन : भुलांन सत०१;—आना : उड़ानां २९६।१७, उरझाना ३८।४, डरांनां १४४।५, नसानां ७२, बिलांना १३३।५, भुलानां ३४।६, हिरानां

१. प्रा० पैं० § १०९; २. संदेशरासक § ७७;
३. उक्ति० § ७२, ४. सक्सेना § २९६।

२३४।८;—ग्रानिया : भुलानिया बारह० १२;—ग्रानौ : पुटानौं ३८३।६, बिकानौ ८६।४, हिरानौ ३७८।१;—ग्रानी,—ग्राणी : बिहानी ६।२, मंदानी ४०१।१०, मिलानी १६८।३, लपटानी १७६।२, समानी ७।३।२, सिरानी ३६०।४ उड़ाणी ५।२०।१, बिहाणी १६७।२, समाणीं ५।२२।१;—ग्राने, —ग्रानै : पछिताने ३२४।२, लपटाने १७५।४, तुरानैं ब० ग्र० ३१, भुलानैं ब० ग्र० १४।

उपर्युक्त रूप दो प्रकार के हैं—कुछ तो ऐसे कर्मवाच्य रूप हैं जिन्हें कर्तृवाच्य रूप - मूलधातु के साथ—आ विकरण जोड़कर कर्मवाच्य बनाया गया है तथा कुछ नामधातु जनित क्रिया रूप हैं जिन्हें उपर्युक्त प्रथम कोटि के कर्मवाच्य रूपों की तरह ही प्रयुक्त किया गया है। ये दोनों ही रूप ग्रवधी की खास विशेषता हैं। सक्सेना ने जायसी, तुलसी ग्रौर नूरमुहम्मद से इनके उदाहरण दिये हैं।[1] यद्यपि —ग्रा विकरण प्रेरणार्थक बनाने में भी प्रयुक्त होता है किन्तु नामधातुग्रों में प्रयुक्त —ग्रा इस दृष्टि से भिन्न माना जा सकता है कि इसके योग से नामधातु ग्रकर्मक ग्रर्थ का बोध कराते हैं जबकि प्रेरणा से सकर्मक का ग्रर्थ निकलता है। इस प्रकार बनी ना० धा० में ग्रा विकरण के पश्चात् पुनः धात्वंश ग्रौर भूतकालिक कृदन्त प्रत्यय के बीच एक ग्रन्य विकरण—न—मिलता है। इस दृष्टि से भुलानां तथा भुलानैं को क्रमशः भूल+ग्रा+न+आ तथा भूल+ग्रा+न+ऐ रूप में विश्लेषित किया जा सकता है। यद्यपि यह रूप निर्मिति सक्सेना के ग्रनुसार नामधातुग्रों से ही संबद्ध है पर ऐसा जान पड़ता है कि बाद में इनके वज़न पर ग्रन्यत्र भी इस का प्रसार हो गया है। इसमें —ग्रा विकरण स्पष्टतः प्राभाग्रा ना० धा० प्रत्यय —ग्राय् > ग्राग्र > ग्रा के क्रम में है। —न— की व्युत्पत्ति का सक्सेना कोई संकेत नहीं करते। चूंकि यह—न—विकरण भूकृ० प्रत्यय —ग्रा,—ऐ के पूर्व ही प्रयुक्त है इसलिए यह ग्रनुमान ग्रधिक ठीक होगा कि इसका संबंध सं० के निष्ठा प्रत्यय —न्न(> —ण्ण > —न) से है। इस तरह इन रूपों में दुहरे भूकृ० प्रत्यय—न+—ग्रा, —न+—ऐ का प्रयोग माना जा सकता है। चूंकि भूकृ० प्रत्यय मूलतः भावे ग्रौर कर्मणि प्रयोग से संबद्ध हैं, यहाँ भी इसका भावे वाला ग्रर्थ ग्रभिप्रेत है।

---

१. सक्सेना, § २६६

(५) प्राचीन ब्रज, पुरानी अवधी तथा खड़ी बोली में संयुक्त क्रियामूलक कर्मवाच्य (पेरीफ्रैस्टिक पैसिव) बनाने की पद्धति मिलती है। आधुनिक खड़ी० में कर्मवाच्य का यही तरीका बच रहा है। इसमें क्रिया के अकर्मक-सकर्मक के भेद से क्रमशः भाववाच्य तथा कर्मवाच्य रूप बनते हैं। वाच्यगत इन प्रयोगों में कर्त्ता सदैव तृतीयान्त रहता है—मुझ से चला नहीं जाता। कग्र' में कर्म-वाच्य की यह पद्धति भी पर्याप्त मिलती है—

पिया न जाइ ६।३।२, मथिया न जाइ दुप० ५९, लष्या न जाइ ३६।६।१, लषी न जाइ ४९।२, सह्या न जाइ ३।३५।२, पहुंच्या न जाइ २३।५।२, कह्या न जाइ ५।१७।२, बंच्या न जाइ ३४५।६।

२.४६. **वर्तमानकालिक कृदन्त**

वर्तमान कालिक कृदन्त के समापिका क्रियागत निम्नलिखित प्रत्यय मिलते हैं :

	एक०	बहु०
पुं०	—अत,—अता,—अतो,—अति	—अत, —अते
	—अंत,—अंता	—अति, —अंत
स्त्री०	:—अती, —अत	×

प्राभाआ में वर्तमानकालिक कृदन्त के चिह्न परस्मैपदी धातुओं में—अन्त (शतृ) तथा आत्मने पदी धातुओं में—मान,—आन (शानच्) हैं। मभाआ काल से आत्मनेपदी प्रयोग लुप्त होने के साथ शानच् वाले रूप भी मिलने बंद होने लगे। प्राकृत में केवल जैन महाराष्ट्री[1] और इसके प्रभाव से अपभ्रंश में कहीं-कहीं —मान,—माण वाले रूप मिलते हैं।[2] किन्तु प्रमुख प्रयोग --अन्तो और—अन्ती (स्त्री०) का रहा है।[3] पुरानी हिन्दी की रचनाओं संदेशरासक[4], प्राकृत पैंगलम्[5] में—अन्त वाले रूप मिलते हैं जिसका स्त्री० रूप—अन्ती है। उक्ति० की भाषा में—अन्त वाले रूपों के साथ —अत भी मिलना शुरू हो जाता है।[6]

---

१. पिशेल § ५६१; २. तगारे, § १४७, ३. पिशेल § ५६०
४. संदेशरासक, § ६४; ५. प्रा० पैं० § ११२; ६. उक्ति० § ८१

इनका विकास—अन्त, —अन्ती > —अँत, —अँती > अत, —अती के क्रम से हुआ है। ऐसा अनुमान किया गया है कि—अत,—अती वाले रूप प्रा० पैं० के संग्रहकाल (१४वीं शती) के भी पहले से कथ्य भाषा में चल पड़े होंगे।[१] मध्ययुगीन हिन्दी तक आते-आते ये रूप प्रचुर मात्रा में मिलने लगे। भक्ति काव्य में —अत,—अता, —अते, —अतो, – अति, —अती, —अतीं जैसे रूप सामान्य हो गये। साथ ही इस समय से इन रूपों की प्रयोग पद्धति का वैशिष्ट्य भी देखने में आता है। इन रूपों के साथ 'है''था', √हो और √रह से बने क्रिया रूपों का सहायक क्रियावत् प्रयोग करके संयुक्त काल-रचना भी की जाने लगी। कग्रं में वर्तकृ० में है, हैं के योग से सामान्य वर्त०काल, था, थी, थे के योग से अपूर्ण भूतकाल तथा √रह के योग से तात्कालिक वर्तमान का निर्माण किया गया है। इसके अतिरिक्त वाक्य में संकेतार्थक क्रियागत प्रयोग भी मिलते हैं जहाँ दो घटनाओं की असिद्धि सूचित होती है। कग्रं से इन रूपों के उदा० ये हैं :

—अत : कहत ३७।७, चितवत ३१२।५, चेतत ३११।७, जागत २०।३, दाझत ४।८।२, पीवत १६८।२। ये रूप सहायक क्रिया युक्त तथा रहित दोनों प्रकार के हैं। इन रूपों के साथ सहायक क्रिया है, हैं के प्रयोग से वचन भेद स्पष्ट होता है—दाझत है ४।८।२, जागत हैं २०।३। सहायक क्रिया रहित प्रयोगों मे कर्त्ता से वचन का बोध होता है।

—अत का प्रयोग स्त्री० में भी मिलता है। पुरानी अवधी में संयुक्त क्रिया मूलक कर्मवाच्य में इसका प्रयोग पुं० तथा स्त्री० दोनों में प्रयोग मिलता है।[२] किन्तु कग्रं में इसके स्त्री० में कर्तृवाच्य के भी प्रयोग मिलते हैं—काम अगनि तन जरत रही है १८६।२, लाषौं माहिं तै (बिलाई)लेत अचांनक ६७।६। कर्मवाच्य के प्रयोग ये हैं—काहू न देत दिषाई ६७।६, तोहि डराई देव बिलाई ६७ १।

सम्भव है ये कर्तृवाच्य वाले रूप—ति > —ति (व्हिस्पर्ड) > —त के क्रम से घिस गए हों।

१. प्रा० पैं० ११२;   २. सक्सेना, § २६४।

—अता : (—अ स्वार्थे युक्त रूप) करता १३।२७।१, जाता ३७।६।१, डरता ५०।७।२, मरता बारह० २०। खड़ी बोली के विशिष्ट रूप।

—अतौ : क्रियाओं के ओकारान्त रूप व्रज की विशेषता हैं। राज० में भी ये रूप मिलते हैं[1] कग्रं में इसका उपलब्ध उदा० है—जागतौ १६८।१।

—अती : खड़ी० में—अता का स्त्री०—अती है—करती १६।७।२, जीवती ३।६।१, फिरती १०६।२, हंसती १०६।१।

—अते : अता का बहु० रूप—करते ४६।२१।२, कहते २२।८।१, बाजते १२।४।१।

—अति :—आधुनिक अवधी में—ति पुं० का चिह्न है जिसका उच्चारण फुसफुसाहट वाला है।[2] कग्रं में इसके थोड़े से प्रयोग हैं जहाँ सहायक क्रिया के भेद से वचन स्पष्ट होता है: सो बरति रह्या संसार (है) बारह० ५६, ना तलि तपति (है) न ऊपर आगि ६४।४, अंजन उतपति बरतति (हैं) लोई ३३७।२।

—अंत : ये राज० के विशिष्ट रूप हैं।—अन्त > —अत विकास के संदर्भ में इन्हें पुराना रूप कहा जाएगा—
जीवंत ४७।७।१, फिरंत २९।३।३, फलंत ४७।७।२, बसंत ३८१।३। इस प्रकार के सभी प्रयोग सहायक क्रिया रहित हैं अतएव इनमें वचन भेद करने के लिए सहायक क्रिया के अध्याहार की अपेक्षा है—बिरषा सुफल फलंत (हैं) ४७।७।२, तरवर तास बिलंबिए बारह मास फलंत (है) ४७।६।१।

—अंता :—अंत का —अ स्वार्थे युक्त रूप। संदेशरासक में भी स्वार्थे युक्त रूप मिलते हैं।[3] माल्हंता ४६।२।१ < देशी० √ मल्ह = मौज करना।

---

१. ढोला०, भूमिका पृ० १६०; २. सक्सेना, § २६४;
३. संदेश०, § ६४।

वर्त० कृ० से काल रचना

१. **सामान्य वर्तमान** : इसका निर्माण हूँ, हौं, है, हैं सहायक क्रिया के योग से होता है। लेकिन सहायक क्रिया रहित प्रयोग भी कम नहीं हैं। तुलसी और जायसी की भाषा में भी रहित प्रयोग ही अधिक हैं।[1]

रहित प्रयोग—तेरा तुझको सौंपता (हूं) ११।३।२, एक आध उबरंत (हैं) १।२० २; सहित प्रयोग—कहता जात हूं २।१।१, तन जरता है ९४।१।

(२) **अपूर्णभूत** : इसका निर्माण सहायक क्रिया था, थी, थे, के योग से किया जाता है। कग्रं में सहित रूप नहीं मिलते। केवल एक जगह—करता था तौ क्यूं रह्या १३।२७।१ पर ऐसा प्रयोग है अन्य उदा०—

मैं ढूंढता (था) ५।३६।१, घड़ा न डूबता (था) ६।७।१, होती (थी) कोटि उपाधी १५ ३, हम ढूंढत फिरते (थे) २६७।४।

(३) **सामान्य संकेतार्थ** :

भलीभई जु गुर मिल्या नहिं तर होती हांणि, दौपक दिष्टि पतंग ज्यूं पड़तां पूरो जाणि १।१९. नहीं तो करती भांड १६।७।२, (जदि) हम भी पांहन पूजते (तौ) होते बन के रोझ २३।४।१।

(४) **तात्कालिक वर्तमान** : मैंमंता घूमंत रहै ६।४।२, मन में रहै डरता २०।२७।२, अगनि तन जरत रही है १८९।२।

२.४७. **अपूर्ण क्रिया द्योतक कृदन्त**

खड़ी० में वर्तकृ० के —ता को —ते आदेश करने से अपूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्त बनता है। इतर विभाषाओं में विकार नहीं भी होता है। कग्रं में इसके निम्नलिखित चिह्न मिलते हैं :

—अत : आवत ४६।२३।२, आनोकत १३।१४।२, जात १२।४७।२, जाग्रत ९ २। नैरन्तर्य बोध के लिए इन रूपों का द्वित्व भी

---

१ सक्सेना, § २९४(डी)।

मिलता है—उपजत उपजत १७।५, गछत गछत दु० ८८, पढ़त पढ़त ५६।२।

—अता : जलता ४३ ५।२, जाता १४३।२; द्वित्व रूप—मरतां मरतां ४१।५।१।

—अंत : वेलंत २६।५।२।

—अंतड़ा : करंतड़ा ४६ ५।२, जपंतड़ां १७।१८।२।

—अंती : चढंती १६ २६ १, घवंती ४६।२१।१—स्त्री०।

—ते : करते २८।१।८, मरते २६६।५ —विकारी।

—तैं : चलतैं ३६४ ३, दाभतैं ११२।३—ये रूप विकारी न होकर अवधा० —हिं से योग से बने हैं।

—ति : परति १२ ३२।२, मथति १६८।७।

—ती : जलती ३ ३६ १।

—ताड़ी : सींचताड़ी १६३।७।

—तां : षातां २०।४ २, गिनतां २३६ २।

अपूर्ण० कृदन्त रूपों का प्रयोग कहीं कहीं क्रियार्थक संज्ञा वाला भी मिलता है। अवधी में ऐसे प्रयोग उपलब्ध हैं—हमरे खाति म तुम दुंदु न मचाओ।[1] कग्रं में इसके एकाध प्रयोग है—सोवत थैं जब जागा ६।६।

२.४८. भूतकालिक कृदन्त

भूकृ० के समापिका क्रियागत निम्नलिखित प्रत्यय मिलते हैं :

	एक०	बहु०
पुं० :	—आ, —या, —वा,	—ए, —ये,
	—इया, —इयो,	—इया, —इयां,
	—यो, —यू, —ओ, —यौ, —वौ, —न्हें।	
	—न, —ना, —नो, —नौ	
	—न्ह, —न्हा, —न्हों, —न्हौं,	
	—ठ, —ठा,	
	—ढ, —घा,	
	—ल,	

१. सक्सेना, § २६६ की टिप्पणी (२)।

—ता,

—शून्य ।

स्त्री०:—ई, —ईं

—नी, —न्ही,

—इय,

—ठी ।

इनके अतिरिक्त कर्त्तरि प्रयोग के पुरुषवाची रूप —यौं—यूं भी मिलते हैं ।

प्राभाआ में भूकृ० का चिह्न —त (क्त) है जिसके —क्त (मुक्त, भुक्त) —ट (दृष्ट, क्रुष्ट), —द्ध (बद्ध, शुद्ध), —न (छिन्न, भिन्न), —ण (जीर्ण, शीर्ण) रूप भी मिलते हैं। मभाआ में —त का विकास—इअ (—इद शौर० में) पाया जाता है। यह मभाआ का मुख्य निष्ठा प्रत्यय है। इसके अतिरिक्त —ट > —ठ,—ढ; —न > —ण, —न विकास भी मिलता है। सं०—द्ध वाला रूप सुरक्षित रहा है। अप० में भी मुख्य प्रत्यय—इअ,—इउ हैं। साथ ही अन्य रूप भी पाए जाते हैं। पूर्वी अप० में —ल मिलता है जिसे सं० के कल्पित --*ल से जोड़ा जाता है। तगारे ने—ल चिह्न पश्चिमी अप० में भी मिलता बताया है।[1] संदेशरासक में —इय,—इयउ के साथ संस्कृत के अन्य निष्ठा प्रत्यय भी परिवर्तित रूप में मिलते हैं।[2] प्रा० पैं० में —इअ,—इआ, —आ,—उ,—ल,—ण्हउ के साथ कुछ प्राकृत के अवशेष तथा संस्कृत के अन्य प्रत्यय विकसित अवस्था में मिलते हैं।[3]

प्राभाआ निष्ठा रूप कर्मवाच्य में चलते थे। प्राभाआ के भूतकालिक तिङ्० रूप आगे न चलने से मभाआ में इनका प्रयोग समापिका क्रियावत् होने लगा जो आगे नभाआ भाषाओं को रिक्थ रूप में मिला। हिन्दी के संदर्भ में पश्चिमी विभाषाओं में सकर्मक क्रियाओं का कर्मणि प्रयोग मिलता है जब कि पूर्वी विभाषाओं में पुरुषवाची सर्वनाम अंश जोड़कर कर्त्तरि प्रयोगों का चलन प्रमुख है। कग्र॑ में सकर्मक क्रियाओं के निष्ठा रूप जहाँ कर्म का स्पष्ट उल्लेख है कर्मणि प्रयोग में हैं। ऐसे स्थानों पर क्रिया कर्म के लिंग, वचन के अनुसार

१. तगारे, § १४८; २. संदेश० § ६७; ३. प्रा० पैं० § ११३।

हैं। जहाँ कर्म का अभाव है, वे भावे प्रयोग हैं जिनमें क्रिया सदैव पुं० एक० में रहती है। नमूने के लिए सर्वनाम अंश युक्त कर्त्तरि प्रयोग भी मिलते हैं।

निष्ठा रूपों के साथ सहायक क्रिया का प्रयोग प्राकृत काल से ही चल पड़ा है।[1] अप० में √अस् या √भू के भूतकालिक रूप (स्पष्टत: या आक्षिप्त रूप में) जोड़कर भूतकाल बनाया जाता है।[2] नभाआ में सहायक क्रिया वाले प्रयोग अत्यधिक बढ़ गए। कग्रं में 'है' के योग से पूर्ण वर्तमान, 'था' के योग से पूर्णभूत, केवल निष्ठा रूप से सामान्य भूत और 'जे' 'तो' आदि अव्ययों के योग से सम्भा०यभूत का निर्माण किया गया है। यह उल्लेखनीय है कि √रह का प्रयोग भूकृ० के साथ कग्रं में नहीं मिलता जो पूर्वी हिन्दी की प्रमुख विशेषता है। यहाँ कग्रं के निष्ठा प्रत्ययों का विकास और प्रयोग दिए जा रहे हैं :

—आ : सं०—त > मभाआ—अ + आ (स्वार्थे) > नभाआ—आ: अराधा चौ० ६, उतारा सूहौ० १०, गा १६०।३, देषा २३।४।

—या : —आ का श्रुतिगत रूप : आया २।१८।२, गया ३।३४।१, दिया २।३।२, पिया ६।१।१, पीया ५।२०।२, देष्या १।२५।२, वर्या ४६।१२।१।—या का योग दीर्घ स्वरान्त धातुओं में बिश्लिष्ट रूप में होता है—आया, पीया आदि किन्तु अकारान्त धातुओं में इसके योग से अन्त्य—अ के लोप होने पर संश्लिष्ट रूप बन जाता है—देष्या, धर्या आदि। दीर्घ स्वरांत धातुओं में प्रत्यय योग से पूर्ववर्ती स्वर का ह्रस्वीकरण भी हो जाता है—√दे—दिया, √पी—पिया।

—वा : —आ का श्रुतिगत रूप। पूर्वी हिन्दी की प्रमुख विशेषता— उठावा सूहौ० ६, षावा १२।७, गावा २७५।६, लावा १७७.५। इस प्रत्यय का एक अनियमित प्रयोग भी मिलता है—जावा २६४।७।√जा के भूत० रूप अनिवार्यत: √गम्—गत वाले हैं।

—यो : सं०—इतः > अओ > —अउ > —ओ > —यो। ओकारान्त तथा औकारान्त रूप ब्रज०, राज० की विशेषता हैं—

---

१ प्रा० पैं० § १०७; २. तगारे § १४०।

गह्यो १७६।२, रह्यो १३।२६।२।

—यूं : राज० में पूर्ववर्ती स्थिति में अनुना० ध्वनि होने पर ओ का ऊ हो जाता है। ये कुछ रूप √बन, √सुन के मिलते हैं— बन्यूं २२६।७, सुन्यूं २२६।८। इनमें—यूं प्रत्यय पर अनुस्वार अनुगुंजक है जिससे पुरुष प्रत्यय का भ्रम होता है।

—औ : देखिए--यो : —अउ>—औ
परौ ७६।६, थाकौ ४८।५, थौ ४८।२ (सहायक क्रिया)

—यौ :—ओं का श्रुतिगत रूप—आयौ ३०।१।८, उपज्यौ ७२।६, दीयौ ३५।१।२, गह्यौ २४।२०।२।

—वौ : यह विशिष्ट प्रयोग है। इसमें एक ओर 'व' श्रुतिवाली पूर्वी हिन्दी और औकारान्त वाली पश्चि० हिन्दी की विशेषताएँ एकत्र हो गई हैं—मूवौ १२५।२।

—इया : सं० —इत>—इअ>—इय+आ। राज० में—इया बहु० का चिह्न है—भरिया।[1] कप्र में यह एक० में प्रयुक्त है, एकाध प्रयोग बहु० के भी हैं—एक०—अलूझिया ३३।५।१, मिलिया १।१३।२, मारिया १२।४३।२, बोलिया ३३।४।२, पाईया ५।३३।२; बहु०—किया १।१८।२, राचिया २०।२।१।

—इयौ : सं० इत:। व्रज०, राज० का पुराना रूप—मिलियौ ३८२।४।

—इयां : —यो, —यौ रूपों का विकारी बहु० रूप—कुरलियां ३।२।१, भ्रमियां २२।७।१।

—इय : सं०—इता>प्रा०—इआ>अप०—इय। प्राचीन प्रयोग—मांडिय ४६।३।१, भइया दुप० २० (छंदो० दीर्घ०)। उदा० अत्यंत कम हैं।

—ई,—ईं : <सं०—इता।—आ वाले रूप के क्रमशः स्त्री० एक० और बहु० रूप—आई २।७।२, आचरी ५।२६।२, उठी १२०।२, आईं २७०।६, गईं ४।१०।२।

—ए,—ये :—आ का बहु० रूप।—ये श्रुतिगत।

---

१. ढोला, भूमिका, पृ० १६१।

उजारे ३९६।१, चढ़े १४५।२, मूए ४५।१७।१, आये १२।५७।१, कीये ११।१३।१, षाये १२।१, गये ५।२६।२ ।

—न्ह : सं — न > प्रा० — न, — ए > अप० — न, — न्ह, — ण, — ण्ह > — न :

इसमें प्राणता का आगम अप० काल से ही हो गया है। लेकिन वहाँ न्ह्, ण्ह् संयुक्त व्यंजन ध्वनियाँ थी जबकि हिन्दी में न्ह् महाप्राण न् के रूप में मिलती है। अप० के दिण्ह लिण्ह रूप पूर्वी हिन्दी में दीन्ह लीन्ह बन गए हैं जबकि ब्रज में इनका दीन, लीन विकास मिलता है। —न्ह चिह्न अवधी की प्रमुख विशेषता है। वैसे सूर की भाषा में—न्हों, न्हीं रूप प्राप्त होते हैं।[1] उदा० — न्ह : कीन्ह १३।१२।२, लीन्ह ४५।१२।२; —न्हा : कीन्हा २।५, दीन्हा १।२३।१, लीन्हा २०।४; —न्हो : कीन्हों २५४।२; – न्हौं : कीन्हौं १२२।६, दीन्हौं १०८।३, लीन्हौं १९२।२; —न्हैं : बहु० — लीन्हें २०।४; —न्ही : स्त्री० — दीन्हीं १।२९।१ ।

—न : अप० — न्ह का ब्रज वाला विकास । उदा० — न: दीन ४१।१२।१; —ना : लीना २७०।८, भींना १६।७; —नो : कीनों २४१।५; — नौ : कीनौं ३१४।६, लीनौं ३३४।१, भीनौं २८१।३; —नी : स्त्री० — दीनी १०५।५ ।

—ठ : सं० — ष्ट (दृष्ट) > — ट्ठ > — ठ । उदा० —

दीठ ८।१।२, दीठा ५।१।१, बूठा ५५।१।२, दीठी सत० १३ ।

—द्ध, — धा : उदा० — षाधा ३५३।१, लाधा ३५३।१, षध १।२२।१, षद १।२१।१ । षद तथा षध मूलतः द्वित्व षध्ध हैं जो इकहरे व्यंजन की वर्तनी में लिखे गए हैं ।

ये रूप गुजराती, मारवाड़ी की खास विशेषता हैं। पुरानी राज० में —धउ वाले रूप मिलते हैं। तेस्सितोरी ने लाधउ, बाधउ, प्रतिबूधउ जैसे रूपों को सं० √लभ् के निष्ठा रूप लब्ध के — ब्ध — कः से निष्पन्न माना है।[2] लब्ध — क से लाधा की निष्पत्ति के सादृश्य पर अन्य धातुओं के भी — द्ध > — धा वाले रूप चल पड़े होंगे। षद्ध या षध्ध में द्वित्व व्यंजन छंदोनुरोध जनित है।

१. टंडन, सूर की भाषा, पृ० ३११-२. २. तेस्सितोरी § १२६ (३) ।

—ल : उदा०—पावल ५०।६, राषल ५०।७, चरहल १७७।७—करहल के तुक पर।

ये रूप भोजपुरी तथा अन्य पूर्वी भाषाओं में मिलने के साथ मराठी, गुजराती, राज० में भी प्राप्त होते हैं। हार्नली इसे सं०—द>—ल से तथा बीम्स स्लाव भाषा वर्ग के भूत० चिह्न—ल से जोड़ते हैं।[1] तेस्सितोरी ने इसे प्राकृत—ल्ल से माना है। प्राकृत में यह कृत् न होकर तद्धित प्रत्यय है पर जैन महाराष्ट्री में इसका भूकृ० में व्यवहार है।[2] अर्धमागधी में यह प्रमुख प्रत्यय रहा है। कृदन्त रूपों में—ल का प्रयोग प्राकृत कालीन वैभाषिक विशेषता रही है। ये उदा० अत्यन्त कम हैं।

—ता : सं०—त>—त+आ स्वार्थे। पंजाबी में—ता वाले निष्ठा रूप प्रधान हैं। उदा० कीता ६२।३—केवल एक प्रयोग।

—शून्य : उदा०—लाग ४५।१५।२। अवधी, भोज० आदि पूर्वी भाषाओं में शून्य निष्ठा रूप पाए जाते हैं। सक्सेना ने इनका कोई उल्लेख नहीं किया है। वर्तमान अन्य० एक० के —शून्य प्रत्यय की भाँति इनके दो समाधान हो सकते हैं—या तो ये शुद्ध धातु रूप का प्रयोग हैं या इन्हें—आ का घिसा हुआ रूप माना जा सकता हैं। ऐसा प्रयोग समापिका क्रियागत केवल एक है, विशेषणीय प्रयोग दो-चार मिलते हैं।

—यौं,—यों : उत्तम पुरुषवाचक रूप। अवधी में उ० एक० का चिह्न पुं०—एउँ (मैं कहेउँ) तथा स्त्री०—इउँ (मैं गिरिउँ) है। सक्सेना ने इसके तीन समाधान दिए हैं—१. सर्वनाम 'हौं' निपात रूप में है, २. वर्त० उ० एक० की क्रिया—अउँ का योग है, ३. सहायक क्रिया 'हउँ' के योग से ये रूप बनते हैं—देख+अउँ या हउँ=देखेउँ (=मैंने देखा)[3] कग्र' में इसके तीन उदा० मिलते हैं—आयौं ११२।८, जाण्यौं १२।३१।१, जन्यूं २३१।२—स्त्री०। जाण्यौं में 'ण्' ध्वनि इसके अनियमित प्रयोग का प्रमाण है कि अवधी में स्वरमध्यग 'ण्' का अस्तित्व नहीं है।

---

१. तस्सितोरी, § १२६ (५); २. वही § १२६ (५);
३. सक्सेना, § २६६, पृ० २५३

भूकृ० से काल रचना

१. पूर्ण वर्तमान : सहा० क्रिया सहित—हम ब्याहि चले हैं १।७, उलटि-भया है १५।४, भये हैं मीता २३।५, लाधा है कछू लाधा है १६६।१, बढ़्यो है रोग ३८८।२, कीया है उतपाति अष्ट० २५। सहायक क्रिया रहित—ज्यूं आया (है) त्यूं जाव २।१८।२, न औतरि आवा (है) बारह० ५२, संग फिरिया (है) बारह० ५३।

२. पूर्ण भूत : आयो थो ३१३।८, बजर था तूटा ३६५।३।

३. सामान्य भूत : लोचन अनत उघाड़िया १।३।२, दीन गरीबी दीन कूं ४१।१२।१, हौंस रही मन मांहि १।४।२।

४. सम्भावना : जे हार्‌या तो हरि सवां जे जीत्या तो डाव ४५।३०।१।

२.४६. पूर्ण क्रिया द्योतक कृदन्त

इसके निम्नलिखित चिह्‌न मिलते हैं—

—ए : जीते १६३।१, बिछुरे ३।२, बैठे ३४१।३।

—ऐ : घेरै रहै ६।३।

—एँ : गहें २२३।६, चढ़ायें १६।१३।२।

—आ : बैठा ४३।१३।१, लागा ५०।१।१।

—या : पड़्या ४।२।२, फूल्या १७।२१।१।

—यौ : फूल्योफूल्यो २४१।१।

—इया : मुलकिया ४५।२३।२।

—ई : बिछुरी २८४।५, हुई ८१।५।

२.५०. पूर्वकालिक क्रिया

कग्रं में पूर्व० के निम्नलिखित रूप मिलते हैं :

१. असंयुक्त रूप : —इ,—ई,—य,—ऐ,—शून्य।

२. संयुक्त रूप : —इ+करि, —इ+कैं, —इ+क,—इ+नैं, इ+र, —इ+—इ, —शून्य+—शून्य।

३. मध्यग अवधारण अव्यय सहित रूप : (क) संश्लिष्ट : —ए+—इ, —ऐ+—इ; (ख) विश्लिष्ट : —इ+हि+—इ।

असंयुक्त रूप

—इ : चाटुर्ज्या इसे प्राभाआ० —य >—इअ > —इ के क्रम से निष्पन्न मानते हैं—उदा० *कार्य > करिअ > करी > करि ।[1]
उदा०—अघाइ ३५।४।१, आइ १।१३।२, उझकि २३८।१०, करि १३।१०।२ ।

—ई : ये थोड़े से रूप प्राप्त होते हैं ।—इ के विकास क्रम में – इअ की स्थिति में संधि से ये रूप बने हैं । ढोला० में एसे रूप बहुत मिलते हैं[2]—लंघी, उक्कंवी, पूछी, करी आदि । इन्हें—इ का छंदोनुरोध जनित या बलाघात जनित रूपान्तर भी माना सकता है । उदा०—जाई ३१७।२, ढोरी ३६४।५, नसाई ३५२।१ ।

—य : —इ का रूपान्तर । ब्रज में ओकारान्त और आकारांत धातुओं में—इ का—य हो जाता है ।[3] कग्र में इतर धातुओं में यह लिपिगत विशेषता है । उदा०—चेत्य ३७।५।१ (=चेति), साज्य २७०।१० (=साजि), लगाय ४।६।२ (√लगा), होय बारह० ५४ (√हो) ।

—ऐ : ब्रज की एकारान्त धातुओं में—ए का—ऐ होता है ।[4] कग्र में इसके सीमित उदा०—लै ३८७।४ ।

अकारान्त धातुओं में —ऐ रूप —अ + —इ की संधि से बने हैं—कै १८६।४ । अवधी के प्रसंग में इसका उच्चारण कइ (सयुक्त स्वर) होगा ।

ब्रज में ऊकारान्त धातुओं में—ऐ रूप मिलता है—√छू—छ्वै ।[5] कग्र के ह्वै २२।१४।१ (√हो) रूप के लिए √हू की कल्पना करनी होगी ।

—शून्य : शून्य प्रयोग खड़ी० का संकेत है ।—शून्य के लिए—इ के लोप की कल्पना की गई है—ले १।४।२, छेक १।७।२, घर सूही० २३ ।

---

१. उक्ति० § ८०;
२. ढोला०, भूमिका-१६१;
३. ब्रजभाषा § २२१;
४. वही, § २२१;
५. वही, § २२१ ।

संयुक्त रूप

सं० √कृ से बने रूपों से संयुक्त प्रयोग का प्राचीनतम उल्लेख संदेशरासक में पाया जाता है—दहेवि करि।[1] प्रा० पैं[2]०(संठावि कइ) तथा दक्खिनी[3] में भी इसके प्रयोग हैं। मध्यकालीन ब्रज तथा अवधी में कै, करि रूप समान हैं।—क रूप केवल अवधी में है जिसके कुछ ही उदा० प्राप्त हैं। र राज०—गुज० का तथा नैं गुजराती भी एकाध स्थलों पर मिलता है। उदा०—

करि : आइकरि ११।१३।१, घरिकरि १।८।१, पेलिकरि ४८।१।१।

कै : धोइकै ३७८.५, परिकै ३७६।६।

क : जांनिक १३७।६, सूकिक ३९७।६।

नैं : राज०-गुज० में यह परसर्ग माना गया है जहां इसका प्रयोग अवधारणार्थक है।[4] कग्रं में इसके दो उदा० हैं—आइनैं २३४।२, कवीनैं ३१७।४ (√कव—काव्य से ना० धा०)।

र : आधुनिक राज० में यह प्राप्त है—आ र बैठो (=आकर बैठा)। ढोला० तथा प्रा० प० रा० में इसका प्रयोग नहीं मिलता। ये रूप पूर्वी राज० में चलते हैं। इसे √कृ>कर>अर>र के क्रम में माना जा सकता है। कग्रं में एक ही उदा० है—बलिहारी ता दास की पैसि र निकसण हार २६।८।२।

—द्वित्व रूप : ये अवधारणार्थक हैं। उदा०—उड़ि उड़ि ४।१।२, करि करि १३।२०।१, कसिकसि ७७।३; देदे १३।१९।२।

मध्यग अवधारण प्रत्यय वाले रूप

ये हि के योग से बने हैं। इनमें या तो धातु के अन्त्य—अ+इ<हि की संधि हुई है—चुणे चुणि ४९।२।२, जने जनि २३१।२, धुनैंधुनि ९१।४, मरेमरि १६ १२।१ अथवा 'हि' प्रत्यय विश्लिष्ट अवस्था में रहता है—रचि ही रचि २१०।२।

२.५१ क्रियार्थक संज्ञा

१. सं०—अन से संबद्ध रूप

---

१. संदेश०, § १०८; २. प्रा० पैं०, § ११५;

३. दक्खिनी हिन्दी, पृ० ५९; ४. तेस्सितोरी, § १३१ तथा ढोला०, भूमिका०, पृ० १६२।

—ण,—णा,—णौ,—णे,—णैं,—न,—ना,—नैं

प्राभाग्रा में क्रि० सं० का प्रत्यय—ग्रन (ल्युट्) है जो प्राकृत में—ग्रण हो गया है—कथनम् > कहणं, पठनम् > पढणं। मध्यदेशीय नभाग्रा भाषाग्रों में इसका दुहरा विकास मिलता है—पंजाबी, राज० गुज० में 'ण्' ध्वनि सुरक्षित रही जबकि ग्रवधी, ब्रज० ग्रादि में 'न्' हो गई। कग्रं के ण् ग्रौर न् वाले दुहरे रूप इसी प्रवृत्ति के ग्रनुसार हैं। इसमें ग्रविकारी ग्रौर विकारी दोनों तरह के प्रयोग मिलते हैं। उदा०—

—ण : ऊगण ५८।६।२, कहण १६।४।२, छुड़ावण १३३।२;—णां: ऊबरणां २४८।२, कथणां १८०।३, कहणां ५४।६।२;—णौ: पेषणौं ३६८।८;—णे : करणें ३८।१।१, मरणे ४५।६।२;— णैं: कूकणैं २।१६।२, पेषणैं १८१।१;—न : ग्रावन ६।८, करन २७०।५, कहन ५४।२; —ना : करनां ६६।१, पेषनां १६२।१४, मरनां ५१।५।२; —नैं : मरनैं ४१।८।२।

इनमें—ण,—न वाले रूप सं०—ग्रन > ग्रण > ण, न के क्रम से,—णौ वाले ग्रोकरान्त पुं० प्रातिपदिकों के वजन पर,—णे,—णैं,—णाँ,—नैं विकारी ग्रौर—ना—ग्रा स्वार्थे वाले हैं। इनके साथ परसर्गों के प्रयोग भी बराबर मिलते हैं।

२. सं० तव्य से संबद्ध रूप

—बा, —बौं, —बो,—बे, —बू

नभाग्रा में ग्राकर क्रियार्थक संज्ञागत कई रूप ऐसे मिलते है जो मूलतः सं० भवि० कृ० प्रत्यय—तव्य से संबद्ध हैं। पूर्वी हिन्दी में इनका दुहरा प्रयोग है—भवि० में तथा क्रि० सं० में जबकि पश्चिमी विभाषाग्रों में ये केवल क्रि० सं० में ही पाए जाते हैं। राज० के संदर्भ में 'ब' मूलक क्रि० सं० के रूप पूर्वी राज० में ही मिलते हैं। ये रूप खड़ी० में नहीं प्राप्त होते। ऐसा प्रतीत होता है कि—तव्य प्रत्यय जो मूलतः भवि०कृ०का था ग्रागे चलकर भावे अर्थ में भी चलने लगा जैसे—क्त का भावे प्रयोग है। ग्रौर वही भावे प्रयोग क्रि० सं० वाले विकास की शुरुग्रात हैं। उदा०—

—बा : पढ़िबा १६।१।१, जाइबा ३७६।३;—बौ : उड़िबौ २६६।३,

षाइबौ २२७।१, जाइबौ २२७।२, पढ़िबौ १६।१।१, पाईबौ ६।१; —बो : जाइबो ३७६।२; —बे : कहिबे ५।३।२, षैवे ३५।३।१, जाइबे १४।५।१, देबे १।४।१; — बू षैवू ३७६।२

ये रूप—तव्य > अव्व > अब > बा के क्रम से आए हैं। —बा अवधी का, बो,—वौ ब्रज, राज० के तथा —वे अवधी, ब्रज० का सम्मिलित विकारी रूप है।—वू प्रयोग क्रि० सं० में नहीं मिलता। शायद यह— वौ का रूपान्तर है। वैसे— बू भवि० में भोजपुरी में स्त्री० प्रत्यय है।

३. संस्कृत भावे क्त से संबद्ध रूप

—या,—यौ,—आँ, - याँ,—वाँ,—इयाँ,—ए,—एँ,—ये,— येँ,—ऐ,—ऐँ, —यँ,—ईं,—य, —ले

संस्कृत —क्त प्रत्यय का दुहरा प्रयोग मिलता है : कर्मवाच्य अथवा भाववाच्य भूतकालिक कृदन्त के रूप में और केवल भावे अर्थ में जहां वह सदैव नपुं० एक० में रहता है जैसे गतम्, कृतम्, लिखितम् आदि जिनका अर्थ जाना या जाने की क्रिया आदि है। —क्त प्रत्यय जनित रूपों का यह दुहरा प्रयोग मभाआ काल में भी पाया जाता है। नभाआ में मिलने वाले क्रि० सं० के रूप में प्रयुक्त निष्ठा प्रत्यय के रूप तथा उनसे बने विकारी रूप मूलतः वे ही हैं जो अर्थ और प्रयोग की दृष्टि से संस्कृत के भावे प्रयोग हैं। उदा० —

—या : मांग्या ८२।३, कह्या २२२।३;—यौ : जार्‌यौ १५१।१; —आँ : ओकारान्त रूपों का विकारी—काटां ५०।१।२, थकां १३।१३।२, भीगां १७।११।१; —याँ : आयां ३।६।२, कीयां २२।६।१, कह्यां ८।२।१, षोयां १२।४५।१; —वाँ :—आँ का श्रुतिगत रूप —हुवां ४५।१।१; —इयाँ : पड़ियां २६६।६; —ए : आकारान्त का विकारी— छिटके बारह २७; डूबे १३२।५, बसे ३००।२; —एँ : सीषें ३२।१०, सुनें ३२।१०, पढ़ें ३२।१०;—ये :—ए का रूपान्तर—आये ६।१४, घोये १३६।८; —येँ : कियें २४।२३।२, नायें २५६।४, जायें २५६।४, रोयें १३६।७; —ऐ : अबोलै ३१६।५, कहै ३६।३, तूटै १०६।३; —ऐँ : कातैं २२८।३, षोजैं १७०।३,

गुजारें २५६।५; —यँ : दीयँ १३८।५, कीयँ १३९।६, —ईं : यह विशिष्ट निर्मित है। इसमें धातु+क्त+इँ करण—अधि० की विभक्ति है--धोईं ३४६।१, न्हाईं ३४६।१; --य :—ए का रूपान्तर --बिसरय १०७।४; --ले : मुसले अष्ट० २४।

इसके अतिक्ति—न वाले रूपों का अवधारणार्थक द्वित्व भी किया जाता है—चलन चलन २४।१, झेली झेला ३१९।३, आवणजांणी १५६।८, जांणम जांणी ३९७।१। ये रूप 'चला चली' ठे'ली ठेला', 'ठेलमठेल' आदि के वज़न पर बने हैं। इनमें—ई अश करण—अधि० की विभक्ति है। मध्यग—म—अंश सं०के नपुं० एक का चिहन है— फलम्।

२. ५२. **संयुक्त – क्रिया**

ऐतिहासिक दृष्टि से संयुक्त क्रियाएँ भारतीय आर्य भाषा में परवर्ती विकास हैं। वैसे संस्कृत में भी 'जिगमिषति' और 'गन्तुम इच्छति' जैसी क्रियाएँ हैं। रचना की दृष्टि से संयुक्त क्रियाएं संश्लिष्ट और विश्लिष्ट दोनों प्रकार की मिलती हैं। हिन्दी में 'करना चाहता है', 'कर चुका', 'कर डाला' के तौर पर विश्लिष्ट रूप ही अधिक मिलते हैं। एकाध रूपों जैसे 'लेना' (=ले आना) को संश्लिष्ट भी माना गया है।[1] वैसे 'लेना' संस्कृत √ला का प्राकृत में √ ले आदेश होकर बनता है। स्पष्टतः संयुक्त क्रियाएं अप० काल से मिलती हैं। नभाआ के विकास के साथ रूप और अर्थ दोनों दृष्टियों से इनमें जटिलता बढ़ती गई। हिन्दी में इनके निर्माण की आठ विधियाँ बताई गई हैं[2] — वर्तकृ०, भूकृ०, पूर्व०, क्रि.सं०, पूर्णता तथा अपूर्णता द्योतक कृदन्त और सज्ञा तथा विशेषण के योग से तथा द्वैत क्रियापद।

अर्थ की दृष्टि से संयुक्त क्रियाओं का वर्गीकरण एक सूक्ष्म प्रक्रिया है। किन्हीं दो क्रियाओं अथवा संज्ञा—विशेषण और क्रिया पदों के योग से संयुक्त क्रिया वहीं मानी जानी चाहिए जहाँ दोनों पद अर्थ की दृष्टि से एक इकाई बन गए हों। उदा० के लिए 'कर गया', खो देना, सो लेना, प्रम करना या खुश होना आदि में दोनों पदों की अलग अर्थ-सत्ता नहीं रह गई हैं जब

---

१. किशोरी दास वाजपेयी: हिन्दी शब्दानुशासन, पृ० ४७७
२. गुरु: हिन्दी व्याकरण, पृ० ३१२।

कि उठ भागना, ले आना, जाग उठना आदि में दोनों पद अर्थ की दृष्टि से स्वतंत्र हैं।

क'ग्र की भाषा में उपरोक्त आठों प्रकार की सं०क्रि० मिलती हैं—

१. वर्तकृ० के योग से : जरत रही है १८६।२, बधती जाइ १६।१५।१, बरति रह्या (है) बारह० ५६।

२. भूकृ० के योग से : अटक्यौ रहै ३०६।२, आयौ चाहै २६१।१, उड़यौ न जाइ ३८८।७, किया न होइ १३।२६ १। चाल्या जाइ २६।२१।१, घर बांध्यौ २२२।६, धोये जांहि ५०।७।२,

३. पूर्व० के योग से : आइल्यौ ४६।२२ २. उठाइ लै ८५।२, उतरि गये १६६।२०, उलटि ले १५।६, कथि गया २।२।१, कहि रहे ६।१।१, गिनि लई ३१६।४।

पूर्व० के साथ जहां शक्यता बोधक क्रिया—सकना, पाना, पारना आदि का प्रयोग होता है वहां ऐतिहासिक क्रम में पूर्व० रूप प्रभाआ के—तुम प्रत्यय के स्थान पर प्रयुक्त हैं। इसकी संभावना प्रकट की गई है कि ऐसे स्थानों पर पूर्व० से प्रतीत होते रूप सं०—तुम>प्रा०—इउम > — इउँ > — इ के क्रम से आए हैं : आइ सकौं ३।१०।१, करि सक्या ३८।१।१, चेति सकै १२।५८।२, जांणि पाई ३।१६।१।

४. क्रि० सं० के योग से : उघाड़ै लागिया १।८।२, कांन लागे २४६।६, कथणां न जाई १८०।३, कह्या चाहूं १६७।५, षाणं न पावा १०।१।१, षेलष चढ़ी १८७।१, गवन करै ३६४।२, पीवै चाही ब. अ. १११।

५. पूर्ण कृ० के साथ : उठाए रहैं ४६।४०।२, गहैं रहई ब० अ० ६५, घेरैं रहैं ६।३।

६. अपूर्ण कृ० के साथ : करतां जाइ १७।७।२, कहत जात १२।४६।१, घूंमत रहै ।४।२, डरता रहै २०।२७।२ भौंकत जाइ २२१।४।

७. संज्ञा तथा विशे० के योग से : उतपाति कीया अष्ट० २५, करारी करै २५७।६।, षरच न पारै २२२।४.केलि करंत ४७।६ २,क्रीला करी ४।८।२, षृन करत हौ ५६।७, गत भई दुप० १८, गरकि ह्वै ३७ ५।१।

---

१. सक्सेना, § ३३७।

८. पुनरुक्त तथा द्वित क्रियापद : जरिबरि जायगी ३६७।७, तनिबुनिलेहु २८६।१, पढ़तपढ़त ५६।२, गछत गछत दुप० ८५, उपजत उपजत १७।५, मरतां मरतां ४१।५।१।

२. ५३. अव्यय

कग्रं की भाषा में निम्नलिखित अव्यय प्रयुक्त हैं :

१. स्थानवाचक : अंतर १५३।३, अंतरि ५।१४।१, अंतरै १०।३।१, अनत ५।३६।२, अनत ३००।६, अभिअंतरि दु० ८७, अरध १।३१।१ (ऊर्ध्व का साहश्य) अलगा ५७।१।२, अलगें २०।१४।२, आगैं ११।६।१, आगी २६८।३ (=आगे), आसिपासि ७६।१०, इत १२।५७।१, उत १२।५७।१, उती थैं १४।२।१, उरध१।३१।१, उहां ६१।३ उहां तै १३।२५।२, ऊंचा १२८।८, ऊंचै ६८।५, ऊपरि २।२६।२, ऊपरैं ४६।४।२, कत ३७।४, कतहुं ५।७, कतहूं २६७।२ कहां ३।३६।२, कहीं ४।३५।१, कहूं ३३।८।२, काछै ७२।८, कांठै २५।४।१, कितै १७।१।१, गिरद सूं ४५।४।१, चहुंदिसि १।३२।१, जहां ५।४।७, जहुंवा ब० अ० ५३, जित २।६।२, जुदे २५६।७, ढिग २२।७, तहां २।२४।२, तहीं ४।१२, तहिया ३२।५, तहुआं १५२।३, तहूवां १२१।५, तलि ४१।१३।२, तित २।६।२, दाहिणें १३३।६, दाहिनें ३८।७।१, दूर ७।४, दूरंतर ७।४, दूरि १।३५।१, दूरें थें २६।२।२, धोरै २७।२।२, नजीक ३३६।७, नालि ३।३६।१, निकट ५३।५।२, निकटि २०।२।२, निकटैं २८८।७, निड़ै ५५।१२।१, निनारा १७१।६, निनारे ३६४।४, निवांणां १३।२२-२, नियर दुप० ५२, नियर थैं दु० ३२, नियरा दु० ३२, नेड़ा १२।५८।२, नेड़ी १६।२१।२, नेरा १७४।७, नेरै २५०।३, न्यारा १३ १४।२, न्यारे १४४।२, पाषे २८०।२, पाषेसूं २२।३, पाछा १६।१४।२, पाछी ३७०।६, पाछैं ११।२, पासि १।२४।२, पासैं २०।१०।१, पीछा १२६।६, पीछू बारह० १६, पीछैं १।११।१, पेस २५८।१ (फ़ा० पेश), बावैं ३८।७।१, बाहरि ५।३१।१, बाहिरां १२।१५।१, बिच १२।५१।२, बिच कै ४६।२३।२, बिचि ५६।२, बिलगि बिलगि ५०।१, बीच २०।१४।१, बेगर १६७।३, भीतरां ४।७, भीतरि १।६।२, मंझि १२।५६।१, मधि ३१।३।१, मधे ४४।६, मांहि ३।४३।१, मांहै २७।१।२, म्यानें २५८।७, लेर २००।५, सनमुष ५।३६।१, सनमुषि दु० ८१, समींप ३०४।४, सरबत्तरि

सूहौ० ८, संग ४।१।१, संगि ५।१।२, संगसंग १५६।७, संवेरै ६।४, सहित ७७।७, सहेत १२१।६, साथि १।१०।१ सांमी २६।१।२, लार २२।१६।२ ।,

२ कालवाचक : अंति १२।२०।२, अंतै ४४।६, अतीत ६।२।२, अब ५।१७।२ अबै २५४।५, अबकी १२।१६।२, अबकै ५४।६।१, अवलि २५५।३, अहनिसि २।२८।२, अहरषि १०५।१, आज ४६।२।४, आजि ४।२।२, अजहूं ३।१७।२, अजौं ४६।२३।१, आदैं ४४।६, इब ५।१६।२, कदे २।१४।२, कब १२।६०।२, कबर ३।५।२, कबरु ३।२४।२, कबै २२५।१, कबहूं ४०।६, कबहुंक ६७।२, कल १०८।२, काल्हि ३।१७।१, काल्हि मांहि ३१३।२, जदि १२।३८।२, जब १।१३।१, जब लग २६३।४, जबै लग ५२।५, जबहीं १३।१६।२, जबहूं ३।१६।१, तदि १२।३८।२, तब १।१३।२, तब लगि २६३।४, तब्रि २६७।८, तबै १७।६, तबहि ६६।६, तबै लगै ६१।२, तवैं ७२।६, दांइम ३२३।७, निंत ४६।६।२, नित ८।२।१, नित्त ३।२०।१, नितप्रति ५२।५।२, निदान ४५।३३।२, निदांनी २६६।८, निदांनि २०।६।२, पलक ५२।३।२, पहले ३५७।३, पहलैं ११।२, पहली २।१६।१, पुनि ६।१६, पुनै १२।५६।२, पुनरपि ४।१६, प्रथमे १६४।२, फिर ५।३१।२, फिरि ५।३७।२, फुनि २।१७।२, फुनिफुनी २६।४, फेरि ३।२३।२, बरियां २२।५।१, बहुरि १।१२।२, बहोड़ि १२।३१।२, बारबार १२।३५।२, बारंबार १०।२।२, बेर ३६५।८, सदा १।३५।२, ततकाल ३४।२।१, षिन ४५।१५।१, घड़ी १६१।३ ।

३. रीतिवाचक : अकारथ ३१५।६, अचांनक ६७।६, आपही बारह० ७२, आपैं बारह० १२, अबिरथा ३६८।४, अस ३६।३, आतुर १।१८।२, इक दु० ८० (=एक तो), इम ३५।१।२, इवैं १।२०।१, उलटै १६२।८, ऐसैं ४३।१३।२, कदाचि १०७।३, किम १६४।१, कैसे ११।१६।२, कैसैं १३।२१।२, षरो ३६२।७, षूणैं २०।६।२, चोषै ३।४, छानैं २६।१०।२, जैसे २।२४।१, ज्यूं १।१६।२, जेम २६६।१७, झिरिमिरि झिरिमिरि ५५।२।१, टगटग ४६।७।१, तिरछी १०६।२, तैसें ७८।२, त्यूं १।२१ १, थरहर थरहर ३६०।३, दुसरैं दु० ८० (दूसरे=ऊपर से), धीरैं धीरैं ८।४।२, निहचै १०४।३, नीकां १६।१।२, नीकैं १७६।६, बरियाई ३।३, बेगि १३।१२।२, बेगे २।३२।२, फोकट २१७।६, भरि ७।१।२, भरिपूरि २४।२६।२, भल २८६।१, भलभल

२८४।८, भले ब०ग्र० ५, भांति ३५।१।५, मानौं ५।१।१, मुसिमुसि ६१।५, मति ३।११।६, (=शायद), यूं २।२४।१, यौं ६।१।१, समझिसमझि ३।३८।२. सूभर १६२।६, सहजें ५।२६।२, सुष ११।१३।२, हड़हड़ १०६।१, बहुतेरा ब० ग्र० १४।

४. निषेधवाचक : जिनि १।३३।१, न १।१।१, नहीं ६।३।२. नहींतर ३६२।७, ना १।१६।१, नातर ४७।५, नाति १६२।२, नांहि १।४।१, नाहीं ३।६।२, नि ६२।५, मति १६।२६।१

५. हेतुवाचक : अरथि अष्ट० २८, काज सत० ३६, कारणि ५।३६।१, कारणें १।१८।१, कारनि ३।७।१, कारनें १२७५, जोग २६।१०।२, ताईं ५६।५।१, लागि ब० ग्र० ४६, लागे ३७५।३, लेषै ब० ग्र० २७, स्वारथि अष्ट० १६।

६. कारणवाचक : कत ७।३।२, कहा १२।८।१, कांइ ७।५।२, काहे काहे २।१२।१, काहेकूं ४३।३, किनि १२।६।२, क्यूं २।१३।२।

७. व्यतिरेकवाचक :—बाझ ११।७।२, बिन २।६।२, बिनां दु०५६, बिहूंणां ५।१५।२, बिहूंन अष्ट० १२।

८. परिमाण वाचक :—अधिक ३०४।५, अधिकै १७४।६, अधिकाई ३२०।२ इकत्र २२।१४।१, एकमेक २१।३।१, एकंतरि २११।३, केवल १।२३।२, बहुत ३।६।१, बहुतैं २४।४।१, बहुतेरा ब०ग्र० १४।

९. तुल्यता या उपमावाचक :—चू २५८।६(फ़ा०=तुल्य), तिलइक ६।८।२, तेह ५५।२।२, तूला अष्ट० ५२ (< तुल्य—छंदो०दीर्घ), नाईं १७।२ पटतरैं १।४।१, बरि ११।५।२ (फ़ा० बर), भरि १।८।१, भरपूरि बारह०७१, सईं १।१।१, समतूला दु० १०६ (छंदो०दीर्घ), समतुलि बारह०१, समान ५।५, समांनि १७८।१०, समि ५ ५, सवां १२।४८ २, सरीषे २८।५।२, सरिषी २४७।२, सा ६।८।१, सारिषे ३०।३।२, सारिष बारह० ६, सी ४०।५।१, सरभरि ४५।२२।१।

१०- समुच्चय बोधक :—अरु बारह०२८, ज ३।१३।२, जद, २६।१३।१, जदपि दु०४५, जदि ११६।२, जे १।२१।१,जौ ३।२८।१, जौपरि ३७।२।२, जौपैं

३८।१, त १।२४।१, तउ २६।२।२, तऊ १।१८।२, तर १।१६।१, ताथैं १।३५।१, तापर १६।१५, तो ११।८।२, तौ १।२६।२, तौपर १३।६।२, तौपरि १३।८।२, र २७८।३, (=अरु), लूं २२१।५, लौ २१२।६।

११. विभाजक :—क ३१३।२ (<सं० किम्, फ़ा० कि ?), कि ३।१५।२, किंबा ५।६, कै ३।६।२, धूं ५२।२, धौं १६।३२।२, पणि १६।२६।२, पनि १।५, परि १।२५।१, पै ३०३।५, पैं १२१।१३।

१२. अवधारणार्थक :—जु १।१६।१ भी १।१५।१, भि ५५।१२।१, ही २१७२।

१३. विस्मयादिबोधकः—अरे ५६।१, अहो ३६५।१, जी ३४।१।१, त्राहि (करि—आज्ञा०) सत० २८, त्राहि त्राहि (करि) सत० ३६, दुरि दुरि (करैं) ११।१५।१, ध्रिग १२।२७।१, री १३।२१।१, रे ३।४४।१, हाहा (करते) ४६ ३१।२, हे ७।३।१. हो ५२।१।१, हौ ५।२४।२, तकती घोघो २१७।१, घो घो घो २२७।३।

१४. क्रिया विशेषण पद समुच्चय :—आदि अंत करि सूहां० १६, आप आप थैं ब०अ०५६, आप आप ही ब०अ० ८५, आप ही आप ५।१४, आपहि आप ५।४, आपैं आप बारह० २४,आपैं आप बारह० २२,अपनां आप ३३२।४, अपनी आप बारह०७५, इहि बिधि १०।२, इहिभांति ३५।१।५, दिन दिन ६६।३, दिने दिन दुप० ४६, दिन दिनहि ब०अ० ७२, दिन ही दिन २४२।१, दिन रात २।१०।२, धीरैं धीरैं ८।४।१, तिलइक ६।८।२, तिल तिल १७ १२।१, तिल करि १०१।३ , षिण भीतर दु० ३७, ग्यांनकरि ३७।४।२, छिन छिन ३।४२।१, झूठ करि २७।६, किहि बिधि १६।३२।२, घिण करि १६२।१०, जैसा करि ८।३, तलि करि ११।५, निस जाम ३।२४।१. निस दिन ३।३३।१, निस बासुरि ८२।६, पल भरि ६३।२, पल पल ४६।७।१, घड़ी पहर ६४।२, फुर करि ब०अ० ५८,साच करि ब०अ० १३, मनकरि १३।१५।१, सम करि १८४।६, सुष करि ब०अ०६८, हित करि १२।५०।१, हक हक करि ६२।६, राति दिवस २०६।१, जांनि अजांनि ब०अ० ७६, मनसा बाचा क्रमनां २।४।२,

उपर्युक्त तलिकाओं में संग्रहीत अव्यय शब्दों को विकास की दृष्टि से सात वर्गों में बांटा जा सकता है :

१. तत्सम : दूर, निकट, सहित, प्रथमें आदि
२. विकसित : अर्ध तत्० तथा तद्०—अनत, नियर, सरबत्तरि, ध्रिग, जदपि, क्यूं आदि ।
३. सार्वनामिक रूपों से बने : इत, उत, कब, जब, तब, त्यूं आदि ।
४. संज्ञा शब्दों से निर्मित : अंतरि, काछै, कांठै, अहनिसि, बरियां, बेर, ढिग, पाषे, अरथि, जोग, काज, आदि ।
५. विशेषण शब्दों से निर्मित : ऊंचै, दाहिणैं, बावैं, चोषै नीकां आदि ।
६. क्रियापदों से निर्मित : बहुरि, उलटै, छानैं, मानो, समझि समझि आदि ।
७. विदेशी अव्यय शब्द : गिरद, नजीक, पेस, जुदे, अवलि आदि ।

रूप रचना की दृष्टि से इनके तीन वर्ग हैं :

१. प्रत्यय रहित रूप
२. —इ,(—ई), —ए,—ऐ,—ऐं प्रत्यय युक्त रूप ।
३. परसर्ग युक्त रूप ।

इनमें प्रत्यय और परसर्ग वाले रूप इसका संकेत हैं कि इनका विकास भी सविभक्तिक सुबंत रूपों की तरह हुआ है तथा उनसे करण—अधि० का बोध भी कराया जाने लगा । संस्कृत में ही उच्चैः, नीचैः, दूरात्, मध्ये, उपरि आदि अव्यय ऐसे मिलते हैं जो मूलतः सविभक्तिक सुबंत रूप ही थे, घिस-घिसा कर अव्यय रह गए ।

तीसरा अध्याय

शब्द -समूह

३.१. शब्द-समूहगत विभिन्न तत्त्व और उनका प्रतिशत

प्रस्तुत प्रबन्ध का दूसरा खण्ड व्युत्पत्ति कोश है। इसका निर्माण ना० प्र० 'क' प्रति के पाठ के आधार पर, हस्तलेख से मिलान करके, किया गया है। इसकी सम्पूर्ण शब्द संख्या लगभग ५००० है।[1] इसमें नाम प्रातिपदिकों, धातुओं और अव्यय शब्दों के अतिरिक्त रचनात्मक प्रत्ययों और उपसर्गों से बने भिन्नार्थ का द्योतन करने वाले शब्द भी लिए गए हैं। सर्वनामों में मूल के साथ उनके विकारी रूपों की गणना भी की गई है। संज्ञा और विशेषण प्रातिपदिकों के कारक, वचन, लिंग तथा धातुओं के तिङन्त—कृदन्त भेदों को छोड़ दिया गया है (जो शब्द कोश में मूल शब्द—रूट वोकेबुल—के साथ ही दिए गए हैं)।

यह शब्दकोश आठ तत्त्वों से समन्वित है जिनका प्रतिशत निम्नलिखित है :

१. तद्भव	५६.७६
२. अर्धतत्सम	१७.०४
३. तत्सम	७.००
४ ऋण	५.९६
५. देशज	३.९४
६. विदेशी	७.४०
७. अनुकरणात्मक तथा अनुगूँज वाले	१.१६
८. प्रश्नांकित	०.७४

प्रश्नांकित शब्द वे हैं जिनकी कोई व्युत्पत्ति तलाश नहीं की जा सकी है। इनमें कुछ का तो संदर्भ से अर्थ लग जाता है; कुछ अव्याख्यायित ही रहते हैं।

---

१. यह शब्द संख्या मेरी गणना के अनुसार ठीक है। फिर भी साधारण त्रुटि की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। इसमें प्रयोगा-वृत्तियाँ नहीं ली गई हैं।

३.२. तद्भव तथा देशज

तद्भव शब्दों का अनुपात, ऋण, तत्सम और अर्धतत्० शब्दों की सम्मिलित संख्या का अनुपात देखते, इस बात का संकेत है कि कबीर की भाषा लोकमुखी है न कि शास्त्रमुखी । इस तथ्य को अनेक बार दुहराया गया है किन्तु इससे यह भी पता चलता है कि कग्रं की रचना के समय तक तत्०— अर्धतत्० शब्दावली की बाढ़ साहित्यिक भाषा में नहीं आई थी जो कबीर के कुछ ही दिन बाद रचित वैष्णव भक्ति साहित्य में मिलती है । हालाँकि इसमें सन्तों की विशिष्ट काव्य-परम्परा का भी प्रभाव है किन्तु विद्यापति के भक्ति और शृंगारी काव्य में भी कग्रं जैसी ही शब्दावलीगत तद्भव प्रधान स्थिति का मिलना काव्य-भाषा की निश्चित विकास स्थिति का सूचक है । सूर की भाषा से तत्समीकरण की प्रवृत्ति शुरू होती है (सूर का वल्लभ संप्रदाय में दीक्षित होने का समय वि० सं० १५६६ है)[1] और तुलसी की भाषा में इसका पूर्ण विकास मिलता है जहाँ तद्भव और तत्० अर्धतत्० शब्दावली का अनुपात प्रायः उलट गया है (कग्रं—तद्भव तथा देशज ३००० : तत्०— अर्धतत्० ऋण १५००)।

तद्भव शब्दों के उदा० पीछे ध्वनि के प्रसंग में पर्याप्त दिए गए हैं अतएव यहाँ उन्हें देना अनावश्यक होगा। देशज शब्दों के बारे में यह महत्त्वपूर्ण है कि ये मभाआ काल तक आर्य भाषा में मिल गए द्राविड़ और आस्ट्रिक परिवारों के शब्द हैं जिनकी कोई व्युत्पत्ति वैयाकरण नहीं ढूँढ सके हैं। यह अवश्य है कि इनमें से कुछ के प्राभाआ स्रोत का पता चल जाता है। हेमचन्द्र ने देशीनाममाला में जो शब्द दे रखे हैं उनमें अनेक ध्वन्यनुकरणात्मक भी हैं।[2] यहाँ ऐसे कुछ शब्द देशीनाममाला और प्राकृत शब्द महार्णव के आधार पर दिए जा रहे हैं जिनकी व्युत्पत्ति का स्रोत प्राभाआ में मिल जाता है :

उतावला १३।१२।२∠उद्+√ताप्—ल स्वार्थे, कोइला ४।१०।१ कोकिल—आ स्वार्थे, षंघर, १२।८।२∠कंक—र स्वार्थे, चिड़ा ४६।२।२

---

१. दीनदयालु गुप्त : अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, प्रथम भाग, पृ० २१३।

२. चाटुर्ज्या : भा० आ० हिं, पृ० ९९।

∠चटक, झूठ २९६।८∠जुष्ट, डोली ६०।१ ∠दोलिका, √फिर (फिरौं २६।१७।१)∠प्र+√ईर्, मिट (मिटै १८३।६)∠मृष्ट-निष्ठा०।

ऐसे शब्द जिनको उक्त दो आधारों पर देशी स्वीकार किया गया है, कुछ निम्नलिखित हैं—

√अनष (अनषाहीं १६०।८), √अहल (अहला गया ३५।१४।२), ओप ३३५।२, औझड़ ४६।२।२, कालर २५।३।१, कूता ११।४१।१, कोल्हू ३६८।४, षटाइ १७ ६।१, षाडू ३८३।६=मोती, षीचड़ी २२।१२।१, षेह १२।२०।२. √गड़ (गड़ंत २०।१३।१), गुड़िया ६।१।१, चडा १०५.६ =कफ़न, √चाह (चाहूं १६७।५), √झूल (झूलैं १८।१), डागल १२। ५६।१, डूंगर ५५।४।१, ढिबुआ दुप० ८२=पैसा, ढीकू २१४।५, √ढुल (ढुलंता २६६।५), धोषा १२।४६।१, नीका १७८।७, पपीहा ३।२४।२, पाग २६५।३, फलसा ३१५।२=मार्ग, बागड़ ६८।१, बाप ८६।५, बापुड़ा ३३।५ २, बिटिया १३।४, बूटी ३।४०।२, बोझ २३।४।२, भेरा १।२५।२, भोरा ४०२।१, ममां १०२।३=मामा, √माल्ह (माल्हंता ४६।२।१)= मौज करना आदि।

३.३. अर्धतत्०, तत्० तथा ऋण

कग्रं में तद्भव शब्दों के बाद सर्वाधिक संख्या अर्धतत्० शब्दों की है। नभाआ के संदर्भ में इनका इतिहास महत्त्वपूर्ण है। नभाआ का जन्म संस्कृत के वातावरण में हुआ।[1] १२वीं, १३वीं शती के आस-पास से ब्राह्मण चिन्तन का पुनर्प्रसार हुआ जो हर्ष के समय के बाद राजदरबारों में सिमट रहा था, जिसे दर्शन के क्षेत्र में विशिष्टाद्वैत तथा शुद्धाद्वैत और नव्यन्याय के रूप में, साहित्य शास्त्र में नव्य अलंकारवाद तथा जन-जीवन के सामान्य स्तर पर भक्ति भावना में देखा जा सकता है। यद्यपि नभाआ का विकास सीधे मभाआ से हुआ है फिर भी अपने घिसे-पिटे तद्भव शब्द समूह से नए विषयों के प्रतिपादन में दुरूहता के कारण इसे संस्कृत से सीधे अच्छी संख्या में शब्दों को ग्रहण करना पड़ा है। नभाआ की किसी भी भाषा के अन्तर्गत संस्कृत शब्दों का परिमाण उसकी संस्कृति के अनुरूप ही रहा है।

---

१. चाटुर्ज्या : भा० आ० हिं०, पृ० १३६;

अर्थात् उसके लेखकों के संस्कृत अध्ययनानुशीलन के सीधे अनुपात में रहा।[1] इन शब्दों का अनुपात लगभग ५० प्रतिशत तक पाया जाता है। इनमें प्रायः दोनों प्रकार के शब्द हैं: अपरिवर्तित वर्ण-विन्यास वाले तत्० और बदले हुए अर्धतत्०।[2] अर्धतत्० शब्दों के के निर्माण का प्रमुख आधार स्वरभक्ति रही है जबकि तद्भव शब्दों में समीकरण अधिक दिखाई देता है।

चूँकि अर्धतत्० शब्द मभाआ के विकास की पहली अवस्था से ही पाए जाते हैं इसलिए नभाआ के संदर्भ में इन्हें तद्भव ही कहा जाएगा। उदा० के लिए सं० आदर्शिका, हर्ष, वर्ष का मभाआ अर्धतत्० रूप आररिसया, हरिस, वरिस बनता है जिनसे बने नभाआ रूप आरसी, हरस, बरस तद्भव होंगे। अतएव, इनमें इसका ध्यान रखना आवश्यक है कि मभाआ के ये अर्धतत्० शब्द नभाआ के नए बने अर्धतत्० शब्दों में मिलने न पाएँ क्योंकि काव्य-भाषा में लगभग १४वीं-१५वीं शतीसे इनका आगमन शुरू हुआ है जिनकी ध्वन्यात्मक विकासशीलता उक्त मभाआ अर्धतत्० शब्दों से अलग है।

इस समय से प्राप्त अपरिवर्तित वर्ण-विन्यास वाले नवागत संस्कृत शब्द तत्० कोटि के हैं। ध्यान देने से इनकी दो कोटियाँ प्रत्यक्ष होती हैं। एक प्रकार के शब्द ऐसे हैं जिनकी मूल ध्वनि-संघटना इस प्रकृति की थी कि मभाआ में उसी रूप में गृहीत हो सकी। उदा० के लिए अंक अंग, अन्तर, कमल आदि शब्द। ये प्राकृत में भी इसी रूप में मिलते हैं तथा नभाआ में भी इनमें किंचित् भी परिवर्तन नहीं हुआ हैं। अतएव, इन्हें भाषाशास्त्रीय शब्दावली में तत्सम कहा गया है। तत्सम का व्युत्पत्यर्थ भी 'उसी के समान' है। इसी के अनुरूप कग्रं के कोश में तत्० उन्हीं शब्दों को स्वीकार किया गया है जो अविकृत रूप में संस्कृत से चलकर प्राकृत में होते हुए नभाआ तक पहुँचे हैं।

इस प्रसंग में यह महत्त्वपूर्ण है कि प्राकृत वैयाकरणों के अनुसार सार्वत्रिक रूप से संस्कृत 'न्' ध्वनि को 'ण्' कर देने की व्यवस्था मिलती है।[3] फिर भी विद्वानों ने पदादि 'ण्' का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया है। पिशेल, वैद्य,

१. चाटुर्ज्या: भा० आ० हिं, पृ० १३६ २. वही, पृ० १३७;
३. 'नो णः सर्वत्र'—वररुचि, प्राकृतप्रकाश, २।४२

हीरालाल जैन और उपाध्ये प्रभृति विद्वान प्राकृत ग्रंथों के संपादन के सिल-सिले में पदादि 'न्' को 'ण्' करने के पक्ष में रहे हैं जबकि याकोबी, अल्सदोर्फ, शहीदुल्ला आदि इस प्रवृत्ति को कृत्रिम मानकर पदादि 'न्' का संरक्षण स्वीकार करते हैं।[1] इस प्रवृत्ति में उच्चारण सौकर्य का आधार भी स्वीकार किया गया है।[2] इस दृष्टि से कग्रं के अनेक शब्द जिनमें पदादि 'न्' ध्वनि मिलती है तथा अन्य कोई ध्वनिगत परिवर्तन नहीं लक्षित होता उन्हें प्रचलित धारणा के अनुसार सं० न—>प्रा० ण्—>हि० न्—के रूप में तद्भव न मानकर तत्सम स्वीकार किया गया है—नर, निंदा, नीर आदि।

पदादि की ही भाँति स्वरमध्यग 'न्' वाले शब्द भा विचारणीय हैं। वर-रुचि के 'नो णः सर्वत्र' सूत्र के विपरीत इसके स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध हैं कि जैन महाराष्ट्री में पदादि के साथ स्वरमध्यग 'न्', 'न्न' और न्ह्' ध्वनियां पाई जाती हैं। पैशाची में सर्वत्र 'न्' के संरक्षण की बात स्वयं वररुचि कहते हैं।[3] पूर्वी अपभ्रंश में शहीदुल्ला ने स्वरमध्यग 'न्' का अस्तित्व स्वीकार किया है।[4] इसके अतिरिक्त अशोक कालीन शिलालेखीय प्राकृत तथा कुमारपाल प्रतिबोध, सुपार्श्वनाथ चरित, पउम चरिउ, महापुराण, हेम व्याकरण, भविसयत्त कहा आदि प्राकृत—अप० के ग्रन्थों में स्वरमध्यग 'न्' विकल्प से बराबर प्राप्त होता है। इस प्रसंग में प्राकृत के प्रसिद्ध कोश—पाइय सद्द महण्णवो का उल्लेख भी किया जा सकता है जिसमें स्वरमध्यग न् शब्दों में बड़े पैमाने पर मिलता है। ऐसी स्थिति में यह मानना ठीक ही होगा कि जहाँ वैयाकरणों के आदेश से अलग हटकर ध्वनि परिवर्तन के अनेक नियमों में विकल्प मिलता है वहीं सं० 'न्' भी विकल्प से ही प्राकृत में 'ण्' होता होगा। सम्भवतः प्राकृत काल में महाराष्ट्री और शौरसेनी की पछाहीं बोलियों में स्वरमध्यग न्>ण् हो गया होगा जिसके अवशेष पंजाबी, राज० और मराठी में आज भी मिलते हैं किन्तु शौरसेनी की पूर्वी बोलियों में पदादि की ही तरह स्वरमध्यग 'न्' का संरक्षण किया गया होगा जैसा कि ब्रज, कन्नौजी, बुंदेली या अर्ध मागधी प्रसूत भाषाओं से स्पष्ट है जहाँ 'ण्' ध्वनि का सर्वथा अभाव है। अतएव, यह अनु-

१. तगारे, § ४६ (ए); २. प्रा० पैं०, § ५२;
३. 'णो नः'—प्राकृतप्रकाश, १०।५; ४. प्रा० पैं० § ५२ पर उद्धृत।

मान उचित होगा कि साहित्यिक प्राकृत या महाराष्ट्री में तो सर्वत्र 'न्' 'ण्' हो गया है किन्तु ठेठ मध्यदेश (अन्तर्वेद या गंगा उपत्यका) की कथ्य विभाषा ने सभी स्थितियों में 'न्' को सुरक्षित रखा है । इस दृष्टि से कग्रं के अनेक शब्द जिनमें स्वरमध्यग 'न्' ध्वनि मिलती है तथा कोई अन्य ध्वनिगत विकार नहीं हुआ है, पदादि 'न्' वाले शब्दों की ही भाँति तत्सम कोटि में ग्रहण किये गए हैं ।

ऋण शब्द भाषावैज्ञानिक दृष्टि से उन्हें कहा जाएगा जो जिस भाषा में मिलते हैं उसकी ध्वनि संघटना के सर्वथा अननुकूल प्रकृति का संकेत देते हों । नभाआ के संदर्भ में वे शब्द जो सीधे संस्कृत से लिए गए हैं और जिनमें संस्कृत की अघोष और सघोष अल्पप्राण व्यंजन ध्वनियाँ, मूर्धन्य 'ट्' तथा अन्तस्थ य्, र् युक्त संयुक्त व्यंजन ध्वनियाँ, असंयुक्त 'य्' और महाप्राण व्यंजन सुरक्षित हैं, ऋण की कोटि में आते हैं । इनकी ध्वनि संघटना सं० > प्रा० > अप० > नभाआ० के विपरीति मिलती है। नीचे उपरोक्त सभी कोटि के शब्दों के नमूने दिए जा रहे हैं—

अर्धतत्सम : अंतरगति १६८।१, अकलप ६।६।१, अगनित दु० ६८, एकादसी १८३।५, कंद्रप ३४०।१६, कमोदनीं ४४।१।१, कलेस दु० ८६, घृत (=घ्रित) ६३।३, चतुरदस १५५।५, चरचत ६३।५, जरजोवन ३४०।१३, जोति ५।४।१, ततकाल ३४।२।१, तुचा चौ० ७, थापनि २८८।४, दरपन ५४।३, दुवादस ४।८, न्याइ २२।१, पक्यजा ३० ८ (छंदो० दीर्घ), पतालि ७६।५ (—इ अधि०), पितंबर बारह० ४५, पुजारा १६।८, पुन्नि ५।४।२, पुसतक १६।२।१, ब्रिसपति ३६२।१०, भरथरी ३३।६, मिसर १८७।६, रगत २१२।४, रजपूत, १२६।२, सिषर ५।८।२, सुपन ब० अ० १२२, सुम्रित ४६।३ (स्मृति), सेस १६८।२, स्यांम २१६।६ (साम), हरनाकस ३७६।८, हिरदा ४।३।१ ।

तत्सम : पदादि न् : नर १।२०।१, निंदा ५१।३, नीर १४०।३ ।

स्वरमध्यग न् : अंजन २७०।२, अंन ३५।१।४, अनंत २।३०।२, अनिल दु० ८१, अमलिन ३२८।१२, अवनि १७२।७, आसन २।१५।२, कामना ३०६।४, षानि २०।६।१, (खानि) गगन ३२।१, चंदन २८।१।२, जननी १११।१, दामिनी ब० अ० २२, दावानल ब० अ० ६२,

दीन १६।१८।१, नलिनी ६४।१, पवन ५।२७।१, भगवान ३०।८, भिन्न अष्ट० ६६, मान १२।४२।२, मीन ८६।१, हीन ३६८।६ ।

सामान्य शब्द : अंक ५।२५।१, अंचलि २४४।५ (—इ करण), अंघ १४५।५, अटल ३०।१६, आदर १७।८।२, उदर अष्ट० १५, कलंक १६।३०।१, घंटा ५।४७।१, धरणीधरा ३२८।५ (छंदो० दीर्घ०) धीरा ६८।३ (छंदो०), निंदा ५१।३, परम ३६६।२, पारस ३।८ २, मंदिर १२·१७।१, महिमा १।३।१, रंक १२।५।२, रावण ३४०।१२, लीला २०६ ४, समाधि ३५।२, सारंग दु० ११, हलाहल २२.६।२, हिम ५।१७।१ ।

ऋणशब्द : अंधकूप ब० अ० २१, अनाथ ३८४।३, अनादि सत्० १०, अपवाद १९६।२, आतुर ३६३।१, आपदा २१६।७, इंद्र ३५।३, कठोर ५५।७।१, केतकी ३०।११।१, गोपाल १२।१७।२, घात १२ २९।२, चंद्रमा ३४०।४, चंपक अष्ट० ५२, चतुर ८।७, तेज ५।१।१, दीपक १।१२।२, नाभि ३९०।५, निद्रा १५७।१५, परब्रह्म १७०।७, प्रधान ३५९।३, भयानक ३५।१।५, माधव ३७४।१, मेरु दु० ११, लुंचित १३३।४, संध्या २६४।३, स्वामी १७।६।१, हत्या अष्ट० ५५, हस्ती १०।८, हित १६।३ ।

३.४. विदेशी

कग्रं के विदेशी शब्द अरबी, फ़ारसी और तुर्की के हैं। मुसलमानों के आने के साथ भारतीय भाषाएँ इन भाषाओं के शब्दों को आत्मसात करती रही हैं। चाटुर्ज्या ने बताया है कि मभाआ में ही प्राचीन पहलवी के कुछ शब्द आ गए थे जो संस्कृत तक में ग्रहीत हो गए। अशोककालीन प्राकृत का दिपि=निपिस्त, साँची अभिलेख के असवारी, क्षत्रप आदि शब्द ऐसे ही हैं। इसी तरह बंगला सेक्रा, हिन्दी ठाठ, ठाकुर आदि भी ईरानी स्रोत के हैं। पश्तों का पश्तान मभाआ में पठ्ठाण मिलता है जिसका पठान रूप बना।[1] यह प्रवृत्ति आज सात सौ वर्षों से अविच्छिन्न चलती आरही है। पुरानी हिन्दी की रचनाओं में विदेशी

---

१. चाटुर्ज्या : भा० आ० हिं०, पृ० १०१ ।

शब्द प्रयुक्त मिलते हैं। उक्ति० में इनकी संख्या ७ है,[1] वर्णरत्नाकर में ये कुछ अधिक हैं,[2] प्रा० पैं० में भी आधा दर्जन के आस-पास हैं।[3] लेकिन कीर्तिलता में इनकी पर्याप्त संख्या मिलती है।[4] इस दृष्टि से कग्र की विदेशी शब्द संख्या काफी महत्त्वपूर्ण है। मध्यदेशीय काव्य-भाषा में इतनी बड़ी संख्या में विदेशी शब्द पहली बार कग्रं में प्रयुक्त हुए हैं। इसका कारण सूफ़ी और इस्लाम धर्म का प्रभाव है जो कबीर को वंश-परम्परा से प्राप्त हुआ था। किन्तु कग्रं की विदेशी शब्द सूची में पारिभाषिक और धार्मिक शब्दावली थोड़ी ही है। अधिकांश शब्द सामान्य व्यवहार के हैं। जायसी की भाषा (पद्मावत रचना प्रारम्भ सं० १५७७ के लगभग[5]) में प्रयुक्त विदेशी शब्दों के साथ इनकी तुलना करने पर यह स्पष्ट होता है कि कबीर ने उपदेश के लिए रचना की है और ऐसी शब्दावली का प्रयोग किया है जो बृहत्तर क्षेत्र में समझी जा सकती हो। जायसी ने प्रमुख रूप में पारिभाषिक शब्दावली ही प्रयोग की है (यह अखरावट और आखिरीकलाम में काफ़ी अधिक मिलती है, पद्मावत में कम है) जिसका कारण उनकी साम्प्रदायिक प्रयिबद्धता है।

कग्रं में विदेशी शब्द तद्भव और तत्सम दोनों कोटियों के मिलते हैं। परिवर्तित वर्ण-विन्यास वाले विदेशी शब्दों के उदाहरण ध्वनि परिवर्तन के प्रसंग में दिए जा चुके हैं। यहाँ तत्सम शब्दों की एक सूची दी जा रही है :

अरबी : अबीरा ६८।३ (छंदो० दीर्घ०), आदम ६३।३, आलम ३४।३, ईमान ३५५।३, कबीर १।६।२, कुल १२।४५।१, तलब ६२।४, तालिब ३१।४, दावा ३५।१३।२, दीवान ३०।१६, नबी ३३६।५, नूर ४५।१४।२, महल १००।४, मौज १२।३५।२, मौजूद २५८।८, रब ६४।४, रबाब ३।२०।१, रहीम ५८।१, सूम १०५।६, हद ५।११।१, हरम २३८।८, हराम २३७।१ हलाल ३२३ ५, हाल ३०७।७।

फारसी : अंदोह १६।२८।२, आब २३।३।२, गंदा १३३।१, गुंद २५८।६

१. उक्ति०, § ४८; २. वर्णरत्नाकर, § ५६; ३, प्रा० पैं० § १३०;
४ कीर्तिलता, भूमिका पृ० ४३-४५, ना प्र० सभा संस्करण।
५. जायसी ग्रंथावली भूमिका, पृ० ५-६।

(=एकत्र), तीर ४०।६।१, दम २५७।६, दमांमां १२।३।१, दरबार ३४०।५, दस्तगीरी २५७।२, दिल ५।२६।१, दिलदार सूही १, दीदार २।२७।२, दीन ५६।३, दुकान १५३।३, दोस्त २३७।३, नाहर १६०।३, निहाल १८।२।१, पर २९८।२, मियां २३८ ७, मीर १२२।४, मैदान ४५।२।२, लगाम २५।२, लाल १३।११।१, सर ४६।२३।२, सलांम ३३०।३, सारा ४३।११।१, सौदा ४८।३।१, हिंदू ५६।५ ।

३५. ध्वन्यनुकरणात्मक तथा अनुगूंज वाले शब्द

ध्वन्यनुकरणात्मक शब्द वैदिक संस्कृत में बहुत कम हैं, पर प्राकृत और आगे नभाआ में इनकी संख्या बढ़ती गई। लौकिक संस्कृत में इनकी उपस्थिति को विद्वानों ने मभाआ का प्रभाव माना है। मभाआ में ये शब्द कोल, मुण्डा और द्राविड़ भाषाओं से आए हैं।[1] कग्रं के इस कोटि के शब्द नभाआ की निर्मित हैं। प्राचीन परम्परा से आने वाले ध्वन्यनुकरणात्मक शब्द तद्भव कोटि में ग्रहण किए गए हैं जैसे झंकार और निर्झर से बने झंकार और नीझर शब्द ।

अनुगूंज या प्रतिध्वनि शब्द मूल शब्द के थोड़े अंश को दुहरा कर बनाए जाते हैं, जिनका अलग से अर्थ नहीं होता बलिक मूल शब्द के अर्थ में 'इत्यादि' की वृद्धि हो जाती हैं। प्रायः सभी नभाआ भाषाएं अनुगूंज शब्दों का खुलकर व्यबहार करती हैं।[2] इनका ऐतिहासिक सूत्र द्राविड़ और आस्ट्रिक भाषाओं से जोड़ा जाता हैं।[3]

अनुकरणात्मक : किलकिल २०।७, षड़ाउ ५०।१।२, गलबल ३७।५।२ =शोर, चींसा ३६५।३, च्यौं च्यौं १०६।२, √जगमग (जगमगै ५।४।१), √झबूक (झबूकती ४६।१७।१), टगटग ४६।७।१, तकती २१७।१, √तरिप (तरिपै ब० अ० ३३), तालावेली ११६ ७, तोतो १७।१२।१, थरहर थरहर ३६०।३, दुड़बड़ी १२ ३३।२, √बबक (बबकि २८ १२।२), √भौंक (भौंकत २२१।४), महमही ५।१४।२, साटी ३६५।४=छड़ी, हेला अष्ट० ४६ ।

---

१. चाटुर्ज्या : भा० आ० हिं०, पृ० ९९; २. तिवारी : हिं० भा० उ० वि०, पृ० ३६६, ३. चाटुर्ज्या : भा० आ० हिं०, पृ० ९९ ।

अनुगूंज वाले : आल जाल ३१९।३, आसि पासि ७६।११, आधा प्रधा (=परधा) १२।१५।२, उरझि पुरझि १७।१०।२, लरके परके २०।३, हिल मिल ५९।१।२ ।

३.६. प्रश्नांकित शब्द

ये शब्द संख्या में ३७ हैं । इनकी व्युत्पत्ति नहीं तलाशी जा सकी है । इन में लगभग आधे शब्दों का अर्थ भी स्पष्ट नहीं होता :

केवल व्युत्पत्ति रहित : अचांनक ९७।६, अरवा ५०।४=लिवाने से, करकस १९३.५=कैसे, तुल० अव० ककस, करौती चौ० १८= चमड़ा या उससे बनी कोई वस्तु, कांणि १६।८।२, कांनि ३४४।८, कारी २८५।३=हिक्‌मत, गली १२।१।२, गहर १०७।१, गुहारि ३८५।१, गौहन ३।३११।१, छंछरै ३५।१।५, टहल २१६।३, टापा १२।२४।२,=धोखा, टीडरि १९७।६=माला, डाव ४५।३०।१, दांव १।३२।२, दुहाई ७४।१ ।

व्युत्पत्ति और अर्थरहित : आमन ३०२।२, ईत २५८।३: उभेषे १६१।१, कुदर २९९।१० (आदर का व्यत्यय ?), घारे १२।१, गवसियां ७७।४, गिलारि ३७९।९, गूडर ९६।८, तिवास ३७।२।२, दरहाल २५८।१, दरीबल १७७।८ परहड़ी २२।५, पहजन १९३।४, पहनाम २५८।४, बिलनीं दुप० १३, वेठि १९३।६, भ्रिग १७२।३, मनिका दुप० ६, हुसकां २५८।३ ।

सहायक साहित्य

अ. संपादित्त पाठ

१. कबीर-ग्रंथावली—श्यामसुंदर दास, ना० प्र० सभा, काशी, प्रथम संस्करण, १९२८।

२. कबीर-ग्रंथावली—पारसनाथ तिवारी, प्रयाग विश्वविद्यालय, १९६१।

३. कबीर-ग्रंथावली—माताप्रसाद गुप्त, लोकभारती, इलाहाबाद, १९६९।

४. बीजक—विचारदास शास्त्री, रामनरायण लाल, इलाहाबाद, तीसरी-बार १९५४।

आ. भाषाशास्त्र और समीक्षा-ग्रंथ

१ आटो येस्पर्सन : फ़िलासफ़ी आफ़ ग्रैमर, लन्दन, १९३५।

२. आर० पिशेल : प्राकृत स्प्राखेन, अनु० सुभद्रा झा (अंग्रेजी), १९५७ तथा अनु० हेमचन्द्र जोशी (हिन्दी), पटना।

३. उदयनरायण तिवारी : हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, प्रयाग, सं० २०१२।
भोजपुरी भाषा और साहित्य, पटना, १९५४।

४. एम० जी० पाँसे : लिंग्विस्टिक पिक्यूलर्टीज़ आफ़ ज्ञानेश्वरी, पूना, १९५३।

५. एल० पी० तेस्सितोरी : पुरानी पश्चिमी राजस्थानी, अनु० नामवर सिंह, काशी, २०१२।

६. कामताप्रसाद गुरु : हिन्दी व्याकरण, काशी, २०१७।

७. किशोरीदास वाजपेयी : हिन्दी शब्दानुशासन, काशी, २०१४।

८. केलाग : ए ग्रैमर आफ़ हिन्दी लैंग्वेज, लन्दन, १९५५।

९. गोविन्द त्रिगुणायत : कबीर की विचार धारा, २००९।

१०. जान बीम्स : ए कम्परेटिव ग्रैमर आफ़ माडर्न आर्यन लैंग्वेजज़ आफ़ इण्डिया, लंदन, १८७५।

११. जी० वी० तगारे : हिस्टारिकल ग्रैमर आफ़ अपभ्रंश, पूना, १९४८।

१२. जे० वान्द्रे : लैंग्वेज, लंदन, १९५२।
१३. देवकीनन्दन श्रीवास्तव : गोस्वामी तुलसीदास की भाषा, लखनऊ।
१४. धर्मवीर भारती : सिद्ध साहित्य, इलाहाबाद, १९५५।
१५. धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी भाषा का इतिहास, इलाहाबाद, १९५३; ब्रजभाषा, प्रयाग, १९५४।
१६. नामवरसिंह : पृथ्वीराज रासो की भाषा, काशी, १९६६; हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, इलाहाबाद।
१७. परशुराम चतुर्वेदी : कबीर साहित्य की परख, सं० २०११; उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, प्रयाग, २००८।
१८. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल : हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, लखनऊ, १९९३; गोरखबानी, प्रयाग, २००३।
१९. पुरुषोत्तम श्रीवास्तव : कबीर साहित्य का अध्ययन, २००८।
२०. प्रेमनरायण टण्डन : सूर की भाषा, लखनऊ, १९५७।
२१. बाबूराम सक्सेना : इवाल्यूशन आफ़ अवधी, इलाहाबाद, १९३८; दक्खिनी हिन्दी, इलाहाबाद, १९५२।
२२. भोलाशंकर व्यास : प्राकृतपैंगलम् (भाग २), वाराणसी, १९५९; संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन, काशी, १९६०।
२३. रामकुमार वर्मा : सन्तकबीर, १९५७;
कबीर का रहस्यवाद. सं० १९८८;
हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, इलाहाबाद, १९५८।
२४. रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, काशी, २००९; जायसी-ग्रंथावली, भूमिका. काशी, २००६।
२५. शिवप्रसाद सिंह : सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, काशी, १९६४।
२६. श्रीराम शर्मा : दक्खिनी हिन्दी का उद्भव और विकास, प्रयाग, १९६४।
२७. सुनीत कुमार चाटुर्ज्या : ओरिजिन एण्ड डेवलेपमेंट आफ बेंगाली लैंग्वेज, (भाग १ तथा २), कलकत्ता, १९२६;

भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, (अनु०), दिल्ली १९५४;
उक्ति व्यक्ति प्रकरण (स्टडी), बम्बई १९५३;
वर्णरत्नाकर (इंट्रोडेक्शन), १९४० ।

२८. सूर्यकरण पारीक तथा अन्य : ढोला मारू रा दूहा, काशी, २०११

२९. हजारी प्रसाद द्विवेदी : कबीर, बम्बई, १९५५;
नाथ सम्प्रदाय, इलाहाबाद १९५०;
नाथ-सिद्धों की बानियाँ, काशी, २०१४ ।

३०. हरिवल्लभ भयाणी : संदेश रासक (स्टडी), बम्बई, १९४५ ।

३१. हार्नली : ए कम्परेटिव ग्रैमर आफ़ गौडियन लैंग्वेजेज़, लंदन, १८८० ।

इ. कोश तथा पत्रिका

१. मुस्तफ़ा खाँ 'मद्दाह' : उर्दू-हिन्दी कोश, लखनऊ ।

२. मेरियो ए० पई : डिक्शनरी आफ़ लिंग्विस्टिक्स, न्यूयार्क, १९५४ ।

३. रामचन्द्र वर्मा : संक्षिप्त हिन्दी शब्द-सागर, काशी, २०१४ ।

४. वामन शिवराम आप्टे : संस्कृत इंगिलश डिक्शनरी, पूना ।

५. हरगोविन्द शेठ : पाइअ सद्द महण्णवो, कलकत्ता, १९२३ ।

६. हिन्दुस्तानी, भाग २, अंक २, इलाहाबाद ।